# पुरातत्त्व-निबन्धावली

लेखक

राहुल सांकृत्यायन

प्रकाशक

कि ता ब म ह ल

इलाहाबाद, दिल्ली, बम्बई

१९५८

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए जीरो रोड, इलाहाबाद।

मुद्रक—महावीर प्रसाद, प्रेम प्रेस, कटरा, इलाहाबाद।

प्रथम संस्करण

# निवेदन

पुरातत्त्व-निबन्धावली पाठकोंके सम्मुख उपस्थित की जा रही है। ये निबन्ध भिन्न भिन्न समयपर भिन्न भिन्न पत्रोंमें निकले थे। कई जगहोंपर फिरसे लिखनेकी आवश्यकता थी, लेकिन वैसा करनेके लिए पुस्तकके प्रकाशनको एक अनिश्चित कालके लिये रोक रखना पड़ता, जो कि मेरे कई दोस्तोंको पसन्द नहीं होता। जल्दी जल्दी में जितना हो सका है, प्रूफको मैंने एक बार देख लिया है। पुरातत्त्वके अध्ययनके लिय मानवविकास का ज्ञान आवश्यक है। मैंने इस सम्बन्धमें "साम्य-वाद ही क्यों" की भूमिकामें लिख दिया है, इसलिये उसे यहाँ नहीं दुहराया गया। परिशिष्ट (१) के लिये मैं रायबहादुर बा० दुर्गाप्रसाद (बनारस) का विशेष आभारी हूँ। त्रुटियों के लिये क्षमाप्रार्थी--

पटना

राहुल सांकृत्यायन

द्वितीय संस्करण

पुस्तक बहुत सालों पहिले खतम हो गई थी। इस संस्करणमें कुछ संशोधन परिवर्धन किये गये हैं।

मसूरी
२१-३-५८

राहुल सांकृत्यायन

# विषय-सूची

# पुरातत्त्व-निबन्धावली

## भूमिका

## १. पुरातत्त्व

### १—पुरातत्त्वका महत्त्व

हिन्दीमें पुरातत्त्व-साहित्यकी बड़ी आवश्यकता है। भारतके सच्चे इतिहासके निर्माणमें "पुरातत्त्व" की सामग्री अत्यन्त उपयोगी है, और, खुदाई आदिके द्वारा अभी तक जो कुछ किया गया है, वह दालमें नमकके बराबर है। जब हम यूरोपके सभ्य देशोंके कार्यसे तुलना करते हैं, तब उसे बहुत अल्प पाते हैं। काशीकी नागरी-प्रचारिणी-सभाने हिन्दीकी खोजकी रिपोर्टें तथा 'प्राचीन मुद्रा' छापी; और, उसकी पत्रिकाके योग्य सम्पादक श्रद्धेय ओझाजीने भी हिन्दीमें इस ओर बहुत कार्य किया है। ओझा जी हिन्दीमें इस विषयके युगप्रवर्तक होनेसे चिरस्मरणीय रहेंगे।

इतिहासकी सबसे ठोस सामग्री पुरातत्त्व-सामग्री है; और, उस सामग्रीसे भारतकी कोई जगह शून्य नहीं है। गाँवोंके पुराने डीहों पर फेंके मिट्टीके बर्तनोंके चित्र-विचित्र टुकड़े भी हमें इतिहासकी कभी-कभी बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातें बतलाते हैं; लेकिन उन्हें समझनेकेलिये हमारे पास वैसे श्रोत्र और नेत्र होने चाहियें।

### २—सर्वसाधारणके जानने योग्य कुछ बातें

वैसे तो बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें एक पुरातत्त्व-प्रेमी और पुरातत्त्व-गवेषकको जानना चाहिये; किन्तु यहाँ कुछ ऐसी बातें गिना दी जाती हैं, जिनको साधारण पाठक भी यदि ध्यानमें रखें, और अपने आसपास की सामग्रियोंके रक्षण और परीक्षणका ख्याल करें, तो बहुत फायदा हो सकता है—

(१) शिला, ताम्रखण्ड और भग्न मूर्तियों तथा दूसरी चीजोंपरके लेखोंको जहाँ कहीं भी देखें, उन्हें प्राचीन लिपियोंसे यदि मिलावें, तो उससे कालका ज्ञान

हो सकता है। यह ख्याल रखें कि, पुरातत्त्वविद् न सर्वज्ञ हैं और न वह भारतमें सब जगह पहुँच ही सके हैं, इसलिये आपके गाँवके डीह या महादेव-स्थान पर ढेर की हुई खण्डित मूर्तियोंके टुकड़ोंमें भी कभी कोई हीरा निकल आ सकता है।

(२) अपने आसपासकी पहाड़ियोंके पत्थरोंसे भिन्न यदि किसी दूसरे रंगके पत्थरकी मूर्ति मिले, तो वह कभी-कभी और भी महत्वपूर्ण सूचना देनेवाली हो सकती है। मूर्तियोंमें अक्सर आसन (पीठिका) के नीचे या प्रभा-मण्डल (सिरके चारों ओरके घेरे) या पीठपर लेख खुदे होते हैं।

(३) ईंटोंकी लम्बाईपर अलग लेख है। जितनीही असाधारण लम्बाई-की ईंटें मिलें, उतनीही उन्हें उस स्थानकी प्राचीनताको बतलाने वाली समझना चाहिये। भरसक अखण्ड ईंट खोज निकालने और उसकी नाप लेनेकी कोशिश करनी चाहिये। बहुत छोटी ईंटें (लाहोरी या लाखोरी) पिछले मुसलिम कालकी हैं। विचित्र आकार-प्रकारके खपड़े, कुएँ बाँधनेकी चन्द्राकार पटियाँ आदि भी कभी-कभी बहुत उपयोगी होती हैं।

(४) मकानकी नींव, कुआँ या तालाब खोदनेमें कोई चीज मिले, तो उसकी गहराईको नापकर चीजके साथ नोट कर लीजिये। यह गहराई काल-प्रमाणकी एक बहुत ही उपयोगी कड़ी है। इसी तरह जो चीज जिस गाँवके जिस स्थानपर मिले, उसे भी नोट कर लेना चाहिये। स्मरण रहे, "स्थानहीना न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः" की उक्ति यहाँ भी घटित है।

(५) कहीं-कहीं गाँवोंमें पीपलके नीचे या किसी टूटे-फूटे देवस्थानमें पत्थरके लम्बे-चिकने टुकड़े मिलते हैं। उनमें कभी-कभी दस-बारह हजार वर्ष पूर्वके, हमारे पूर्वजोंके, हथियारभी सम्मिलित रहते हैं। यदि वह संगखारे या चकमक जैसे कड़े पत्थरके तथा नोकीले और तेज धारवाले हों, तो निश्चय ही समझिये कि, वे वही अस्त्र हैं, जिनसे हमारे पूर्वज शिकार आदि किया करते थे।

(६) कुएँ आदि खोदनेमें धरती के बहुत नीचे कभी-कभी मनुष्यकी खोपड़ियाँ या हड्डियाँ मिल जाती हैं। हो सकता है वह कई हजार वर्षोंकी पुरानी, किसी लुप्त जातिके मनुष्यकी हों। इसलिये उनकी छानबीन करनी चाहिये और यदि आकृति असाधारण तथा हड्डियाँ बहुत पुरानी या पथराई जैसी मालूम हों, तो उनकी रक्षा करनी चाहिये या किसी विशेषज्ञसे दिखाना चाहिय। बहुत

नीचे मिले मिट्टी के बर्तनोंके बारेमें भी यही समझना चाहिये। ताँबे या पीतलकी तलवार या छुरा, यदि कहीं मिल जाय, तो उसे धातुके भाव बेच न डालना चाहिये। हो सकता है, वह ५–६ हजार वर्षों पुरानी चीज हो; और, कोई संग्राहलय उसे धातुसे कई गुने दामपर खरीद ले।

(७) **पुराणस्थान**—(क) मिट्टीसे भठे तथा दब गये भीटोंवाले जहाँ तालाब हों, (ख) जहाँ आसपास पुराने देवस्थानों या पीपलके वृक्षोंके नीचे टूटी-फूटी मूर्तियाँ अधिक मिलती हों, (ग) जहाँ खेत जोतते या मिट्टी खोदते वक्त पुराने कुएँ या ईंटों की दीवारें आदि निकल आती हों, (घ) जहाँ बरसातमें मिट्टीके घुल जानेपर ताँबा आदिके पैसे तथा दूसरी चीजें मिलती हों, (चौकोर और मूर्तिवाले सिक्के अधिक पुराने होते हैं; और, पानेवाले को उनका, कई गुना अधिक दाम मिल सकता है); ऐसे स्थान पुरातत्त्वकेलिए अधिक उपयोगी होते हैं। गढ़ या ऊँची जगहसे भी प्राचीनता मालूम होती है; किन्तु हजार वर्ष पूर्वसे जहाँ बस्ती फिर नहीं बसी, वहाँकी जमीन बहुत ऊँची नहीं हो पाती।

(८) गाँवमें, साधारण लोगोंमें, यह भ्रम फैला हुआ है कि, सरकार जहाँ-कहीं खुदाई करती है, वह किसी खजानेके लिये। उन्हें समझना चाहिये कि, पुरातत्त्वकी खुदाईमें सरकारने जितना खर्च किया है, यदि खुदाईमें निकले हुए सोने-चाँदीके दामसे मुकाबिला किया जाय, तो उसका शतांश भी न होगा। फिरभी सोने-चाँदी या कीमती पत्थरकी जो कोई चीज मिलती है, उसे सरकार न गलाती है, न बेचती है। वह तो भिन्न-भिन्न संग्रहालयोंमें, इतिहासके विद्वानों और प्रेमियोंके देखने और जाननेकेलिये, रख दी जाती है। यदि गाँवमें इस तरहके सिक्के आदि किसीको मिलें, तो उसे वह गलाकर या तोड़-फोड़ करके खराब न कर दे। सम्भव है उससे उसकी अपनी जातिका कोई सुन्दर इतिहास मालूम किया जा सके। बहुतसे भूले वंशों के परिचय और गौरव स्थापन करनेमें इन चीजोंने बहुत सहायता की है। सम्भव है, ऐसी चीजको गलाने या तोड़नेवाला अपने पूर्वपुरुषोंकी कीर्ति और इतिहासको अपनी इस क्रिया द्वारा गला और तोड़ रहा हो!

## ३—पुरातत्त्व और पाश्चात्य विद्वान्

पुरातत्त्वके विषयमें पाश्चात्य विद्वान् कितने उत्सुक हैं, इसका एक उदाहरण लीजिये। कोई बीस महीने हुए, काश्मीर-राज्य के गिलगित स्थानमें,

१२–१३ सौ वर्ष पुराने अक्षरोंमें, भोजपत्रपर लिखे, बहुतसे संस्कृत-ग्रंथोंका एक ढेर मिल गया। भारतके कितनेही विद्वान् तो उसके महत्वको उतना नहीं समझे; किन्तु उसके बारेमें सचित्र सुन्दर विवरण फ्रांसके आचार्य सिल्वेन् लेवीने प्रकाशित कराया। उनके पास कुछ पन्ने पहुँच गये थे, जिनके पाठको, उन्होंने, उसमें छापा भी है। वह और उनके सहकारी डा० फुशे आदि उन हस्तलिखित ग्रंन्थोंके बारेमें इतने उत्सुक हुए कि, उन्होंने कई बार काश्मीर-राज्यके अधिकारियोंके पास पत्र भेजे। वे व्यग्र रहे कि, कहीं असावधानीसे वह सामग्री नष्ट या लुप्त न हो जाय! जब मैं १९३२ ई० के नवम्बरमें पेरिसमें था, तब उन्हें काश्मीरसे पत्र मिला था, जिसमें लिखा था कि, हस्तलेखों का निरूपण ( *decipher* ) किया जा रहा है! कहाँ वह आशा रखते थे कि, इन अठारह महीनोंमें उन पुस्तकों के नाम आदिके विषयमें कोई विस्तृत विवरण मिलेगा और कहाँ पत्र जा रहा है कि, गुप्त-लिपिमें लिखे ग्रन्थोंका निरूपण किया जा रहा है! यदि ग्रन्थोंका प्रकाशन या विवरण तैयार न करके अठारह महीने सिर्फ निरूपणमें ही लग जाते हैं, तो कब उन्हें विद्वानोंके सामने आनेका मौका मिलेगा! आचार्य लेवीने कहा था, पूरे अठारह महीने हो गये, ऐसा अद्भुत ग्रन्थ-समुदाय भारतमें मिला है, जिसे लोग केवल चीनी और तिब्बती अनुवादोंसे ही जान सकते थे; परन्तु उसके बारेमें भारतमें इस तरहका आलस्य है, यह भारतकेलिये लज्जाकी बात है!

भारतीय पुरातत्त्वके साहित्यके बारेमें यदि आप पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, तो उसे आप हालैंड-निवासी डा० फोगल और उनके सहयोगियोंके परिश्रमसे निकलने वाली वार्षिक पुस्तक *"The Annual Bibliography of Indian Archaeology"* से जान सकते हैं।

### ४—पुरातत्त्वोत्खननके लिये सेवक-दलकी आवश्यकता

पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज और खननका सारा भार हम सरकारपर ही नहीं छोड़ सकते। सभी सभ्य देशोंमें गैरसरकारी लोगोंने इस विषयमें बहुत काम किया है। अर्थ-कृच्छ्रताके कारण गवर्नमेंटने पुरातत्त्वविभागके खर्चको बहुत कम कर दिया है। भारत सरकारके शिक्षा-सदस्यके भाषणसे यह भी मालूम हुआ कि, सरकार विदेशी विश्वविद्यालयों तथा दूसरी विश्वसनीय संस्थाओंको भारतमें पुरातत्त्वसम्बन्धी उत्खननकेलिये अनुमति दे देगी। ऐसा करनेसे निश्चयही

भारतके इतिहासकी बहुतसी बहुमूल्य सामग्रीको—जो आगे खुदाईमें निकलेगी—वह संस्थाएँ भारतसे बाहर ले जायँगी। यद्यपि संस्थाओं के प्रामाणिक होने पर, सामग्रियोंका भारतसे बाहर जाना—जहाँ तक विज्ञानका सम्बन्ध है—हानिकर नहीं है; किन्तु यह भारतीयोंके लिये शोभा नहीं देता। साथ ही यह भी तो उचित नहीं कि हम चीजोंके बाहर चले जानेके डरसे न दूसरोंको खोदने दें और न आप ही इस विषयमें कुछ करें। अस्तु। धनियोंको चाहिये कि, पर्याप्त धन देकर किसी विश्वविद्यालय संग्रहालय द्वारा खुदाई करावें।

हमारा देश गरीब है। बहुतसे आदमी होंगे, जो पुरातत्त्वके सम्बन्धमें कुछ कार्य करना चाहते हैं; किन्तु उनके पास धन नहीं। ऐसे समझदार पुरातत्त्व-प्रेमी भी एक प्रकारसे उत्खननमें सहायता कर सकते हैं। आवश्यकता है, प्रत्येक प्रान्तमें ऐसे उत्साही लोगोंका एक पुरातत्त्व-सेवा-दल कायम करनेकी। दलमें कालेजोंके छात्र और प्रोफेसर तथा इस विषयमें उत्साह रखनेवाले दूसरे शिक्षित सज्जन सम्मिलित हों। सेवादलके सदस्य सालमें कुछ सप्ताह या मास जानकार नेताओंके नेतृत्वमें अपने हाथों खननका काम करें। निकली चीजोंको प्रान्तके संग्रहालय या अन्य किसी सार्वजनिक सुरक्षित स्थानमें रखा जाय। वस्तुओंकी सुरक्षा और नेताके अभिज्ञ होनेका विश्वास हो जाय, तो सरकारभी इस काममें बाधक नहीं होगी और जहाँ तक होगा, उसमें वह सहूलियत पैदा करेगी।

---

१ प्रयाग विश्वविद्यालयने कौशांबीकी खुदाई करके वहाँ घोषितराम सम्बन्धी प्राचीन ब्राह्मी अभिलेख पाया। एन० सी० सी० के जवान इस काम को कर सकते हैं।

# २. काल-निर्णयमें ईंट और गहराई

इतिहासका विषय भूत-काल है; इसलिये उसे हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। किन्तु जिस प्रकार वर्तमान वस्तुओंके लिये प्रत्यक्ष बहुतही जबर्दस्त प्रमाण है, उसी प्रकार भूत वस्तुओंकेलिये जबर्दस्त प्रमाण उस समयकी वस्तुएँ हैं। वस्तुएँ अपने समयके लिये प्रत्यक्षदर्शी और सत्यवादी साक्षी हैं। पोथी-पत्रोंमें तो मनुष्य भूलकर सकता या स्वार्थवश हर नई लिखाईमें घटा-बढ़ा सकता है; किन्तु रमपुरवा (चम्पारन)के स्तम्भ-लेखमें एक भी अक्षरका, अशोकके बाद, मिलाया जाना संभव नहीं है। सारनाथमें ई० पू० प्रथम या द्वितीय शताब्दीमें, जिस बौद्ध-सम्प्रदायकी प्रधानता थी, वहाँ उस समयकी लिपिमें उसके नामके साथ एक लेख खुदा हुआ था। उसके चार-पाँच सौ वर्ष बाद (ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दी में) दूसरा सम्प्रदाय अधिकारारूढ़ हुआ। इसने उसी लेखमें, नामवाला भाग छिलवाकर, अपना नाम जुड़वा दिया। ऐसेभी भिन्न-भिन्न हाथोंके अक्षर एक दूसरेसे पृथक् होते हैं; और, यहाँ तो पाँच शताब्दियों बाद अक्षरोंमें भारी परिवर्तन हो गया था, इसलिए यह जाल साफ मालूम हो जाता है; और, "आचार्याणां सर्वास्तिवादिनं परिग्रहे" वाला छोटा लेख बतला देता है कि, सारनाथका धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार ई० पू० प्रथम शताब्दीसे पूर्व, किसी दूसरे सम्प्रदायके हाथमें था; और, ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दीमें सर्वास्तिवादके हाथमें चला गया। इस तरह इस प्रमाणकी मजबूतीको आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। सातवीं शताब्दीके चीनी भिक्षु युन्-च्वेङ अपने समयमें वहाँ साम्मितीय निकायकी प्रधानता पाते हैं। युन्-च्वेङका ग्रन्थ १२ शताब्दियों तक भारतसे दूर पड़ा रहा; इसलिये जान-बूझकर, मिलावट कम होनेसे, अपने समयके लिये उसकी प्रामाणिकता बहुत ही बढ़ जाती है। किन्तु मान लीजिये युन्-च्वेङ अपने ग्रन्थमें लिखदें कि, सारनाथका धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार अशोकके समयसे आजतक साम्मितीयोंके हाथमें है, तो उक्त लेखके सामने इस बातकी प्रामाणिकता कुछभी नहीं रह सकती। इस तरह समसामयिक सामग्री पीछे रचित और लिखित ग्रन्थोंसे बहुत अधिक प्रामाणिक है। हाँ, जैसा

कि, मैंने ऊपर कहा है, वहाँ हमें उनकी समसामयिकताको सिद्ध करना होगा। समसामयिकता सिद्ध करनेकेलिए निम्न बातें सबसे अधिक प्रामाणिक हैं--(१) स्वयं लेखमें दिया संवत् और नाम,(२)लिपिका आकार,(३)गहराई,(४)प्राप्त वस्तुके आसपास मिली ईंटें और अन्य वस्तुएँ।

पहली बात तो सर्वमान्य है ही; लेकिन ऐसा संवत्-काल लिखनका रवाज गुप्तोंके ही समयसे मिलता है। आन्ध्रों, कुषाणों, मौर्योंके लेखोंमें तो राजा के अभिषेकका संवत् दिया रहता है; जिससे उनका काल-निर्णय कठिन है। बहुतसे लेखोंमें तो काल भी नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें, अक्षरोंको देखकर, उनसे काल-निश्चय किया जाता है। यद्यपि इसमें एकाध शताब्दियोंके अन्तर होनेकी सम्भावना है। किन्तु जो सामग्री सबसे प्रचुर परिमाणमें मिलती है और मनुष्य-जीवनके सभी अंगों पर प्रकाश डालती है, वह अक्षरांकित भी नहीं होती। इसी सामग्रीकी समसामयिकताको सिद्ध करनेके लिए तीसरे और चौथे प्रमाणोंकी आवश्यकता होती है।

ऐतिहासिक सामग्रियोंमें प्रत्यक्षदर्शी लेखका, अपनी जबान खोलकर सन्-संवत्के साथ घटनाओंका वर्णन करना, ऐतिहासिक प्रत्यक्ष है। किन्तु जब वह अंक या आकारसे अपने काल मात्रको बतलाता है, तबभी वह अपने साथके बर्तन, दीवार, जेवर, मूर्ति आदिके बारेमें इतनी गवाही दे ही जाता है कि, इतने समयतक हमसब साथ रहे हैं। उस समयकी सभ्यता आदि सम्बन्धी बातें तो अब आपको उनकी मूक भाषासे मालूम करनी होंगी। हाँ, यहाँ यह भी हो सकता है कि, भिन्न कालमें बनी वस्तुएँ और लेख पीछे वहाँ इकट्ठे कर दिये गये हों; किन्तु वह तो तभी हो सकता है, जब कि संग्रहालय (म्यूजियम) की तरह वहाँ भी इकट्ठा करनेका कोई मतलब हो। लेखोंके साथ कुछ और चीजें भी सभी जगह मिला करती हैं; और, यह भी देखा गया है कि, कालके अनुसार इनके आकार-प्रकारमें भेद होता रहता है। इसीलिये इन्हेंभी काल-निर्णयमें प्रमाण माना जाता है।

दीहातमें भी लोग कहा करते हैं कि, "धरती माता प्रतिवर्ष जौ-भर मोटी होती जाती हैं!" यह बात सत्य है; लेकिन इतने संशोधनके साथ—'सभी जगह नहीं, और मोटाईका ऐसा नियत मान भी नहीं।' भारत में मोहन्-जोदड़ो वह स्थान है, जहाँ आज से चार-पाँच हजार वर्ष की पुरानी वस्तुएँ

मिली हैं। लेकिन वहाँ आप, इन सब चीजोंको, वर्तमान तलसे भी ऊपर, टीलोंपर पाते हैं। हड़प्पामें भी करीब-करीब वही बात है। हाँ, इस तरहके अपवादोंके साथ पृथ्वीके मोटे होनेका नियम उत्तर भारतमें लागू है। पृथ्वी कितनी मोटी होती जाती है, इसका कोई पक्का नाप-नियम नहीं है। इसके लिए कुछ जगहोंकी खोदाईमें मिले भिन्न-भिन्न तलोंकी सूची दी जाती है—

| काल | गहराई (फुट) | स्थान |
|---|---|---|
| ई० पू० ८वीं शताब्दी | २१,२० | [1]भीटा (इलाहाबाद) |
| ,, चौथी-पाँचवीं ,, | १७ | ,, |
| मौर्य-काल | | |
| (ई० पू० तृतीय शतक) | १६ | ,, |
| ,, | १५ | पटना |
| ,, | १३ | रमपुरवा (चम्पारन) |
| ,, | गुप्त + ६, ९½ | सारनाथ (बनारस) |
| कुषाण-काल | | |
| (ई० पू० प्र० श०) | १३ | भीटा (इलाहाबाद) |
| ,, (ई० चतुर्थ-षष्ठ श०) | १०-६ | कसया (गोरखपुर) |
| ,, | १० | ,, |
| कुषाण-काल | १० | बसाढ़ (मुजफ्फरपुर) |
| ,, | ९ | भीटा (इलाहाबाद) |
| ,, | ८ | ,, |
| | ७ | पटना |

गहराईकी भाँति ईंटें भी काल-निर्णयमें बहुत सहायक होती हैं; क्योंकि देखा जाता है कि, जितनीही ईंटें बड़ी होती हैं, उतनीही अधिक पुरानी होती हैं। यद्यपि यह नियम सामान्यतः सर्वत्र लागू है, तो भी कहीं-कहीं इसके

१ भीटाका पुराना नाम सहजाती था। वहाँकी खुदाईमें एक मुहर भी मिली है, जिसमें "शहजतिये निगमश" (सहजातीके वणिक्-संघका) लिखा है—दे० "बुद्धचर्या"।

अपवाद मिलते हैं। गुप्त-कालकी भी ईंटें कभी-कभी मौर्य-कालकी-सी मिली हैं; किन्तु उनमें वह ठोसपन नहीं हैं। (जैसे-जैसे जंगल कटते गये, वैसेही वैसे लोग लकड़ीकी किफायत करने लगे; और, इसीलिये, ईंधनकी कमीके लिये ईंटोंकी मोटाई आदिको कम करने लगे।) मोहन्जोदड़ो और हड़प्पा सर्वथा ही इसके अपवाद हैं। वहाँकी ईंटें तो आज-कलकी अंग्रेजी ईंटों जैसी लम्बी— किन्तु, कम मोटी हैं। नीचेकी सूचीसे भिन्न-भिन्न कालकी ईंटोंका कुछ अनुमान हो सकेगा—

| काल | आकार (इंच) | स्थान |
|---|---|---|
| ई० पू० चतुर्थ श० | १६ × १०$\frac{१}{२}$ × ३ | पिपरहवा (बस्ती) |
| ,, | १५ × १० × ३ | ,, |
| मौर्य-काल | | |
| (ई० पू० तृतीय श०) | २० × १४$\frac{१}{३}$ × ३$\frac{१}{४}$ | भीटी (बहराइच) |
| ,, | १९$\frac{१}{२}$ × १२$\frac{१}{२}$ × ३$\frac{१}{२}$ | सारनाथ (बनारस) |
| ,, | १९ × १० × ३ | कसया (गोरखपुर) |
| ,, | १८ × १० × २$\frac{३}{४}$ | ,, |
| [1]कुषाणों से पूर्व | १७$\frac{१}{२}$ × १०$\frac{३}{४}$ × २$\frac{१}{२}$ | भीटा (इलाहाबाद) |
| ,, | १४ × १०$\frac{१}{४}$ × २$\frac{१}{४}$ | सहेटमहेट (गोंडा) |
| ,, | १४ × १० × २ | ,, |
| ,, | १४ × ९ × २ | ,, |
| कुषाण | १५ × १०$\frac{१}{३}$ × २$\frac{३}{४}$ | सारनाथ (बनारस) |
| गुप्त | १४ × ८ × २$\frac{१}{२}$ | सहेटमहेट (गोंडा) |
| ,, | १२ × ९ × २ | ,, |
| ईस्वी छठी-सातवीं सदी | १२$\frac{१}{२}$ × ८$\frac{१}{२}$ × २ | ,, |
| ई० सातवीं-आठवीं सदी | १२ × ९ × २ | ,, |
| ई० दसवीं-ग्यारहवीं सदी | १२ × ९ × २ | ,, |
| ,, | ९$\frac{१}{२}$ × ९$\frac{१}{२}$ × २ | ,, |
| ,, | ७ × ५ × २ | ,, |

१ ई० पू० प्रथम और ईस्वी सन् प्रथम शताब्दियाँ।

## ३. बसाढ़की खुदाई

हाजीपुरसे १८ मील उत्तर, मुजफ्फरपुर जिलेमें, बसाढ़ (बनिया बसाढ़) गाँव है; जिसके पासके गाँव बखरामें अशोक-स्तम्भ है। बसाढ़की खुदाईमें ईस्वी सन्से पूर्वकी चीजें मिली हैं। खुदाईके सम्बन्धमें कुछ लिखनेके पूर्व स्थानके बारेमें कुछ लिख देना उचित होगा।

वैशाली प्राचीन वज्जी-गण-तंत्रकी[1] राजधानी थी। वज्जीदेशके शासक क्षत्रियजातिका नाम लिच्छवि था। जैन-ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि, इसकी ९ उपजातियाँ थीं। इन्हींका एक भेद[2] ज्ञातृ जाति था, जिसमें पैदा होनेके कारण जैनधर्म-प्रवर्तक वर्धमान ( महावीर ) को नातपुत्र या ज्ञातृपुत्र कहते हैं। पाणिनिने भी "मद्रवृज्जयोः कन्" (अष्टाध्यायी ४।२।३१) सूत्रमें इसी, वज्जी को वृज्जी कहकर स्मरण किया है। बुद्धके समय वज्जी-गण-राज्य उत्तरी भारतकी पाँच प्रधान राजशक्तियों-अवन्ती, वत्स, कोसल, मगध, और वज्जी—में से एक था। इस गणराज्यका शासन कब स्थापित हुआ, यह निश्चय रूपसे नहीं कहा जा सकता। इनके न्याय, प्रबन्ध आदिका पाली-ग्रन्थोंमें जहाँ-तहाँ वर्णन है। बुद्धके निर्वाणके तीन वर्ष बाद, प्रायः ई० पू०४८० में, वज्जी-गणतंत्रको मगधराज अजातशत्रुने, बिना लड़े-भिड़े, जीता था। पीछे तो मगध-साम्राज्यके विस्तारमें लिच्छविजातिने बड़ा ही काम किया। लिच्छवियोंके प्रभाव और प्रभुतत्वको हम

---

१ वज्जीदेशमें आजकलके चम्पारन और मुजफ्फरपुरके जिले, दरभंगेका अधिकांश तथा छपरा जिलेके मिर्जापुर, परसा, सोनपुरके थाने एवम् कुछ औ भाग सम्मिलित थे।

२ रत्ती परगनेमें (जिसमें कि बसाढ़ गांव है) जिन जथरियोंकी सबसे अधिक बस्ती है, वह यही पुराने ज्ञातृ हैं, जो भूत कालमें इस बलशाली गणतन्त्रके सञ्चालक, और जैन-तीर्थंकर महावीरके जन्मदाता थे। देखो ज्ञातृ = जथरिया (६) भी।

गुप्त-काल तक पाते हैं। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्तलिच्छवि-दौहित्र होनेका अभिमान करता है। कितनेही विद्वानों का मत है कि, गुमनाम गुप्तवंशको साम्राज्य-शक्ति प्रदान करनेमें चन्द्रगुप्तका लिच्छवि-राजकन्या कुमारदेवीके साथ विवाह होना भी एक प्रधान कारण था। इस विवाह-सम्बन्ध के कारण चन्द्रगुप्तकोवीर[1] लिच्छवि जातिका सैनिक बल हाथ लगा थ। गुप्तवंशका सबसे प्रतापी सम्राट् समुद्र-गुप्त उसी लिच्छविकुमारी कुमारदेवीका पुत्र था। कौन कह सकता है, उसको अपनी दिग्विजयों में अपने मामाके वंशसे कितनी सहायता मिली। गुप्तवंशके बाद हम लिच्छवियोंका नाम नहीं पाते। युन्-च्वेङके समय वैशाली उजाड़सी थी। बेतिया का राजवंश उक्त लिच्छविजातिके जथरियावंशके अन्तर्गत है[२]।

वैशाली नामके बारेमें पाली-ग्रन्थोंमें लिखा है कि, दीवारोंको तीन बार हटाकर उसे विशाल करना पड़ा; इसीलिये नगरका वैशाली नाम पड़ा। फलतः वैशाली का ध्वंसावशेषका दूरतक होना स्वाभाविक है। वैशाली नगर कहाँ तक था और कहाँ नगरके बाहरवाले गाँव थे, इसका अभीतक निश्चय नहीं किया गया। अभीतक जो भी खुदाईका काम हुआ है, वह सिर्फ बसाढ़के गढ़में ही हुआ है। बसाढ़के आसपास कोसोंतक पुरानी बस्तियों के निशान मिलते हैं। बसाढ़ और बनिया गाँव न सिर्फ स्वयं पुरानी बस्तियोंपर बसे हैं, बल्कि उनके आसपास भी ऐसी बहुत भूमि है, जिसके नीचे भूतकालके सन्देशवाहक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

वैसे तो बसाढ़के लोगोंको मालूम था कि, उनका गाँव राजा विशालकी राजधानी है, किन्तु सेंट मार्टिन और जनरल कनिंघम प्रथम सज्जन थे, जिन्होंने बसाढ़के ध्वंसावशेषोंकेलिये पुरानी वैशाली होनेका संकेत किया। तो भी बसाढ़में

---

१ आज भी जथरिया जाति लड़ने-भिड़नेमें मशहूर है।

२ जिस प्रकार नन्द और मौर्य भारतके प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य-स्थापक थे, वैसे ही वज्जी ऐतिहासिक कालका एक महान् शक्तिशाली गणराज्य था। क्या यह अच्छा न होगा कि, मुजफ्फरपुरवाले उसकी स्मृतिमें प्रतिवर्ष एक लिच्छविगणतन्त्र-सप्ताह बनावें, जिसमें और बातोंके साथ योग्य विद्वानोंके गण-तन्त्र-सम्बन्धी व्याख्य न कराये जायँ? लिच्छवि-गणराज्य भारतीयोंके जन-सत्तात्मक मनोभावका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

सनियम खुदाईका काम सन् १९०३ ई० तक नहीं हुआ था। १९०३-४ ई०के जाड़ोंमें डा० ब्लाश्के अधिनायकत्वमें वहाँकी खुदाई हुई। उसके बाद, १९१३-१४ ई०में, फिर डाक्टर स्पूनरने खुदाईका काम किया। यह दोनोंही खुदाइयाँ राजाविशालके ही गढ़पर हुईं। डाक्टर ब्लाश् (*Bloch*) अपनी खुदाईमें गुप्त-कालके आरम्भ (चौथी शताब्दीके आरम्भ) तक पहुँचे थे और डाक्टर स्पूनरका दावा मौर्य (ई० पू० तीसरी शताब्दी) तक पहुँचनेका था। यद्यपि जिस मुहरके बलपर उन्होंने ई० पू० तीसरी शताब्दी निश्चय किया, उसे स्व० राखालदास वन्द्योपाध्याय जैसे पुरालिपिके विद्वान्ने ई० पू० प्रथम शताब्दीका बतलाया, और यह अक्षरोंको देखनेसे ठीक जँचता है।

राजा विशालका गढ़ दक्षिणको छोड़कर तीन तरफ जलाशय से घिरा है; और, वर्षा तथा शीतकालमें दक्षिणकी ओरसे—जिधर बसाढ़ गाँव है—ही गढ़पर जाया जा सकता है। डाक्टर ब्लाश्की नापसे गढ़ उत्तर ओर ७५७ फुट, दक्षिण ओर ७८० फुट, पूर्व ओर १६५५ एवं पश्चिम ओर १६५० फुट विस्तृत है। सारी खुदाईमें सिर्फ एक छोटीसी गणेशकी मूर्ति डा० ब्लाश्को मिली थी, जिससे सिद्ध होता है कि, गढ़ धार्मिक स्थानोंसे सम्बन्ध न रखता था। गुप्त, कुषाण तथा प्राक्-कुषाण मुहरोंको देखनेसे साफ मालूम होता है कि, यह राज्याधिकारियोंका ही केन्द्र रहा है। वैसे गढ़को छोड़कर बसाढ़में दूसरी जगह भी अकसर पुरानी मूर्तियाँ मिलती हैं। गढ़से पश्चिम तरफ, बावन-पोखरके उत्तरी भीटेपर, एक छोटासा आधुनिक मन्दिर है। वहाँ आप मध्यकालीन खण्डित कितनी ही—बुद्ध, बोधि-सत्व, विष्णु, हर-गौरी, गणेश सप्तमातृका एवं जैनतीर्थंकरोंकी—मूर्तियाँ पावेंगे।

गढ़की खुदाईमें जो सबसे अधिक और महत्वपूर्ण चीजें मिलीं वह हैं महा-राजाओं, महारानियों तथा दूसरे अधिकारियों की स्वनामांकित कई सौ मुहरें। डाक्टर ब्लाश् अपनी खुदाईमें ऊपरी तलसे १० या १२ फीट तक नीचे पहुँचे थे। उनका सबसे निचला तह वह था, जहाँसे आरम्भिक गुप्त-कालकी दीवारोंकी नींव शुरू होती है। ऊपरी तलसे १० फीट नीचे "महा-राजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१३)—पत्नी, महाराज श्रीगोबिन्द-गुप्तमाता, महादेवी श्रीध्रुवस्वा-मिनीकी मुहर मिली थी। जिस घरमें वह मिली थी, वह देखनेमें चहबच्चाघर-सा

मालूम होता था; इसलिये उस समयका साधारण तल इससे कुछ फुट ऊपर ही रहा होगा। डा० स्पूनर और नीचे तक गये। वहाँ उन्हें ई० पू० प्रथम शताब्दीकी वेसालिअनुसयानक वाली मुहर मिली। डा० ब्लाश् को सबसे बड़ी ईंट १६½ × १० × २ इंच नाप की मिली थी। एक तरहके खपड़ेभी मिले, जो बिहारमें आज-कल पाये जानेवाले खपड़ोंसे भिन्न हैं। इस तरहके खपड़े लखनऊ म्यूजियममें भी रखे हैं, जो युक्तप्रान्त में कहीं मिले थे। इनकी लम्बाई-चौड़ाई (इंच) निम्न प्रकार है:—

| | |
|---|---|
| ८ × २½ | ८¼ × २ |
| ५½ × २½ | ८¼ × २¾ |
| ७½ × २ | ११ × २ |

यद्यपि गढ़की खुदाईमें हाथी-दाँतका दीवट (दीपाधानी) तथा और भी कुछ चीजें मिली थीं; किन्तु सबसे महत्वपूर्ण कई सौ मुहरें हैं। गुप्तकालसे पूर्वकी मुहरें बहुत थोड़ी मिलती हैं, उनमेंसे एकपर निम्न प्रकारका लेख है:—

"वेसालि अनु + + + + ट + + कारे सयानक"

इसमें वेसालि अनुसयानकको वेसालीअनुसंयानक बनाकर डाक्टर फ्लीटने "वैसालीका दौरा करनेवाला अफसर" अर्थ किया है; और, "टकारे" के लिये कहा है—यह एक स्थानके नामका अधिकरण (सप्तमी) में प्रयोग है। अशोकके लेखोंमें पाँच-पाँच वर्षपर खास अफसरोंके अनुसंयान या दौरा करनेकी बात लिखी है। उसीसे उपर्युक्त अर्थ निकाला गया है। किन्तु सिवा वेसालि शब्दके, जोकि, स्थानको बतलाता है, और अर्थ अनिश्चितसे ही हैं।

दूसरी मुहरमें है—

"राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामी रुद्र सिंहस्य दुहितु
राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामीरुद्रसेनस्य
भगिन्या महादेव्या प्रभुदमाया"

'राजा महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसिंहकी पुत्री, राजा महाक्षपत्र स्वामी रुद्रसेनकी बहन महादेवी प्रभुदमाकी।'

महाक्षत्रप रुद्रसिंह और उनके पुत्र रुद्रसेन चष्टन-रुद्रदामवंशीय पश्चिमीय क्षत्रपोंमेंसे थे, जिनकी राजधानी उज्जैन थी। रुद्रसिंह और रुद्रसेनका राज्यकाल

ईसाकी तीसरी शताब्दीका आरम्भ है। प्रभुदमाके साथका महादेवी शब्द बतलाता है कि, वह किसी राजाकी पटरानी थी। क्षत्रपों और शातवाहनवंशीय आन्ध्रोंका विवाह-सम्बन्ध तो मालूम ही है; किन्तु प्रभुदमा किसकी पटरानी थी, यह नहीं कहा जा सकता।

"हस्तदेवस्य" मुहर कुषाण-लिपिमें है। गुप्तकालीन मुहरोंमें कुछ "भगवत आदित्यस्य", "जयत्यनन्तो भगवान् साम्बः", "नमः पशुपते" आदि देवता-सम्बन्धी हैं। कुछ "नागशर्मणः", "बुद्धमित्रस्य", "त्रिपुरक्षषष्ठिदत्तः", "ब्रह्म-रक्षितस्य" आदि साधारण व्यक्तियोंकी हैं।

राज्याधिकारियोंकी मुहरोंके बारेमें लिखनेसे पूर्व गुप्तकालीन शासनाधिका-रियोंके बारेमें कुछ लिखना चाहिये। गुप्तसाम्राज्य अनेक भुक्तियों में[1] बँटा हुआ था। यह भुक्तियाँ आजकलकी कमिश्नरियोंसे बड़ी थीं। हर एक भुक्तिमें अनेक 'विषय' हुआ करते थे, जो प्रायः आजकलके जिलोंके बराबर थे। विषय कहीं-कहीं अनेक 'पथकों'में विभाजित था; जैसा कि, हर्षके बाँसखेड़ावाले ताम्रपत्रसे मालूम होता है। नवमी शताब्दीके पालवंशीय राजा धर्मपालके लेखसे मालूम होता है, कि उस समय भुक्तियोंको मण्डलोंमें विभक्त कर, फिर मण्डलको अनेक विषयोंमें बाँटा गया था। हो सकता है, साम्राज्यके आकारके अनुसार भुक्तियोंका आकार घटता-बढ़ता हो। यद्यपि विषयोंके नीचे पथकोंका होना प्रायः नहीं देखा जाता, तो भी यदि पृथक थे, तो उन्हें आजकलके परगने एवं ग्यारहवीं शताब्दीकी पत्तलाके समान जानना चाहिये। भुक्ति, विषय, ग्राम—इन तीन विभागोंमें तो कोई सन्देह नहीं है। उस समय भुक्तिके शासकको उपरिक कहा

१ श्रावस्ती (सहेट-महेट) गोंडा-बहराइच जिलोंकी सीमापर है; इसलिये गोंडा-बहराइच जिलोंको श्रावस्ती-भुक्तिमें मानना ही चाहिए। सातवीं शताब्दीके हर्षवर्द्धनके मधुवनवाले ताम्र-लेखसे मालूम होता है कि, आजमगढ़ श्रावस्ती-भुक्तिमें था। दिघवा-दुबौली (जि० सारन) का ताम्रपत्र यदि अपने स्थान पर ही है, तो नवीं शताब्दीमें सारन भी श्रावस्ती-भुक्तिमें था। इस प्रकार गोंडा, बहराइच, बस्ती, गोरखपुर, आजमगढ़ और सारन जिले कम-से-कम श्रावस्ती-भुक्तिमें थे।

जाता था, जिसे आजकलका राज्यपाल समझना चाहिये। उपरिकको सम्राट् नियुक्त किया करता था। अपनी भुक्तिके भीतर उपरिक विषय-पतियोंको नियुक्त करता था, जिन्हें नियुक्तक या कुमारामात्य कहा जाता था। विषय-पति कुमारामात्यका निवास-नगर अधिष्ठान कहलाता था; और, उस नगरके शासनमें निगम या नागरिक-परिषद्का बहुत हाथ रहता था। यह निगम वही संस्था है, जिसके प्रभावका उल्लेख नेगम ( =नैगम)के नामसे बुद्धकालमें भी पाया जाता है। गुप्तकालमें श्रेष्ठी ( =नगर-सेठ), सार्थवाह ( =बनजारोंका सरदार) और कुलिक ( प्रतिष्ठित नागरिक ) मिलकर निगम कहे जाते थे। इन्हें और प्रथम कायस्थ (प्रधान लेखक)को मिलाकर विषय-पतिकी परामर्श समिति होती थी।

बसाढ़की खुदाईमें मिली ऐसी कुछ मुहरोंको देखिये—

| | |
|---|---|
| उपरिक[2] | (१) [1]तीरभुक्त्युपरिकाधिकरणस्य। |
| | (२) तीरभुक्तौ विनयस्थितिस्थाप (क) ाधिकरण (स्य) । |
| कुमारा० | (१) तीर-कुमारामा[3] त्याधिकरणस्य । |
| | (२) कुमारामात्याधिकरणस्य। |
| | (३) (वैं) शाल्यधिष्ठानाधिकरण। |
| | (४) (वैं) शालविषयः[4].......। |
| निगम | (१) श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम। |
| | (२) श्रेष्ठिकुलिकनिगम। |
| | (३) श्रेष्ठिनिगमस्य। |
| श्रेष्ठि | (१) गोमिपुत्रस्य श्रेष्ठिकुलोटस्य। |
| | (२) श्रेष्ठिश्रीदासस्य। |

---

१ तीरभुक्ति = तिरहुत, जिसमें सम्भवतः गंडक, गंगा, कोसी और हिमालयसे घिरा प्रदेश शामिल था।

२ उपरिककी मुहरमें, दो हाथियोंके बीचमें, गुप्तोंका लांछन लक्ष्मी हैं, जिनके बायें हाथमें अष्टदल पुष्प है।

३ मुहरसें दो हाथियोंके बीच लक्ष्मी हैं, जिनके हाथमें सप्तदल पुष्प है।

४ सम्भवतः विषय।

| | |
|---|---|
| सार्थवाह | (सार्थवाह दोड्ड...... |
| प्रथम-कुलिक[1] | (१) प्रथमकुलिकहरिः। <br> (२) प्रथमकुलिकोग्रसिंहस्य। |
| कुलिक | (१) कुलिक भगदत्तस्य। <br> (२) कुलिक गोरिदासस्य। <br> (३) कुलिक गोण्डस्य। <br> (४) कुलिक हरिः। <br> (५) कुलिक ओमभट्ट। |

इनके अतिरिक्त कुछ मुहरें राजा, युवराज तथा उनसे विशेष सम्बन्ध रखनेवालोंकी भी हैं। जैसे—

(१) महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्त पत्नी महाराज श्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी श्रीध्रुवस्वामिनी।

(२) श्रीपर (मभट्टारक) पादीय कुमारामात्याधिकरण।

(३) श्रीयुवराजभट्टारकपादीय कुमारामात्याधिकरण।

(४) युवराजभट्टारकपादीय बलाधिकरणस्य।

इनके अतिरिक्त रणभाण्डागाराधिकरण, दण्डपाशाधिकरण, दण्डनायक (न्याय-मन्त्री) और भटाश्वपति (घोड़सवार, सेनापति आदि) की मुहरें मिली हैं—

(१) महादण्डनायकाग्निगुप्तस्य।

(२) भटाश्वपतियक्षवत्सस्य (?)

युवराज भट्टारकपादीय-कुमारामात्याधिकरण देखकर तो मालूम होता है, तीर-भुक्तिके 'उपरिक' स्वयं युवराजही होते थे। द्वितीय गुप्तसम्राट् अपनेको

---

१ नगरमें श्रेष्ठी और सार्थवाह एक-एक हुआ करते थे। निगमसभाके बाकी सदस्य सवकुलिक कहे जाते थे, जिनमें प्रमुखको 'प्रथम कुलिक' कहा जाता था। यही कारण है, जो मुहरोंमें सबसे अधिक कुलिकोंकी मुहरें हैं।

लिच्छवि-दौहित्र कहकर जिस प्रकार अभिमान प्रकट करता है, उससे वैशालीको यह सम्मान मिलना असम्भवभी नहीं मालूम होता।[1]

---

१ जैनधर्मके लिए वैशालीका कितना महत्व है, यह तो उसके प्रवर्त्तक वर्धमान महावीरके वहाँ जन्म लेनेसे ही स्पष्ट है। बौद्धधर्ममें भी वैशालीके लिए बड़ा गौरव है: वैशालीमें ही बुद्धने, सन् ५२५-५२४ ई० पू० में, स्त्रियोंको भिक्षुणी बनने का अधिकार दिया था। बुद्धने यहीं अपना अन्तिम वर्षावास किया था। बुद्धके निर्वाणके सौ वर्ष बाद सन् ३८३ ई० पू० में, यहीं, बुद्धके उपदेशोंकी छानबीनके लिए, भिक्षुओंने द्वितीय संगीति (सभा) की थी। बुद्धने भिक्षु-संघके सामने लिच्छवि-गणराज्यको आदर्शकी तरह पेश किया था। भिक्षु-संघके 'छन्द' (=वोट) दान तथा दूसरे प्रबन्धके ढंगोंमें लिच्छवि-गण-तन्त्रका अनुकरण किया गया है।

# ४. श्रावस्ती

बद्धके समय उत्तर भारतमें पाँच बड़ी शक्तियाँ थीं---कोसल, मगध, वत्स, वृजी और अवन्ती। इनमें वृजी ( वैशाली )में लिच्छवियोंका गणराज्य था। कोसल और कोसलके आधीन गणराज्यके सम्बन्धमें भी बहुत-सी बातोंका पता लगता है। कोसलकी राजधानी श्रावस्ती थी, श्रावस्तीके सम्बन्धमें त्रिपिटक और उसकी टीकाओं (अट्ठकथाओं) में बहुत मिलता है । इसके अतिरिक्त फाहियान, यून्-च्वेङके यात्राविवरण, ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों तथा जैन प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थोंमें भी बहुत सामग्री हैं । किन्तु इन सब वर्णनोंसे पालि-त्रिपिटकमें आया वर्णनही अधिक प्रामाणिक है। ब्राह्मणोंके रामायण, महा-भारतादि ग्रंथोंका संस्करण बराबर होता रहा है, इसीलिए उनकी सामग्रीका उपयोग बहुत सावधानीसे करना पड़ता है। जैन ग्रन्थ ईसवी पाँचवीं शताब्दीमें लिपिबद्ध हुए, इसीलिये परम्परा बहुत पुरातन होनेपर भी, वह पालित्रिपिटकसे दूसरे ही नम्बरपर हैं। पालि-त्रिपिटक ईसा पूर्व प्रथम शताब्दीमें लिपिबद्ध हो चुके थे। जो बात ब्राह्मणग्रन्थोंके सम्बन्धमें है, वही महायान बौद्ध संस्कृत ग्रन्थोंके सम्बन्धमें भी है ।

श्रावस्ती उस समय काशी (आजकलके बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर, आजमगढ़, गाजीपुरके अधिकांश भाग), और कोसल (वर्तमान अवध) इन दो बड़े और समृद्धिशाली देशोंकी राजधानी होनेसे ऊँचा स्थान रखती थी। इसके अतिरिक्त बुद्धके धर्मप्रचारका यह प्रधान केन्द्र था। इसीलिये बौद्ध साहित्योंमें इसका स्थान और भी ऊँचा है। बुद्धने बुद्धत्व प्राप्तकर पैंतालीस वर्ष तक धर्म-प्रचार किया। प्रति वर्ष वर्षाके तीन मास वह किसी एक स्थानपर बिताते थे। उन्होंने अपने पैंतालीस वर्षावासोंमेंसे पच्चीस यहीं बिताये। सूत्रों और विनयके अधिक भागका भी उन्होंने यहीं उपदेश किया। ईसा पूर्व ४८३ वर्षमें बुद्धका निर्वाण हुआ, यही अधिक विद्वानोंको मान्य है। उन्होंने अपना प्रथम वर्षावास (ई० पू० ५२७)

ऋषिपतन-मृगदाव (सारनाथ, बनारस) में बिताया। अट्ठकथा[1] के अनुसार चौदहवाँ, तथा इक्कीसवेंसे चौंतालीसवें (ई० पू० ५०७–४८२ = वि० सं० पूर्व ४५०–४२५) वर्षावास उन्होंने यहीं बिताये।

श्रावस्तीके नाम-करणके विषयमें मज्झिमनिकायके सब्बासवसुत्त (१।१।२) में कहा गया है—"सावत्थी (श्रावस्ती)—सवत्थ ऋषिकी निवासवाली नगरी, जैसे काकन्दी माकन्दी। यह अक्षर-चिन्तकों (=वैयाकरणों) का मत है। अर्थ-कथाचार्य (भाष्यकार) कहते हैं—जो कुछ भी मनुष्योंके उपभोग परिभोग हैं, सब यहाँ हैं (सब्बं अत्थि) इसलिए इसे सावत्थी (श्रावस्ती) कहते हैं; बंजारोंके जुटनेपर 'क्या चीज है' पूछनेपर "सब है, इस बातसे सावत्थी[2]।"

श्रावस्ती कहाँ थी? "कोसलानं पुरं रम्मं" वचनसे ही मालूम हो जाता

---

१ 'तथागतो हि पठमबोधियं वीसति वस्सानि अनिबद्धवासो हुत्वा यत्थ यत्थ फासुकं होति तत्थ तत्थेव गन्त्वा'वसि। पथमक अन्तोवस्सं हि...धम्मचक्कं पवत्तेत्वा..बारणसिं उपनिस्साय इसिपतने वसि..। चतुद्दसमं जेतवने पंचदसमं कपिलवत्थुस्मि...। एवं वीसति वस्सानि अनिबद्धवासो हुत्वा, यत्थ यत्थ फासुकं होति तत्थ तत्थेव वसि। ततो पट्ठाय पन द्वे सेनासनानि धुवपरिभोगानि अहोसि। कतरानि द्वे?—जेतवनञ्च पुब्बारामञ्च।...। उदुवस्सं चारिकं चरित्वापि हि अन्तो वस्से द्विसु येव सेनासनेसु वसति। एवं वसन्तो पन जेतवने रत्तिं वसित्वा पुन दिवसे.....दक्खिणद्वारेन निक्खमित्त्वा सावत्थिं पिण्डाय पविसित्त्वा पाचीनद्वारेन निक्खमित्त्वा पुब्बारामे दिवाविहारं करोति। पुब्बारामे रत्तिं वसित्त्वा पुनदिवसे पाचीन-द्वारेन...जेतवने दिवाविहारं करोति।"

—(अङ्गुत्तर० अट्ठकथा, हेवावितारणे ३१४ पृष्ठ)

२ सावत्थीति सवत्थस्स इसिनो निवासट्ठानभूता नगरी, यथा काकन्दी माकन्दी'ति। एवं ताव अक्खरचिंतका। अट्ठ कथाचरिया पन भणन्ति—यं किंच मनुस्सानं उपभोगं परिभोगं सब्बमेत्थ अत्थीति सावत्थी। सत्थ-समायोगे च किं भण्डं अत्थीति पुच्छिते सब्बमत्थीति वचनमुपादाय सावत्थी—

सब्बदा सब्बूपकरणं सावत्थियं समोहितं।
तस्मा सब्बमुपादाय सावत्थी'ति पवुच्चति॥

है, कि वह कोसल देशमें थी। पाली ग्रन्थोंमें कितनी ही जगहोंपर श्रावस्तीकी दूसरे नगरोंसे दूरी भी उल्लिखित मिलती है—

१—"राजगृह कपिलवस्तुसे साठ योजन दूर, और श्रावस्ती पन्द्रह योजन। शास्ता ( =बुद्ध) राजगृहसे पैंतालीस योजन आकर श्रावस्तीमें विहरते थे।"[1]

२—"पुक्कसाती ( =पुष्करसाती) नामक कुलपुत्र (तक्षशिलासे) आठ कम दो सौ योजनपर जेतवनके सदरदरवाजेके पाससे जाते हुए।"[2]

३—"मच्छिकासंडमें सुधर्म स्थविर क्रुद्ध हो शास्ताके पास (जेतवन) जाकर....। शास्ताने (कहा) यह बड़ा मानी है; तीस योजन मार्ग जाकर पीछे आवे ।"[3]

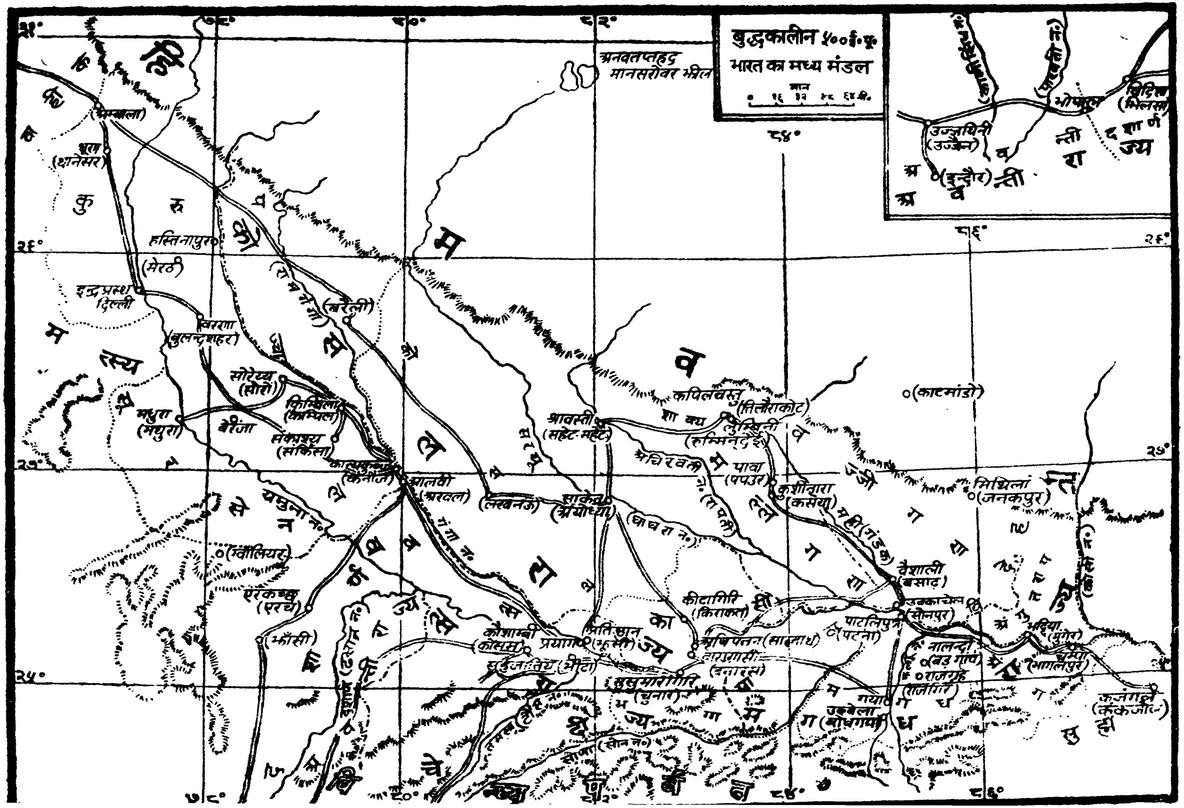
४—"दारुचीरिय...सुप्पारक बन्दरके किनारे पहुँचा।....तब उसको देवताने बताया—हे वाहिक, उत्तरके जनपदोंमें श्रावस्ती नामक नगर है, वहाँ

कोसलानं पुरं रम्मं वस्सनेय्यं मनोरमं।
दस हि सद्देहि अविवित्तं अन्नपानसमायुतं॥
वुड्ढि वेपुल्लतं पत्तं इद्धं फीतं मनोरमं।
आलकमन्दाव देवानं सावत्थी पुरमुत्तमं॥
—(मज्झिमनिकाय अ० क० १।१।२)

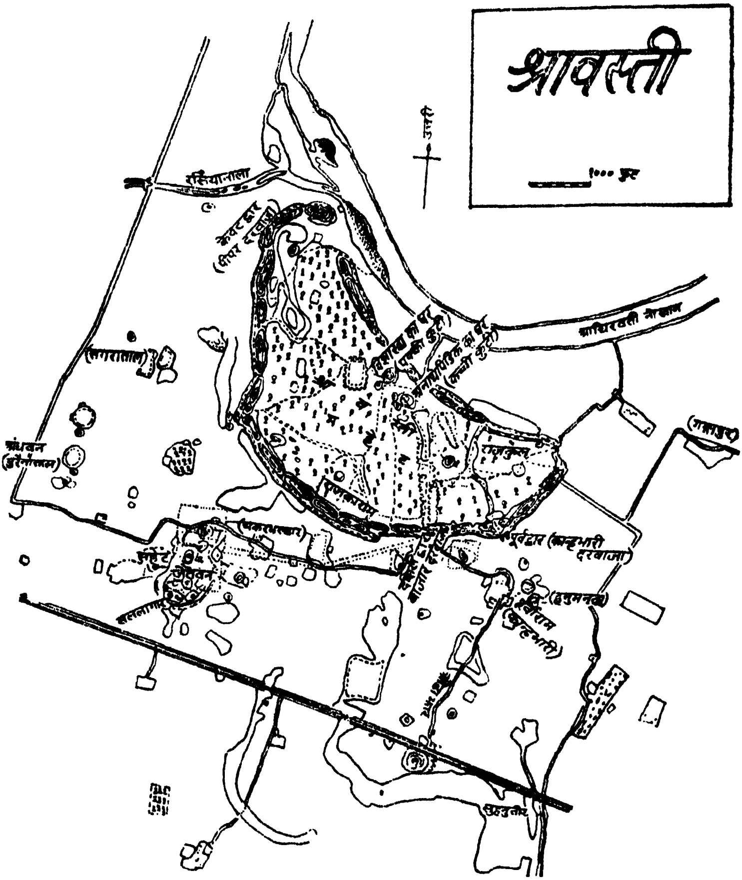
१ "राजगहं कपिलवत्थुतो दूरं सट्ठि योजनानि, सावत्थी पन पञ्चदस। सत्था राजगहतो पञ्चचत्तालीसयोजनं आगन्त्वा सावत्थियं विहरति।"
—(म० नि० अ० क० १।३।४)

२ "पुक्कसाति नाम कुलपुत्तो (तक्कसलातो) अट्ठ हि ऊनकानि द्वे योजनसतानि गतो जेतवनद्वारकोट्ठकस्स पन समीपे गच्छन्तो..."
—(मज्झिम नि० अट्ठ० ३।४।१०)

३ "मच्छिकासंडे सुधम्मत्थेरो...कुज्झित्वा सत्थुसंतिकं (जेतवने) गन्त्वा। सत्था...मानत्थद्धो एस तिंसयोजनं ताव मग्गं गंत्वा पच्छा-गच्छतु"।
—(धम्मपद-अट्ठ० हेवाविवतारणे पृ० २।५०)



बुद्धकालीन ५०० ई॰ पू॰
भारत का मध्य मंडल
अनवतप्तह्रद
मानसरोवर झील
(अम्बाला)
थुण
(थानेसर)
हस्तिनापुर
(मेरठ)
इन्द्रप्रस्थ
दिल्ली
वरणा
(बुलन्दशहर)
(बरेली)
सोरेय्य
(सोरो)
कम्पिला
(कम्पिल)
मधुरा
(मथुरा)
बैरंजा
संकाश्य
(संकिसा)
(कनौज)
आलवी
(अरवल)
(लखनऊ)
साकेत
(अयोध्या)
श्रावस्ती
(सहेट-महेट)
कपिलवस्तु
(तिलौराकोट)
लुम्बिनी
(रुम्मिनदेई)
पावा
(पपउर)
कुशीनारा
(कसेया)
(काठमांडो)
मिथिला
(जनकपुर)
वैशाली
(बसाढ़)
(सोनपुर)
पाटलिपुत्र
(पटना)
(घाघरा नं॰)
यमुना नं॰
गंगा नं॰
(ग्वालियर)
एरकच्छ
(एरच)
(झाँसी)
कौशाम्बी
(कोसम)
प्रयाग
(झूसी)
कीटागिरि
(किराकत)
(बनारस)
सुंसुमारगिरि
(चुनार)
नालन्दा
(बड़गाँव)
राजगृह
(राजगिर)
गया
उरुवेला
(बोधगया)
(मुंगेर)
चम्पा
(भागलपुर)
(कंकजोल)
उज्जयिनी
(उज्जैन)
(इन्दौर)
भोपाल


श्रावस्ती
उत्तर

वह भगवान् विहरते हैं।.... (वह) एक सौ बीस योजनका रास्ता एक-एक रात वास करते हुए ही गया।"[१]

५—"शास्ता जेतवनसे निकलकर क्रमशः अग्गालव विहार पहुँचे। शास्ताने (सोचा)—जिस कुल-कन्याके हितार्थ तीस योजन मार्ग हम आये।"[२]

६—"श्रावस्तीसे संकाश्य नगर तीस योजन।"[३]

७—"उग्र नगर निवासी उग्र नामक श्रेष्ठि-पुत्र अनाथपिंडकका मित्र था।... छोटी सुभद्रा यहाँ (श्रावस्ती) से एक सौ बीस योजनपर बसती है।"[४]

८—"उस क्षण जेतवनसे एक सौ बीस योजनपर कुररघरमें।"[५]

९—"तीस योजन........ (जाकर) अंगुलिमालका।"[६]

१०—"महाकप्पिन एक सौ बीस योजन आगे जा चंद्रभागा नदी के तीर बरगदकी जड़में बैठे।"[७]

---

१ "दारुचीरयो....सुप्पारकपत्तनतीरं ओक्क...!.... अथस्स देवता आचिक्खि—अत्थि बाहिय, उत्तरेसु जनपदेसु सावत्थिनाम नगरं तत्थ सो भगवा विहरति।... (सो) वीसं योजनसतिकं मग्गं एकरत्तिवासेनेव अगमासि।"

—(धम्मपद-अट्ठ० ८।२ उदान अट्ठ० १।१०)

२ "सत्था जेतवना निक्खमित्वा अनुपुब्बेन अग्गालवविहारं अगमासि।.... सत्था—यमहं कुलधीतरं निस्साय तिंसयोजनमग्गो आगतो।"

—(धम्मपद-अट्ठ० १३।७,१५।५)।

३ "सावत्थितो संकस्सनगरं तिंसयोजनानि"।—(धम्मपद-अट्ठ० १४।२)

४ "अनाथपिंडिकस्स.....उग्गनगरवासी उग्गो नाम सेट्ठि पुत्तो सहायको।......चूल सुभद्दा दूरे वसति इतो वीसतियोजनसतमत्थके..."

—(धम्म० अट्ठ० २१।८)

५ "तस्मिं खणे जेतवनतो वीसं योजनसतमत्थके कुररघरे..."

—(धम्म० अट्ठ० २५।७)

६ "तिंसयोजनं...अंगुलिमालस्स"।—(मज्झिम० अट्ठ १३।४)

७ "महाकप्पिनराजा....।...वीसं योजनसतं पच्चुग्गन्त्वा चन्द्रभागाय नदियातीरे निग्रोधमूले निसीदि।"

—(धम्मपद-अट्ठ० ६।४)

११—"साकेत छै योजन।"[1]

ऊपरके उद्धरणोंमें राजगृह, कपिलवस्तु, तक्षशिला, मच्छिकासंड, सुप्पारक, अग्गालव विहार, संकाश्य, उग्रनगर कुररघर, अंगुलिमालसे भेंट होनेका स्थान, चन्द्रभागा नदीका तीर, तथा साकेत—इन तेरह स्थानोंसे श्रावस्तीकी दूरी मालूम होती है। इन स्थानोंमें कपिलवस्तु (तिलौरा कोट, नेपालतराई), राजगृह (राजगिरि, जिला पटना, बिहार), साकेत अयोध्या, जि० फैजाबाद, उ० प्र०), तक्षशिला (शाहजीकी ढेरी, जि० रावलपिंडी, पाकिस्तान), सुप्पारक (सुप्पारा, जिला सूरत, बंबई), सकाश्य (संकिसा, जिला फर्रुखाबाद उ० प्र०) तथा चंद्रभागा नदी (चनाब, पंजाब) यह सात स्थान निश्चित हैं।

पालीके शब्दकोश 'अभिधानप्पदीपिका'के अनुसार योजनका मान इस प्रकार है—

"अंगुद्विच्छ विदत्थि, ता दुवे सियुं।—
रतनं; तानि सत्तेव, यट्ठि, ता वीसतूसभं।
गावूतमुसभासीति, योजनं चतुगावुतं।"

१२ अंगुल = विदत्थि = (४ गिरह)
२ विदत्थि (बालिश्त) = रतन (हाथ)
७ रतन = १ यट्ठि (लट्ठा) = (३½ गज)
२० यट्ठि = १ उसभ (ऋसभ) = (७० गज)
८० उसभ = १ गावूत (गव्यूति) = (५६०० गज = (३.१८ मील)
४ गावूत = १ योजन = (१२⁶⁄₁₁ मील)

अभिधर्मकोशमें[2] २४ अंगुल = १ हस्त, ४ हस्त = १ धनु (= २ गज), ५०० धनु = १ कोश (= १००० गज), ८ कोश = १ योजन (= ४.४५ मील) है।

---

१ महावग्ग, पृष्ठ २८७

२ चतुर्विंशतिरंगुल्यो हस्तो, हस्तचतुष्टयम्।

धनुः, पञ्चशतान्येषां क्रोशो, ..... तेऽष्टौ योजनमित्याहुः,
—(अभिधर्मकोश ३।८८-८)

श्रावस्तीके इस फासिलेको आधुनिक नकशेसे मिलानेपर--

| | पुरातन | | आधुनिक- |
|---|---|---|---|
| | योजन | मील | मील |
| कपिलवस्तु | १५ | १९०·९ | ६२·४ |
| साकेत | ७ | ७६.३६ | ५१.२ |
| राजगृह | ४५ | ५७२·७२ | २७६·८ |
| तक्षशिला | १९२ | २४४३·६२ | ७२४·८ |
| सुप्पारक | १२० | १७२७·२६ | ७९६·८ |
| संकाश्य | ३० | ३८१·८१ | १६९·६ |
| चन्द्रभागानदी | १२० | १७२७·२६ | ५९०·४ |

श्रावस्ती और साकेतका मार्ग चालू और फासिला थोड़ा था; इसलिये इसकी दूरीमें सन्देहकी कम गुंजाइश है। ऊपरके हिसाबसे योजन आठ मीलके करीब होगा।

**श्रावस्ती कहाँ?—**

कोसल देशकी राजधानी श्रावस्तीको विद्वानोंने उत्तरप्रदेशके गोंडा जिलेका सहेट-महेट निश्चित किया है। उस समय कोसल नामका दूसरा कोई देश न था, इसीलिये उत्तर दक्षिण लगानेकी आवश्यकता न थी। छठी शताब्दीके (=विक्रम सं० ५५८–६५७) बाद जब मध्यप्रदेशके छत्तीसगढ़का नाम भी कोसल पड़ा, तो दोनोंको अलग करनेके लिये, इसे उत्तर कोसल और मध्यप्रदेश-वालेको दक्षिण कोसल या महाकोसल कहा जाने लगा। श्रावस्ती अचिरवती (=रापती) नदीकेतीर थी[1]। अचिरवती नगरके समीपही बहती थी, क्योंकि हम देखते हैं कि नगर की वेश्याएँ और भिक्षुणियाँ यहाँ साधारणतः स्नान करने

१ **"इध भन्ते भिक्खुनियो अचिरवतिया नदिया वेसियाहि सद्धि नग्गा एकतित्थे नहायन्ति।....अनुजानामि ते विसाखे अट्ठवरानीति। ..."**

**—(महावग्ग चीवरक्खन्धे, ३२७)**

जाया करती थीं। मज्झिम-निकाय अट्ठकथामें[1] कहा गया है, कि यह नदी बहुत पुरातन (काश्यप बुद्ध) कालमें नगरको घेरकर बहती थी। उसने पुब्ब-कोट्ठकके पास बड़ा दह खोद दिया था। यह दह नहानेका बड़ा ही अच्छा स्थान था। यह स्थान सम्भवतः महेटके पूर्वोत्तर कोनेपर था। इस दहके समीप तथा अचिरवतीके[2] किनारे ही राजमहल था। लेकिन साथ ही सुत्तनिपातकी अट्ठकथासे[3] पता लगता है कि अचिरवतीके किनारेवाले जौके खेत जेतवन और श्रावस्तीके बीचमें पड़ते थे। इसका मतलब यह है कि अचिरवती उस समय या तो जेतवन और श्रावस्तीके पश्चिम ओर होती हुई बहती थी, अथवा पूर्वकी ओर। लेकिन पूर्व माननेपर, उसका राजमहलके (जो कि नौशहरा दर्वाजाके पूर्व तरफ था) के पाससे जाना संभव नहीं हो सकता। इसलिये उसका श्रावस्ती और जेतवनके पश्चिम होकर, राजगढ़ दर्वाजेसे होते हुए, वर्तमान नौखानमें होकर बहना अधिक सम्भव मालूम होता है। यह बात यद्यपि पाली उद्धरणके अनुसार ठीक जँचेगी; किन्तु भूमिको देखनेसे इसमें सन्देह मालूम होता है। क्योंकि जेतवन और श्रावस्तीके पश्चिमी भागमें कोई ऐसा चिह्न नहीं है, जिससे कहा जाय कि यहाँ कभी नदी बहती थी। साथही पुरैना और अमहा तालोंके अति

---

२ कस्सपदसबलस्स काले अचिरवती नगरं परिक्खिपित्वा सन्दमाना पुब्बकोट्ठकं पत्वा उदकेन भिन्दित्वा महन्तं उदकदहं मापेसि, समतित्थं अनुपुब्ब-गम्भीरं।" —(म० नि० १।३।६; अ० क० ३७१)

३ "....राजा पसेनदी कोसलो मल्लिकाय देविया सद्धिं उपरि पासाद-वरगतो होति। अद्दसा खो राजा पसेनदि...तेरसवग्गिये भिक्खू अचिरवतिया नदिया उदके कीलन्ते।...."—(पाचित्ति; अचेलकवग्ग पृ० १२७)

४ "भगवति किर सावत्थियं विहरन्ते अञ्ञतरो ब्राह्मणो सावत्थिया जेतवनस्स च अन्तरे अचिरवतीनदीतीरे यवं वपिस्सामीति खेत्तं कसति।.... तस्स अज्ज वा स्वे वा लायिस्सामीति उस्सुक्कं कुरुमानस्सेव महामेघो उट्ठहित्वा सब्बरत्तिं वस्सि। अचिरवती नदी पूरा आगन्त्वा सब्बं यवं वहि।"

—(सुत्त० नि० ४।१, अ० क० ४१९)

पुरातन स्तूपावशेष भी इसके लिये बाधक हैं। रामगढ़ दर्वाजेके पासकी भूमिमें भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो अचिरवती ऐसी पहाड़ी नदीकी तेज धारके जल्दीके घुमावको सह सके। मालूम होता है, मूल परम्परामें ब्राह्मणके जौके खेतका अचिरवतीकी बाढ़से नष्ट होना वर्णित था जिसके लिए खेतोंका अचिरवतीके किनारे होना कोई आवश्यक नहीं। हो सकता है, सिंगिया नालाकी तरहका कोई नाला जेतवन और श्रावस्तीके पश्चिम भागमें रहा होगा, या उसके बिना भी जौके खेतका अचिरवतीकी बाढ़से नष्ट होना बिलकुल संभव है। अचिरवती-की बाढ़से नष्ट होनेसे ही, खेतोंको पीछे अचिरवतीके किनारे, समझ लिया गया। यह परिवर्तन मूल सिंहाली अट्ठकथाहीमें सम्भवतः हुआ, जिसके आधारपर बुद्धघोषने अपनी अट्ठकथाएँ लिखीं। अचिरवतीका श्रावस्तीके उत्तर और पूर्व-पश्चिम बहनेका एक और भी प्रमाण हमें मज्झिमनिकायसे[1] मिलता है। आनन्द श्रावस्तीमें भिक्षा करके पूर्वारामको जा रहे थे; उसी समय राजा प्रसेनजित् भी अपने हाथीपर सवार हो नगरसे बाहर निकला। राजाने पूर्वद्वार (काँदभारी दर्वाजा) से बाहर पूर्वद्वार और पूर्वारामके बीचमें कहींपर आनन्दको देखा। राजाने उस जगहसे अचिरवतीके किनारेपर आनन्दको चलनेकी प्रार्थना की। सम्भवतः उस समय अचिरवती सहेटके उत्तरी किनारेसे लगी हुई बहती थी। कच्ची

---

१ आयस्मा आनन्दो पुब्बण्हसमयं . . . सावत्थियं पिण्डाय चरित्वा . . . . येन पुब्बारामो . . . तेन उपसंकमि . . . । तेन खो पन समयेन राजा पसेनदि कोसलो एकपुण्डरीकं नागं अभिरूहित्वा सावत्थिया निय्यासि दिवादिवस्स। अद्दसा खो राजा . . . . दूरतो'व आगच्छन्तं। . . . . येनायस्मा आनन्दो तेनु'पसंकमि। . . . एतदवोच—स चे भन्ते, . . न किञ्चि अच्चायिकं करणीयं; साधु, . . . येन अचिरवतिया नदिया तीरं तेनुपसंकमतु अनुकम्पं उपादाया'ति। . . . . अथ खो . . . आनन्दो येन अचिरवतिया नदिया तीरं तेनु' पसंकमि, उपसंकमित्वा अञ्ञतरस्मि रुक्खमूले पञ्ञत्ते आसने निसीदि। . . . .अयं भन्ते, अचिरवती नदी दिट्ठा आयस्मता चेव . . . अम्हेहि च, यदा उपरि पब्बते महामेघो अभिप्पवाहेति, अथायं अचिरवती नदी उभतो कूलानि संविस्सन्दन्ती गच्छति।"

—(म० नि० २।४।८)

कुटीके पासका स्तूप सम्भवतः अनाथपिण्डकके घरको बतलाता है। अनाथपिण्डकका घर अचिरवतीके पास था; शायद इसीलिए हम जातकट्ठकथामें[१] देखते हैं, कि अनाथपिण्डकका बहुतसा भूमिमें गड़ा हुआ धन, अचिरवतीके किनारे के टूट जानेसे बह गया।

श्रावस्ती (१) अचिरवतीके किनारे थी, (२) कोसल देशमें साकेत (अयोध्या) से ६ योजनपर थी; तथा खुद्दकनिकायके पेतवत्थुके[२] अनुसार (३) हिमालय वहाँसे दिखलाई पड़ता था। यहाँ 'हिमवान्‌को देखते हुए' शब्द आया है; जिससे साफ है, कि श्रावस्ती हिमालयकी जड़में न होकर वहाँसे कुछ फासिलेपर थी, जहाँसे कि हिमालयकी चोटियाँ दिखलायी पड़ती थीं। महेटसे हिमालय चौबीसही मील दूर है, और खूब दिखलाई पड़ता है।

### श्रावस्ती नगर

श्रावस्तीकी जनसंख्या[३] अट्ठकथाओंमें सात कोटि लिखी है, जिसका अर्थ हम यही लगा सकते हैं, कि वह एक बड़ा नगर था। यह बात तो कोसल जैसे बड़े शक्तिशाली राज्यकी पुरानी राजधानी होनेसे भी मालूम हो सकती है। महापरिनिर्वाण सूत्रमें[४] जहाँ पर आनन्दने बुद्धसे कुशीनगर छोड़कर किसी बड़े नगरमें शरीर छोड़नेकी प्रार्थना की है वहाँ बड़े नगरोंकी एक सूची दी है।

---

१ "अचिरवतीनदीतीरे निहितधनं नदीकूले भिन्ने समुद्दं पविट्ठं अत्थि।" —(जातक १।४।१०)

२ "सावत्थि नाम नगरं हिमवन्तस्स पस्सतो।" (पेतवत्थु० ४।६)।

३ "तदा सावत्थियं सत्तमनुस्सकोटियो वसन्ति। तेसु सत्थुधम्मकथं सुत्वा पञ्चकोटिमत्ता मनुस्सा अरियसावका जाता, द्वे कोटिमत्ता पुथुज्जना" —(ध० प० १।१, अ० क० ३)

४ "मा भन्ते भगवा इमस्मि कुड्डनगरके उज्जंगलनगरके साखनगरके परिनिब्बायतु। सन्ति भन्ते अञ्ञानि महानगरानि, सेय्यथीदं चम्पा, राजगहं, सावत्थी, साकेतं, कोसम्बी, वाराणसी..."—(दी० नि० २।३।१३)

इस सूचीमें श्रावस्तीका उल्लेख है। इससे भी यह स्पष्ट है। निवासियोंमें पाँच करोड़ लोग बौद्ध थे, इसका मतलब भी यही है कि श्रावस्तीके अधिवासियोंकी अधिक संख्या बौद्ध थी। और यह इससे भी मालूम हो सकता है कि बुद्धके उपदेशका यह एक केन्द्र रहा।

उस समय मकानोंके बनानेमें लकड़ीका ही अधिकतर उपयोग होता था। इमारतें प्रायः सभी लकड़ीकी थीं। यद्यपि श्रावस्तीके बारेमें खास तौरसे नहीं आया है, तो भी राजगृहके वर्णनसे हम समझ सकते हैं कि शहरोंके चारों तरफके प्राकार भी लकड़ीकेही बनते थे। पाराजिक[1] (विनय-पिटक) में यह बात स्पष्ट है। मेगस्थनीज़ने भी पाटलिपुत्रके चारों ओर लकड़ीका ही प्राकार देखा था। (उस समय जब चारों ओर जंगल ही जंगल था, लकड़ीकी इफ़ात थी) लकड़ीका प्राकार उस धनुष-बाण के जमानेके लिए उपयुक्त था, इसीलिये हम पुराने पाटलिपुत्रको भी लकड़ीके प्राकारसे ही घिरा पाते हैं। बुलन्दी बागकी खुदाईमें इसके कुछ भाग मिले हैं।

श्रावस्तीमें मुख्यतः चार[2] दर्वाजे थे, जिनमें तीन तो उत्तर[3], पूर्व और दक्षिण दर्वाजोंके नामसे प्रसिद्ध थे। इनमेंसे जेतवनसे नगरमें आनेका दर्वाजा दक्षिण द्वार था। पूर्व्वाराम पूरब दर्वाजेके[4] सामने था। इन्हीं तीन द्वारोंका

---

१ "अत्थि भन्ते, देवगहदारूनि नगरपटिसंखारिकानि आपदत्थाय निक्खित्तानि। स चे तानि राजा दापेति, हरापेथ।" —(द्वितीय पराजिका)

२ "जेतवने रत्तिं वसित्वा पुनदिवसे...दक्खिणद्वारेन सावत्थिं पिण्डाय पविसित्वा पाचीन-द्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे दिवाविहारं करोति।"
—(मज्झि० १।३।६, अ० क० ३६९)

३ "पाचीनद्वारे सङ्घस्स वसनट्ठानं कातुं ते युत्तं विसाखे'ति।"
—(धम्मपद प० ४।८ अ० क० १९९)

४ "पकतियापि सत्था विसाखाय गेहे भिक्खं गण्हित्वा दक्खिणद्वारेन निक्खमित्वा जेतवने वसति। अनाथपिण्डकस्स गेहे भिक्खं गहेत्वा पाचीनद्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे वसति। उत्तरद्वारं सन्धाय गच्छन्तञ्ञेव भगवन्तं दिस्वा चारिकं पक्कमिस्सती'ति जानन्ति।" —(ध० प० ४।८, अ० क० २००)

वर्णन अधिकतर मिलता है। पश्चिम द्वारका होना भी यद्यपि स्वाभाविक है तथापि इसका वर्णन त्रिपिटक या अट्ठकथामें नहीं देखनेमें आता। अट्ठकथासे पता लगता है कि उत्तर द्वारके बाहर एक गाँव बसता था, जिसका नाम 'उत्तर द्वारगाम' था। यह 'उत्तर[1] द्वारगाम' नगरके प्राकार तथा नदीके मध्यकी भूमिमें झोपड़ियोंका एक छोटा गाँव होगा।

विमानवत्थु[2] तथा उदान[3] -अट्ठकथामें 'केवटद्वार' नामक एक और द्वारका वर्णन किया गया है, जिसके बाहर केवटों (मल्लाहों) का गाँव बसा था। उस समय व्यापारकेलिए नदियोंका महत्त्व अधिक था। अतः केवट गाँवका एक बड़ा गाँव होना स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार हमको पिटक और उसकी अट्ठकथाओंसे उत्तर, पूर्व, दक्षिण द्वार, तथा केवट्ट-द्वार इन चार दर्वाजोंका पता लगता है। 'सहेट'के ध्वंसावशेष, तथा उसके दर्वाजोंका वर्णन डाक्टर फोगलने १९०७-८ के पुरातत्त्व-विभागके विवरणमें विस्तारपूर्वक किया है। वहाँ, उन्होंने महेट (श्रावस्ती) का घेरा १७,२५० फीट या ३½ मीलसे कुछ अधिक लिखा है। यद्यपि श्रावस्ती नगर ईसाकी बारहवीं शताब्दीमें मुसलमानों द्वारा वीरान किया गया और इसलिए ईसा पूर्व छठी शताब्दीसे बारहवीं शताब्दीके बीचकी अठारह शताब्दियोंमें हेर-फेर होना बहुत स्वाभाविक है; तथापि इतना हम कह सकते हैं कि कोसल-राज्यके

---

१ "एकदिवसं हि भिक्खू सावत्थियं उत्तरद्वारगामे पिण्डाय चरित्वा... नगरमज्झेन विहारं आगच्छन्ति। तस्मिन् खणे मेघो उट्ठाय पावस्सि। ते सम्मुखागतं विनिच्छयसालं पविसित्वा, विनिच्छयमहामत्ते लञ्छं गहेत्वा सामिके असामिके करोन्ते दिस्वा, अहो इमे अधम्मिका..."

—(ध० प० १९।१, अ० क० ५२९)

२ "केवट्टद्वारा निक्खम्म अहु मय्हं निवेसनं।"

—(वि० व० २:२)

३ "सावत्थिनगरद्वारे केवट्टगामे....पञ्चकुलसतजेट्ठकस्स पुत्तो.,... यसोजो...।"

—(उदान० ३,३। अ० क०११९)

पतन (प्राय: ईसा पूर्व ४ या ५ शताब्दी) के बाद फिर उसे किसी बड़े राज्यकी राजधानी बनानेका मौका न मिला। पाँचवीं शताब्दीके आरम्भमें फाहियानने भी इसे दो सौ घरोंका गाँव देखा था। युन्-च्वेङने भी इसे उजाड़ देखा। इसलिये इतना कहा जा सकता है, कि श्रावस्तीकी सीमा-वृद्धिका कभी मौका नहीं आया; और वर्तमान 'महेट'का १७,२५० फीटका घेरा श्रावस्तीकी पुरानी सीमाको बढ़ाकर नहीं सूचित करता है।

श्रावस्ती भारतके बहुत ही पुराने नगरोंमेंसे है; इसलिये उसके भीतर नियमपूर्वक खुदाई होनेसे अवश्य हमें बहुतसी ऐतिहासिक सामग्री हाथ लगेगी। हम पटनामें मौर्योंका तल, वर्तमान धरातलसे १७ फुट नीचे पाते हैं। श्रावस्तीमें भी बुद्धकालीन सामग्रीके लिए हमें उतना नीचे जाना पड़ेगा। डाक्टर फोगलने प्राकारोंके अनेक स्थानोंपर ईंटें पाई हैं, जो तल और लम्बाई-चौड़ाईके विचारसे ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीसे ईस्वी दशवीं शताब्दी तक की मालूम होती हैं। महेटके प्राकारमें जहाँ कहीं भी जमीन कुछ नीची जान पड़ती है, लोग उसे दर्वाजा कहते हैं, और ये आसपासके किसी वृक्ष या गाँवके नामसे मशहूर हैं। ऐसे दर्वाजे अट्ठाइसके करीब हैं। डाक्टर फोगलने इनकी परीक्षा करके इनमेंसे ग्यारहको ही दर्वाजा माना है, जिनमें उत्तर तरफ एक, पूर्व तरफ एक, दक्षिण तरफ चार और पश्चिम तरफ पाँच हैं। इनमेंसे कौन त्रिपिटक और अट्ठकथामें वर्णित चारों दर्वाजे हो सकते हैं, इस पर जरा विचार करना है।

### उत्तर द्वार

ऊपरके उद्धरणसे मालूम होता है, जब बुद्ध उत्तर दरवाजेकी तरफ जाते थे तो लोग समझ लेते थे, कि अब वे विचरणकेलिए जा रहे हैं। इतनाही नहीं, वहाँ[1] ही हम भद्दियकेलिए प्रस्थान करते हुए उन्हें उत्तर द्वारकी ओर जाते देखते हैं। पर 'भद्दिया' अंगदेशमें ('गंगाके तटपर मुँगेरके आसपास) एक प्रसिद्ध व्यापारी नगर था। श्रावस्तीसे पूर्वकी ओर जानेवाला मार्ग उत्तर द्वार से था।

---

१ "अथेकदिवसं सत्था... भद्दियनगरे... भद्दियस्स नाम सेट्ठिपुत्तस्स उपनिस्सयसम्पत्तिं दिस्वा... उत्तरद्वाराभिमुखो अहोसि।"

— (ध० प० ४।८, अ० क० २८०)

इसके बाहर अचिरवतीमें[1] काठकी बोटोंका पुल रहता था। इससे पार होकर पूर्वका रास्ता था। उत्तर तरफके दर्वाजोंमें सिर्फ नौसहरा[2] ही एक दर्वाजा है, जिसे डाक्टर फोगलके अन्वेषणने पुराना दर्वाजा सिद्ध किया है। बाजार-दर्वाजेसे, जिसे हम दक्षिण दर्वाजा सिद्ध करेंगे, कच्ची कुटीतक चौड़ी सड़कका निशान अब भी स्पष्ट मालूम होता है। यही नगर की सर्वप्रधान सड़क थी। दक्षिण दर्वाजेका बाजार-दर्वाजा नाम भी सम्भवतः कुछ अर्थ रखता है। कच्ची कुटीके पाससे एक रास्ता नौसहरा-दर्वाजेको भी जाता है। नौसहरा-दर्वाजा ही श्रावस्तीका उत्तर द्वार है, जिसके बाहर एक गाँव बसा हुआ था। सड़कके किनारे वाले भागपर कहीं राजकचहरी थी, जिसमें वर्षासे बचनेकेलिए भिक्षु चले गये थे, और वहाँ उन्होंने जजोंको घूस लेकर मालिकों को बेमालिक बनाते देखा।

## पूर्वदर्वाजा

यह बहुतही महत्त्वपूर्ण दर्वाजा था। इसके ही बाहर पूर्वाराम था। पूर्वाराम बहुत ही प्रसिद्ध स्थान था, इसलिए उस जगह स्तूप आदिके ध्वंस अवश्य मिलने चाहिये। गंगापुर-दर्वाजेको ही डाक्टर फोगलने पूर्व तरफमें वास्तविक दर्वाजा माना है। इसके अतिरिक्त काँदभारी-दर्वाजा भी पूर्वदक्षिण कोनेपर है, जिसे भी पूर्व ओर लिया जा सकता है; लेकिन (१) हमने ऊपर देख लिया है कि आनन्दको राजा प्रसेनजित्‌ने पूर्व दर्वाजेके बाहर देखा था, जहाँसे अचिरवती बिलकुल पास थी। काँदभारीके स्वीकार करनेसे वह दूर पड़ जायगी। (२) भगवान् बुद्ध सदाही दक्षिण दर्वाजेसे नगरमें प्रवेश कर, फिर पूर्व दर्वाजेसे निकलकर पूर्वाराम जाते देखे जाते हैं। यदि काँदभारी-दर्वाजा पूर्व दर्वाजा होता, तो जेतवनसे बाहरही बाहर पूर्वाराम जाया जा सकता था, जिसका कहीं जिक्र नहीं है। (३)

---

१ "तेन खो पन समयेन मनुस्सा उलुम्पं बन्धित्वा अचिरवतिया नदिया ओसादेन्ति। बन्धने छिन्ने कट्ठानि विप्पकिण्णानि अगमंसु।"

—(पाराजिक २। पृ० ६८)

२ "Along the river face,.....only one.....Nausahra Darwaza..has proved to be one of the original city-gates."

पुब्बकोट्ठक[1] जो कि अचिरवतीके पास था, वह पूर्वारामके भी पास था, क्योंकि भगवान् सायंकालको स्नानके लिए वहाँ जाते हैं। पासमें रम्यक ब्राह्मणके आश्रममें व्याख्यान भी देते हैं, और फिर पूर्वाराम लौट भी आते हैं।

लेकिन इनके विरुद्ध सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि गंगापुर-दर्वाजेके बाहर आसपास कोई ऐसा ध्वंसावशेष डाक्टर फोगलके नक्शेमें नहीं दिखाई पड़ता। साथ ही काँदभारी-दर्वाजेके बाहर ही हम हनुमनवांके ध्वंसावशेषको देखते हैं। स्थानको देखनेपर काँदभारी-दर्वाजा ही पूर्व दर्वाजा, तथा हनुमनवाँ पूर्वाराम मालूम होता है।

## दक्षिणद्वार

दक्षिणद्वार नगरका एक प्रधान द्वार था। जेतवन जानेका यही रास्ता था। दर्वाजे और जेतवनके बीचमें अक्सर राजकीय सेनाएँ[2] पड़ाव डालती थीं। कारवाँ[3] भी इसी बीचकी भूमिमें ठहरते थे। यही दर्वाजा साकेत (अयोध्या)

---

१ पिंडपातपटिक्कन्तो....येन पुब्बारामो तेनुपसंकामि।....सायन्ह-समयं पटिसल्लाणा वुट्ठितो....येन पुब्बकोट्ठको....गत्तानि परिसिञ्चितुं....। अथ....आनन्दो अयं भन्ते, रम्मकस्स ब्राह्मणस्स अस्समो अविदूरे,....साधु भन्ते....उपसंकमतु अनुकम्पं उपादायाति।.... भगवा....अस्समं पविसित्वा....भिक्खू आमन्तेसि।"

—(म० नि० १।३।६)

२ "एकस्मिं समये वस्सकाले कोसलरञ्ञो पच्चन्तो कुप्पि।....। राजा अकाले वस्सन्ते येव निक्खमित्वा जेतवनसमीपे खन्धावारं बन्धित्वा चिन्तेसि"।

—(जा० १७६, पृ० ४२९)

३ "सेतव्यवासिनो हि...भातरो कुटुम्बिका....अथेकस्मिं समये ते उभोपि भातरो पञ्चहि सकटसतेहि नाना भण्डं गहेत्वा सावत्थिं गन्त्वा सावत्थिया च जेतवनस्य च अन्तरे सकटानि मोचयिंसु।"

—(ध० प० १.६ अ० क० ३३)

जानेका भी था। दक्षिण द्वार और जेतवन[1] के मध्यमें एक जलाशयका वर्णन मिलता है। तमाशे[2] केलिए भी यही जगह निश्चित थी। श्वेताम्बी कपिलवस्तुके रास्तेमें थी, इसलिए वहाँसे श्रावस्ती आनेमें उत्तरद्वारके सामने नदी उतरना पड़ता था; फिर गाड़ियोंका नगरके दक्षिणमें ठहरना बतलाता है कि श्रावस्ती और जेतवनके बीचकी भूमिमें खुली जगह थी, जो पड़ावकेलिए सुरक्षित थी। वैतारा ताल तथा और भी कुछ नीची भूमि, सम्भवतः पुराने जलाशयोंको सूचित करती है।

सवाल यह है कि कौन-सा प्रसिद्ध दक्षिणद्वार है, जिससे जेतवनमें आना-जाना होता था। डाक्टर फोगलके अनुसार गेलही, दर्वाजाही वह हो सकता है, क्योंकि यह दरवाजा सबसे नजदीक है। किन्तु उसके दर्वाजा न होनेमें एक बड़ी भारी रुकावट यह है कि जेतवनका दर्वाजा पूर्वमुख था। यदि गेलही-दर्वाजा उस समय दर्वाजा होता, तो उसकेलिए जेतवनका दर्वाजा उत्तर मुँह का बनाना पड़ता। यद्यपि चीनी यात्रीके अनुसार एक दर्वाजा उत्तरको था, किन्तु पाली-ग्रन्थोंमें उसका पता नहीं है। इस प्रकार दक्षिणद्वार वैतारा और बाजार-दर्वाजा दोनोंहीमें से कोई हो सकता है। पालीग्रन्थोंमें जेतवन श्रावस्ती (दक्षिणद्वार) से न बहुत दूर था न बहुत समीप, यही मिलता है। गेलही-दर्वाजे से जेतवन १३८६ फीट या चौथाई मीलसे कुछ अधिक है। अट्ठकथासे मालूम होता है कि लोग जेतवन जाते वक्त नगरकी बड़ी सड़कसे जाते थे। दूसरी[3]

१ "तेन खो पन समयेन सम्बहुला कुमारका अन्तरा च सावत्थिं अन्तरा च जेतवनं मच्छके बाधेन्ति। ....भगवा पुब्बण्हसमयं....सावत्थियं पिंडाय पाविसि। ......उपसंकमित्वा--भायथ तुम्हेकुमारका दुक्खस्स" (मग्गसमीपे तलाके निदाघकाले उदके परिक्खीणे...।) —(उदान० ५।४, पृ० १९६)

२ ......(चन्दाभत्थेरो, सहायको च)....एवं अनुविचरन्ता सावत्थियं अनुप्पत्ता नगरस्स च विहारस्स च अन्तरा वासं गण्हिंसु।"
—(ध० प० २६।३०, अ० क० ६७०)

३ "सो एक दिवसम्हि पासादवरगतो सिंहपञ्जरं उग्घाटेत्वा महावीथिय ओलोकेन्तो गन्धमालादिहत्थं महाजनं धम्मवनत्थाय जेतवनं गच्छन्तं दिस्वा..."—(सुवण्णसामजातक ५३९)

जगह हम देखते हैं कि श्रावस्ती जाने वाली सड़क जेतवनसे पूर्व होकर जाती थी। इन सारी बातोंपर विचार करनेसे गेलही-दर्वाजा दक्षिणद्वार नहीं, बाजार-दर्वाजा ही हो सकता है क्योंकि इससे जेतवन पूर्वमुख होनेकी भी वजह मालूम हो सकती है। बाजार दर्वाजा दक्षिण-द्वार होनेके लायक है, इसके बारेमें डाक्टर फोगल लिखते हैं[1]—"यह १२ फुट चौड़ा मार्ग एक ऐसे बड़े मार्गपर जाकर समाप्त होता है जो सीधे उत्तरकी ओर जाकर 'कच्ची कुटी'के भग्नावशेषके दक्षिण पूर्वमें स्थित एक मैदानमें मिल जाता है। बाजार-दर्वाजा वस्तुतः किसी पुराने नगर-द्वारके ही स्थानपर है ऐसा माननेकेलिए सबल कारण है, क्योंकि यहींसे एक बड़ी सड़क या बाजारका आरम्भ होता है।"

इस प्रकार बाजार-दर्वाजा एक पुराना दर्वाजा सिद्ध होता है, तथा उसकी सड़क उपरोक्त महावीथी होने लायक है। इसके विरुद्ध वैतारा-दर्वाजेके बारे में डा० फोगलका कहना है कि इमारतोंके ध्वंसावशेषकी अनुपस्थितिमें इस स्थानपर किसी फाटकका अस्तित्व सिद्ध करना असम्भव है। इसतरह वैतारा-दर्वाजेके दर्वाजा होनेमें भी सन्देह है। तिन्दुकाचीर मल्लिकाराम[2] दक्षिणद्वारके पास था। बाजार-दर्वाजेसे प्रायः दो सौ गज पूर्व अब भी एक ध्वंसावशेष है; इसपर एक छोटा-सा मन्दिर चीरेनाथके नामसे विख्यात है। क्या इस चीरेनाथका 'तिन्दुकाचीरे' के चीरेसे तो कोई सम्बन्ध नहीं है? इस प्रकार बाजार-दर्वाजाही दक्षिणद्वार मालूम होता है, जहाँसे जेतवन-द्वार ३७०० फीट पड़ेगा, जोकि गेलही-दर्वाजे (१३८६′) की अपेक्षा अधिक तथा युन्-च्वेङके ५, ६ (फाहियान-६,७) ली के समीप है।

---

१ Archaeological Report, 1907-8

२ "भगवा......जेतवने....। पोट्ठपादो परिब्बाजको समयप्पवादके, तिन्दुकाचीरे एकसालके मल्लिकाय आरामे पटिवसति....सद्धिं तिसमत्तेहि परिब्बाजकसतेहि। भगवा.....सावत्थिं पिण्डाय पाविसि। .....अतिप्पगो खो ताव,....पिण्डाय चरितुं, यन्नूनाहं....येन पोट्ठपादो परिब्बाजको तेनुपसंकमेय्यन्ति।" —(दी० नि० १।९)

"नगरद्वारसमीपं गन्त्वा असनो दत्विवसेन सुरियं ओलोकेत्वा...." —(अ० क० २३९)

## केवट्टद्वार

केवट्टद्वारके बारेमें हम सिर्फ इतनाही जानते हैं कि उसके बाहर पाँच सौ घर मल्लाहोंका एक गाँव (केवट्ट गाम) बसता था। मल्लाहोंका गाँव नदीके समीप होना आवश्यक है। अचिरवतीकी तरफ नगरका प्रधान द्वार उत्तर-द्वार था। उत्तर-द्वारकाही दूसरा नाम केवट्टद्वार था, इसके माननेकेलिए हमें कोई कारण नहीं मिलता। तब यह दर्वाजा सम्भवतः राजगढ़ दर्वाजा था, जो कि महेटके पूर्व-उत्तर कोनेपर नदीके समीप पड़ता है।

श्रावस्ती नगरके भीतरकी वस्तुओंमें राजकाराम, राजप्रासाद, अनाथ-पिंडक और विशाखाके घर, राजकचहरी, बाजार यह मुख्य स्थान हैं; जिनका थोड़ा बहुत वर्णन अट्ठकथाओं और त्रिपिटकमें मिलता है।

## राजकाराम

यह भिक्षुणियोंका आराम था। इसके बनानेके बारेमें धम्मपद अट्ठकथा[1] में कहा गया है—"(बौद्ध भिक्षुणियोंमें सर्वश्रेष्ठ) उत्पलवर्णा एक समय चारिकाके बाद अन्धवनमें वास कर रही थी। उस समय तक भिक्षुणियोंके लिए अरण्यवास निषिद्ध नहीं ठहराया गया था।........उत्पलवर्णा पर आसक्त उसके मामाके लड़के नन्दने उसपर बलात्कार किया। भगवान्ने इसपर राजा प्रसेनजित्से नगरके भीतर भिक्षुणीसंघके लिए निवास-स्थान बनानेको कहा। राजाने नगरमें एक तरफ आराम बनवा दिया। इसके बाद भिक्षुणियाँ नगरके भीतरही वास करती थीं।" मज्झिम-निकायमें—"महाप्रजापति गौतमीने पाँचसौ भिक्षुणियोंकी जमातके साथ

१ "**उप्पलवण्णा......जनपदचारिकं चरित्वा पच्चागता अन्धवनं पाविसि। तदा भिक्खुणीनं अरञ्ञावासो अपटिक्खित्तो होति। अथ'स्सा तत्थ कुटिकं कत्वा मञ्चकं पञ्ञापेत्वा साणिया परिक्खिपिंसु।......मातुलपुत्तो पनस्सा नन्दमाणवो....अभिभवित्वा अत्तना पत्थितकम्मं कत्वा पायासि।....सो पठविं पविट्ठो।......सत्था पन राजानं पसेनदिकोसलं पक्कोसापेत्वा....भिक्खुणी-सङ्घस्स अन्तोनगरे वसनट्ठानं कातुं वट्टतीति। राजा....नगरस्स एकपस्से भिक्खुणी-संघस्स वसन'ट्ठानं कारापेसि। ततो पट्ठाय भिक्खुनियो अन्तो गामे एव वसन्ति।" —(ध० प० ५।१०, अ० क० २३७–२३९)**

जेतवनमें[1] जाकर भगवान्से भिक्षुणियोंको उपदेश देनेके लिए प्रार्थना की। भगवान्ने इसपर आयुष्मान् नन्दक को उपदेश देनेके लिए राजकाराम भेजा। अट्ठकथामें[2] राजकारामके बारेमें इस प्रकार लिखा है—'राजा प्रसेनजित्का बनवाया, नगरके दक्षिणकोणमें ( अनुराधपुरके ) थूपारामके समान स्थानपर विहार।' इस आरामका नगरके दक्षिणी किनारेपर होना स्पष्ट है। साथही यह दक्षिणद्वार से बहुत दूर नहीं था, क्योंकि हम आनन्दको भिक्षुणियोंके आश्रममें जाकर उन्हें उपदेश देकर, पीछे पिण्डपातके लिए जाते देखते हैं[3]।'

अब हमें यह देखना है कि राजकाराम बाजार-दर्वाजेसे किधर हो सकता है। नक्शेके देखनेसे मालूम होगा, वैतारा-दर्वाजेसे इमली दर्वाजे तक प्राकारकी जड़में नगरके भीतरकी तरफ मन्दिरोंकी जगह है। इसमें पश्चिमका भाग जैन मन्दिरों द्वारा भरा हुआ है और पूर्वीय भाग ब्राह्मण मन्दिरों द्वारा। मालूम होता है ब्राह्मण मन्दिरके पूर्व, प्राकारसे सटा ही, राजकाराम था, जिसमें महा-प्रजापती गौतमी अपनी भिक्षुणियोंके साथ रहा करती थीं। यून-च्वेङने राजा प्रसेनजित्का बनवाया हाल, और प्रजापती भिक्षुणीका विहार अलग-अलग वर्णन किया है; किन्तु पाली ग्रन्थोंमें नगरके भीतर राजा प्रसेनजित् द्वारा बनवाया भिक्षुणियोंका आराम ही आता है, जिसे राजकाराम कहते थे।

### अनाथपिण्डकका घर

इसमें सन्देह नहीं कि बाजार-दर्वाजेसे उत्तर-दक्षिण जाने वाली सड़क

---

१ "जेतवने......महापजापती गोतमी पञ्चमत्तेहि भिक्खुनीसतेहि सद्धिं......उपसंकमित्वा......अवोच—ओवदतु भन्ते भगवा, भिक्खुनियो.....। भगवा आयस्मन्तं नन्दकं आमन्तेसि—ओवद नन्दक, भिक्खुनियो।...। अथ......नन्दको....येन राजकारामो तेनु' पसंकमि। —(म० नि० ३।५।४)

२ "पसेनदिना कारितो नगरस्स दक्खिणानुदिसाभागे थूपारामसदिसो ठाने विहारो....।—(अ० क० १०२१ )

३ आयस्मा आनन्दो पुब्बण्हसमयं......येन'ञ्ञातरो भिक्खुन'पस्सयो तेनु'पसंकमि।....भिक्खुनियो धम्मिया कथाय सन्दस्सेत्वा......उट्ठायासना पक्कामि......सावत्थियं पिण्डाय (स० नि० ४६।१।१०)

श्रावस्तीकी महावीथी ( सबसे बड़ी सड़क ) थी। यह विस्तृत सड़क सीधी नगरके उत्तरी भाग तक चली गई है। झाड़ियोंसे रहित इस मार्गकी अगल-बगलकी सीमाएँ अब तक स्पष्ट हैं। नगरका बाजार और बड़े-बड़े धनिकों का घर इसीके किनारेपर होना स्वाभाविक है। इस प्रकार अनाथ-पिंडकके घरको भी इसीके किनारे ढूँढ़ना पड़ेगा। धम्मपद, अट्ठकथा से मालूम होता है कि अनाथपिंडकका[1] घर ऐसे भागपर था, जहाँसे पूर्व और उत्तर दर्वाजोंको रास्ता अलग होता था। अनाथपिंडकके घरसे ही उत्तर दर्वाजेकी[2] तरफ होनेको, विशाखा तभी जान सकती थी, जबकि वहाँसे सीधा रास्ता उत्तर दर्वाजेको गया हो। ऐसा स्थान कच्ची कुटी ही है; जो महावीथीके उस स्थानपर अवस्थित है, जहाँसे एक रास्ता नौसहरा-दर्वाजे ( उत्तर-द्वार ) को मुड़ा है। युन्-च्वेङने प्रजापतिके विहारसे इसे पूर्व ओर बतलाया है; लेकिन उसके साथ इसकी संगति बैठानेका कोई उपाय नहीं है, जबकि राजकाराम दक्षिण द्वारके पास प्राकारकी जड़में होना निश्चित है। अनाथपिण्डकका घर सात महल और सात दर्वाजोंका था। जातकमें[3] उसके चौथे दर्वाजेका भी जिक्र आया है, जिसपर एक देवताका वास था।

## विशाखाका घर

विशाखाका श्वशुर मिगार सेठ श्रावस्तीके सबसे बड़े धनियोंमें था। इसका भी मकान अनाथपिण्डकके मकानके पासमें ही था। क्योंकि ऊपरके उद्धरणमें हम पाते हैं कि भगवान्के अनाथपिण्डकके घरसे उत्तरद्वारकी ओर जानेकी

---

१ "घरं सत्तभूमकं सत्तद्वारकोट्ठकपतिमण्डितं, तस्स चतुत्थे द्वारकोट्ठके एका देवता....।—(जातक० १, पृ० १९७)

२ "अनाथपिंडिकस्स गेहे भत्तकिच्चं कत्वा उत्तरद्वाराभिमुखो अहोसि। पकतियापि सत्था विसाखाय गेहे भिक्खं गण्हित्वा दक्खिणद्वारेन निक्खमित्वा जेतवने वसति। अनाथपिण्डिकस्स गेहे भिक्खं गहेत्वा पाचीनद्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे वसति। उत्तरद्वारं सन्धाय गच्छन्तं....विसाखापि......सुत्वा..... गन्त्वा......"। —(ध० प० ४।९, अ० क० २००)

३ १४२ "अनाथपिण्डिकस्स घरे चतुत्थे द्वारकोट्ठके वसनक मिच्छादिट्ठि-देवता।...... —(जातक २८४, पृ० ६४९)

खबर तुरन्त विशाखाको लग गई। सम्भवतः पक्की कुटी या स्तूप "ए" विशाखाके घरको चिन्हित करते हैं।

### राजमहल

यह (१) अचिरवती नदीके किनारे था, क्योंकि राजा प्रसेनजित् और मल्लिका देवीने अपने कोठेपरसे अचिरवतीमें खेलते-नहाते हुए छवग्गीय भिक्षुओंको देखा। (२) पुब्बकोट्ठक[1] इससे बहुत दूर न था, क्योंकि राजाके नहानेके लिए यहाँ एक खास घाट था। (३) वह[2] विशाखाके घर और पूर्वद्वारके बीचमें, पूर्वद्वारके समीप पड़ता था, क्योंकि विशाखा राजाके पास वहाँ अधिक चुंगी लेनेके विषयमें फरियाद करने जाती है, फिर वहाँसे दूर न होनेकी वजह पूर्वाराम चली जाती है, तब भगवान्के मध्याह्नमें ही आनेका कारण पूछनेपर वह राजदर्बारके कामको बतलाती है। विशाखाका घर महावीथीपर अनाथपिण्डकके[3] घरके पास ही थी, यह हम पहले बतला आये हैं। (४) राजा प्रसेनजित्के हाथीपर सवार होकर नगरसे बाहर जाते वक्त आनन्दसे पूर्वद्वारके बाहर भेंट होना भी बतलाता है, कि राजमहल पूर्वद्वारके समीप था। राजाकी यह यात्रा किसी विशेष कामकेलिए न थी, अन्यथा उसे आनन्दसे अचिरवतीके किनारे पेड़के नीचे बैठकर व्याख्यान

---

१ "कस्सपदसबलस्स काले अचिरवती....उदकेन भिन्दित्वा महन्तं उदकवहं मापेसि समतित्थं अनुपुब्बगम्भीरं। तत्थ एको रञ्ञो नहानतित्थं, एकं नागरानं एकं भिक्खुसंघस्स, एकं बुद्धानान्ति....।" —(म० नि १।३।६, अ० क० ३७१)

२ "विसाखाय....कोचिदेव अत्थो रञ्ञो पसेनदिम्हि....पटिबद्धा होति। तं राजा पसेनदि....न यथाधिप्पायं तीरेति। अथ खो विसाखा....दिवादिवस्स उपसंकमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा...निसीदि।...हन्त! कुतो नु त्वं विसाखे आगच्छसि दिवादिवस्स ?" —(उदान० २।९)

३ "ञातिकुलतो.....माणमुत्तादिरचितं भण्डजातं तस्या पण्णकारत्थाय पेसितं। तं नगरद्वारप्पत्तं सुंकिका...सुंकं...अतिरेकं गण्हिंसु। दिवादिवस्साति... मज्झन्तिके कालेति अत्थो। राजनिवेसनद्वारं गच्छन्ती तस्स अत्थस्स अनिट्ठितत्ता निरत्थकमेव उपसंकमि, भगवति उपसंकमनमेव पन...सत्थकन्ति...इमाय वेलाय इधागता'ति। —[उ० अ० क० १०५ (११०)]

सुननेकी फुर्सत कहाँ होती ? बिना कामके दिल बहलावके लिए नगरसे बाहर निकलनेमें उसका महलके नजदीक वाले दर्वाजेसे ही शहरके बाहर जाना अधिक सम्भव मालूम होता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे मालूम होता है कि राजकीय प्रासादमें उत्तरमें नौसहरा-दर्वाजेसे बाँकी दर्वाजे तक, और दक्षिणमें महावीथीके मकानसे गंगापुर-दर्वाजे तक था। युनूच्वेङ्का[१] कहना है— "राज-प्रासादसे थोड़ीही दूर पूर्वकी ओर एक स्तूप है, जो पुरानी बुनियादोंपर खड़ा है। यह वह स्थान है जहाँ राजा प्रसेनजित् द्वारा बुद्धके उपयोगके लिए बनवायी हुई शाला थी। इसके बाद एक बुर्ज है यहींपर प्रजापतीका विहार था।" इसके अनुसार राजमहल राजकाराम से पश्चिम था। लेकिन ऐसा स्वीकार करनेपर, वह अचिरवतीके किनारे नहीं हो सकता, जिसका प्रमाण अट्ठकथासे भी पुराने विनयग्रन्थोंमें मिलता है।

### कचहरी

हमें मालूम है, कि उत्तरद्वारसे नगरके भीतर होकर आते हुए भिक्षुओंको 'विनिच्छयसाला' (कचहरी) मिली थी, जहाँ उन्होंने जजोंको घूस लेकर अन्याय करते देखा था। कचहरीका राजकीय महलके हलकेसे मिला हुआ होना अधिक सम्भव प्रतीत होता है। इस प्रकार यह कचहरी राजमहलके उत्तर-पश्चिमके कोणवाले भागपर नौसहरा-दर्वाजेके पास रही होगी।

### महावीथी

(१) यह नगरकी प्रधान सड़कथी, यह इसके नाम से स्पष्ट है। (२) सुवण्णसामजातकमें[२] उल्लिखित धनी सेठका मकान, सम्भवतः अन्य सेठोंकी भाँति इसी महावीथीपर था। यह वीथी जेतवन जाने वाले द्वार—दक्षिण-द्वार—को सीधी जाती थी, तभी तो वह सेठ अपने मकानसे लोगोंको गन्धमाला लेकर भगवान् के दर्शनार्थ जाते हुए देखकर उनका जेतवन जाना निश्चित कर रहा है। (३) अनाथ पिण्डकके मकानसे निकलतेही मालूम हो जाता था, कि भगवान् पूर्व

१ Beal, pp. 92, 93.

२ "सावत्थियं किर अट्ठारसकोटिविभवस्स एकस्स सेट्ठिकुलस्य एकपुत्तो अहोसि। सो एकदिवसम्हि पासादवरगतो सीहपञ्जरं उग्घाटेत्वा महावीथियं ओलोकेन्तो गन्धमालादिहत्थं महाजनं धम्मस्सवनत्थाय जेतवनं गच्छन्तं दिस्वा...।
—(सुवण्णसामजातक ५३९)

दर्वाजेको जा रहे हैं, या उत्तर वाले दर्वाजेको। दक्षिण दर्वाजेको जानेवाली वीथी हमें मालूम ही है, जिसकी विशेषता इस समय भी स्पष्ट है। इस प्रकार दक्षिण (बाजार) दर्वाजेसे उत्तर मुँहको जो चौड़ी सड़क-सी हमें मालूम पड़ रही है, यही महावीथी है; जिसके बारेमें कि डा० फोगल ने सर्वे रिपोर्ट में[१] लिखा है।

दक्षिण दर्वाजेका बाजार-दर्वाजा नाम भी इस विषयमें खास अर्थ रखता है।

### गण्डम्बरुक्ख

यद्यपि भगवान्‌के समयमें इस आमके[२] वृक्षका होना सम्भव नहीं है, किन्तु, परवर्ती कालमें इसका अधिक महत्त्व पाया जाना बिल्कुल निश्चित है। ५२२ ई० पू० की आषाढ़ी पूर्णिमाके दिन नगरमें प्रवेश करनेपर, कहते हैं, गण्ड उद्यानपालने एक पका आम भगवान्‌को दिया। भगवान्‌ने खाकर उसे वहीं रोपवा दिया, और उनकी अद्‌भुत् शक्तिसे वह उसी समय बड़ा वृक्षहो गया। कुछ भी हो, परवर्तीकालमें बाजार-दर्वाजेके अन्दर बाजारके घरोंसे पहलेही, अर्थात् दर्वाजेसे थोड़ाही आगे एक आमका वृक्ष था, जो इस प्रकारके चमत्कारका स्मारक था। इस स्थानपर भी कोई स्तूप अवश्य रहा होगा। सम्भवतः यह वृक्ष महावीथीसे राजकाराम जानेवाले मोड़पर ही था।

---

१ "A Passage 12' wide which gives access to a broad path leading almost due north and widening out into a glade, which is situated south-east of the ruined temple known as the Kachhikuti,........the Bazar Darwaza it seems to be the starting point of a broad street of bazar...."

A.S.R., 1907-8, p. 86

२ "सत्था आसाळ्हिपुण्णमदिवसे अन्तोनगरं पाविसि। रञ्ञो उय्यानपालो गण्डो नाम....अम्बपक्कं......आदाय गच्छन्तो अन्तरामग्गे सत्थारं दिस्वा चिन्तेसि—राजा इमं अम्बं खादित्वा मय्हं अट्ठ वा सोलस वा कहापणे ददेय्य।... सो तं अम्बं सत्थु उपनामेसि।....सत्था....अम्बपानकं पिवित्वा गण्डं आह— इमं अम्बट्ठिं इधेव......रोपेहीति।....हत्थे धोतमत्ते येव....पण्णासहत्थो अम्बरुक्खो....पुप्फफलसंछन्नो हुत्वा......।"

—(ध० प० १४२, अ० क० ४४८)

**पञ्चछिद्दकगेह, ब्राह्मणवाटक**

पञ्चछिद्दकगेह भी एक बड़े चमत्कारका स्थान है। चमत्कारिक स्थानोंके लिए जनताका अधिक उत्साह सभी धर्मोंमें देखा जाता है। इसका 'पञ्चछिद्दकगेह' नाम कैसे पड़ा, यह अट्ठकथा[१] में दिया गया है। यद्यपि ऐसे किसी स्थानका वर्णन फाहियान और यून्-च्वेङमेंसे किसीने नहीं किया है; तो भी यह स्थविरवादियोंकी पुरानी परम्परापर अवलम्बित है। युन्च्वेङके समयमें भी श्रावस्ती और उसके आसपासके विहार साम्मितीय सम्प्रदायके भिक्षुओंके आधीन थे जोकि हीनयानी थे, और महायानकी अपेक्षा विभज्जवाद (स्थविरवाद)से बहुत मिलते-जुलते थे। युन्-च्वेङका वर्णन श्रावस्तीके विषयमें अत्यन्त संक्षिप्त है, इसलिए पञ्चछिद्दकगेहका छूट जाना स्वाभाविक है। कथा यों है—"एक ब्राह्मणीने बड़े स्थविरोंको निमन्त्रित किया। सात वर्षके लड़कोंको आया देखकर ब्राह्मणी असन्तुष्ट हुई। फिर उसने अपने पतिको ब्राह्मणवाटसे ब्राह्मण लेनेको भेजा। उन श्रामणेरोंके तपोबलसे शक्र वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारणकर ब्राह्मणवाटमें ब्राह्मणोंके बीच अग्रासनपर जाकर बैठ गया। ब्राह्मण शक्रको लेकर घर लौटा। चार श्रामणेर और शक्र भोजनकर पाँचओर से निकल गये। श्रामणेरोंमेंसे एक कोनियामें घुसकर निकल गया; एक छाजनके पूर्वभाग में, एक पश्चिम भागमें और एक पृथ्वीमें शक्र भी किसी स्थानसे बाहर चला गया। उस दिनसे उस घर का नाम पञ्चछिद्दकगेह पड़ गया।" यह ब्राह्मणवाट शायद

---

१ "एका किर ब्राह्मणी चतुन्नं भिक्खूनं उद्देसभत्तं सज्जेत्वा ब्राह्मणं आह—विहारं गन्त्वा चत्तारो महल्लकब्राह्मणे उद्दिसिस्वा आनेहीति।....।..तत्थ संकिच्चो, पण्डितो, सोपाको, रेवतोति सत्तवस्सिका चत्तारो खीणासवसामणेरा पापुणिंसु। ब्राह्मणी सामणेरे दिस्वा कुपिता। अथ तेसं गुणतेजेन (सक्को) जराजिण्णमहल्लकब्राह्मणो हुत्वा तस्मि ब्राह्मणवाटके ब्राह्मणानं अग्गासने निसीदि। ब्राह्मणो....तं आदाय गेहं अगमासि।....पञ्च' पि जना आहारं गहेत्वा एको कण्णिकामंडलं विनिविज्झित्वा एको छदनस्स पुरिमभागं एको पच्छिमभागं एको पठविया निमुज्जित्वा सक्कोपि एकेन ठानेन निक्खमित्वाति एवं पञ्चधा अगमंसु? ततो पट्ठाय च पन तं गेहं पञ्चछिद्दकगेहं किर नाम जातं।"
—(ध० प० २६।२३, अ० क० ६६३, ६६४)

श्रावस्तीमें ब्राह्मणोंका कोई विशेष पवित्र स्थान था, जहाँ ब्राह्मण इकट्ठे हुआ करते थे। घुसुंडी ( पुरातन माध्यमिका ) के पासके ई० पू० द्वितीय शताब्दीके शिलालेखमें[1] 'नारायणवाट' शब्द आया है। 'यज्ञवाट' भी इसी प्रकारका एक शब्द है। 'वाट' शब्द विशेषकर पवित्र स्थानोंकेलिए प्रयुक्त होता था। यह ब्राह्मणवाट कहाँ था, यद्यपि इसके लिए और कोई निश्चित प्रमाण हमारे पास नहीं है, तथापि अनुमान किया जा सकता है, कि ब्राह्मणोंके लिए बहुतही पवित्र स्थान रहा होगा। यद्यपि छठी शताब्दी ई० पू० (वि० पू० ४४३–५४२) में यज्ञोंका युग था, अभी मूर्तिपूजा आरम्भ न हुई थी; तो भी मूर्तिपूजाके युगमें इस स्थानकी पवित्रताका ख्यालकर अवश्य इसे भी उपयुक्त बनाया गया होगा। हम देख आये हैं कि, श्रावस्तीके दक्षिण दीवार-से सटे हुए वैतारा-दर्वाजेसे शोभनाथ-दर्वाजे तककी भूमि हिन्दू और जैन मन्दिरोंकेलिए सुरक्षित थी। भिक्षुणियों के आराम (राज-काराम)को भी हमने यहीं निश्चित किया है। ऐसी हालतमें राजकाराम और जैन मन्दिरोंके बीचकी भूमि, जिसमेंकि हिन्दू मन्दिर स्थित हैं, ब्राह्मणवाट होनेके लायक है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपयुक्त स्थान ब्राह्मणवाटकेलिए अचिरवतीके किनारेकी तरफ सूर्यकुण्ड या मीरासैयदकी कब्र की जगहों पर, ढूँढ़ा जा सकता है।

### सड़कें

महावीथीके अतिरिक्त एकही ओर सड़क है, जिसका हमें पता है। यह है अनाथपिण्डकके घरसे पूर्वद्वारको जाने वाली।

### चुंगीकी चौकियाँ

हम देख चुके हैं कि नगरके दर्वाजोंपर चुंगीकी चौकियाँ थीं। चुंगीवालोंने अधिक चुंगी लेली थी, जिसके लिए विशाखाको राजाके पास जाना पड़ा था।

नगरके भीतर सम्बन्ध रखनेवाले स्थानोंमेंसे जिन-जिनके विषयमें त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओंमें कुछ आया है, उनका हम वर्णन कर चुके हैं। बाहरवाले स्थानोंमें सबसे प्रधान है जेतवन। उसके बाद पूर्वाराम, समयप्पवादकआराम, अन्धवन, ये तीन स्थान हैं, जिनका वर्णन हमें त्रिपिटक और अट्ठकथामें मिलता है।

---

१ श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १६, पृ० २७।

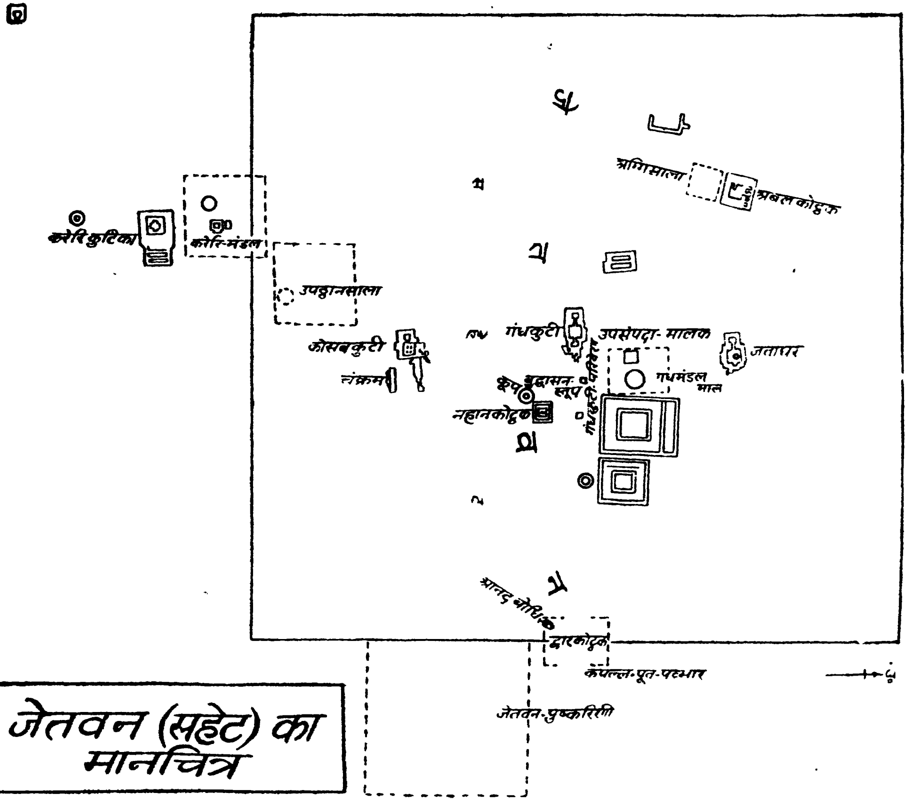
## ५. जेतवन

जेतवन श्रावस्तीसे दक्षिण तरफ था; चीनी भिक्षुओंके अनुसार यह प्रायः एक मील (५, ६, ७ ली) के फासले पर था। पुरातत्त्व-विषयक खोजोंसे निश्चित हो चुका है कि महेटसे दक्षिण सहेटही जेतवन है। चीनी यात्रियोंके ग्रन्थोंमें हम इसका दर्वाजा पूर्व मुँह देखते हैं। जेतवनकी खुदाईमें जो दो प्रधान इमारतें निकली हैं, जिन्हें गंधकुटी और कोसंबकुटीसे मिलाया गया है, दोनोंका द्वार पूर्वको ही है। यह इस बातकी साक्षी देते हैं कि मुख्य द्वार पूर्व तरफ था। नगरसे दक्षिण होनेपर भी प्रधान दर्वाजा उत्तर मुँह न होकर पूर्व मुँह था, इसका कारण यही था कि श्रावस्तीका दक्षिण द्वार वहाँसे पूर्व तरफ पड़ता था। जेतवन बौद्ध धर्मके अत्यन्त पवित्र स्थानोंमेंसे है। यद्यपि त्रिपिटकके अत्यन्त पुरातन भाग **दीघनिकाय** (महापरिनिब्बानसुत्त[1]) में जो चार अत्यन्त पवित्र स्थान गिनाये गये हैं, उनमें इसका नाम नहीं है; तो भी दीघनिकायकी **अट्ठकथा**[2]में इसे चार 'अविजहित' स्थानोंमें रखा गया है। त्रिपिटकमें सुरक्षित बुद्धके उपदेशोंमें सबसे अधिक जेतवनमें हुए हैं। **मज्झिमनिकायके** डेढ़सौ सुत्तोंमें ६५ जेतवनहीमें कहे गये; संयुक्त और अंगुत्तर निकायमें तीन चतुर्थांशसेभी अधिक सुत्त जेतवनमें कहे गये हैं।

---

१ चत्तारिमानि आनन्द! सद्धस्स कुलपुत्तस्स दस्सनीयानि...ठानानि...इध तथागता जातोंति,...इध तथागतो अनुत्तरं सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुद्धोति,... इध तथागतेन अनुत्तरं धम्मचक्कं पवत्तितन्ति,...इध तथागतो अनुपादिसेसाय निब्बाणधातुया परिनिब्बुतो'ति...। —महा० परि० सुत्त, १६

२ चत्तारि अविजहितट्ठानानि...बोधिपल्लंको...। धम्मचक्कप्पवत्तनट्ठानं इसिपतने मिगदाये...। देवोरोहणकाले संकस्सनगरद्वारे पठमपदगण्ठि...। जेतवने गन्धकुटिया चत्तारि मञ्चपादट्ठानानि अविजहितानेव होन्ति।...विहारोपि न विजहति येव....। इदानि नगरं उत्तरतो विहारो दक्खिणतो...। —दी० नि०, महापदानसुत्त, १४; अ० क० २८२




# जेतवन (सहेट) का मानचित्र

भिक्षुओंके शिक्षापदोंमेंभी अधिक श्रावस्ती—जेतवनमें ही दिये गये। विनय पिटक के 'परिवार'ने नगरोंके हिसाबसे उनकी सूची इस प्रकार दी है—

**कतमेसु सत्तसु नगरेसु पञ्ञत्ता ।**

.............................

**दस वेसालियं पञ्ञत्ता, एकवीसं राजगहे कता ।**
**छ-ऊन तीणि सतानि, सब्बे सावत्थियं कता ॥**
**छ आलवियं पञ्ञत्ता, अट्ठ कोसंबियं कता ।**
**अट्ठ सक्केसु वुच्चन्ति, तयो भग्गेसु पञ्ञत्ता ॥**

**—परिवार, गाथासंगणिक।**

अर्थात् साढ़े तीनसौ शिक्षापदोंमें २९४ श्रावस्तीमें ही दिये गये। और परीक्षण करने पर इनमेंसे थोड़ेसे ही पूर्वारामनें और बाकी सभी जेतवनमें दिये गये। इसलिए जेतवनका[1] खास स्थान होना ही चाहिये।

विनयपिटक के चुल्लवग्गमें जेतवनके बनाये जानेका इतिहास दिया गया है। विनयपिटककी पाँच पुस्तकें हैं—**पाराजिक, पाचित्ति, महावग्ग, चुल्लवग्ग** और **परिवार**। इनमेंसे **परिवार तो पहले चारोंका सरल संग्रह मात्र है**। संग्रह-समाप्ति ईसाकी प्रथम या द्वितीय शताब्दीमें हुई जान पड़ती है। बाकी चार उससे पुराने हैं। इनमें भी महावग्ग और चुल्लवग्ग, जिन्हें इकट्ठा **'खंधक'** भी कहते हैं।,पातिमोक्खको छोड़ विनयपिटकके सबसे पुराने भाग हैं; और इनका प्रायः सभी अंश **अशोक** (तृतीय संगीति) के समयका मानना चाहिये। चुल्लवग्ग[2] की कथा यों है—

"अनाथपिंडक गृहपति राजगृहके **श्रेष्ठीका** बहनोई थी। एक बार अनाथपिंडक **राजगृह** गया। उस समय राजगृहके श्रेष्ठीने संघ-सहित बुद्धको निमंत्रित किया था। अनाथपिंडकको बुद्धके दर्शनकी इच्छा हुई। वह अधिक रात रहतेही घरसे निकल पड़ा और **सीवद्वारसे** होकर सीतवन पहुँचा। उपासक बननेके बाद उसने

---

१ **इदंहि तं जेतवनं इसिसंघनिसेवितं ।**
**आउट्ठं धम्मराजेन पीतिसंजननं मम ॥**
**—सं० नि०, १:५:८, २:२:१०।**

२ **विनयपिटक, सेनासनक्खन्धक पृ०, २५४।**

सावत्थीमें भिक्षु-संघ-सहित बुद्धको, वर्षा-वास करनेके लिए निमंत्रित किया। अनाथपिंडकने श्रावस्ती जाकर चारों ओर नजर दौड़ाई। उसने विचार किया कि भगवान्का विहार ऐसे स्थानमें होना चाहिये, जो ग्रामसे न बहुत दूर और न बहुत समीप हो। जहाँ आने-जानेकी आसानी हो, आदमियोंके पहुँचने योग्य हो। जहाँ दिनमें बहुत जमघट न हो और जो रातमें एकांत और ध्यानके अनुकूल हो। अनाथपिंडकने राजकुमार जेतके उद्यानको देखा, जो इन लक्षणोंसे युक्त था। उसने राजकुमार जेतसे कहा—आर्यपुत्र! मुझे अपना उद्यान आराम बनानेके लिए दो। राजकुमारने कहा—वह (कहापणोंकी) कोटि (=कोर) लगाकर बिछानेसे भी अदेय है। अनाथपिंडकने कहा—आर्यपुत्र! मैंने आराम ले लिया। बिका या नहीं बिका इसके लिए उन्होंने कानूनके मंत्रियोंसे पूछा। महामात्योंने कहा—आर्यपुत्र! आराम बिक गया, क्योंकि तुमने मोल लिया। फिर अनाथपिंडकने जेतवनमें कोरसे कोर मिलाकर मोहरें बिछा दीं। एक बारका लाया हुआ हिरण्यद्वारके कोठेके बराबर थोड़ीसी जगहकेलिए काफी न हुआ। गृहपतिने और हिरण्य (=अशर्फी) लानेकेलिए मनुष्योंको आज्ञा दी। राजकुमार जेतने कहा—बस गृहपति, इस जगहपर मत बिछाओ। यह जगह मुझे दो, यह मेरा दान होगा। गृहपतिने उस जगहको जेत कुमारको दे दिया। जेत कुमारने वहाँ कोठा बनवाया। अनाथपिंडक गृहपतिने जेतवनमें विहार, परिवेण, कोठे, उपस्थान-शाला, कप्पिय-कुटी, पाखाना, पेशाबखाना, चंक्रम, चंक्रमणशाला, उदपान, उदपान शाला, जंताघर, जंताघरशाला, पुष्करिणियाँ और मंडप बनवाये। भगवान् धीरे-धीरे चारिका करते श्रावस्ती, जेतवनमें पहुँचे। गृहपतिने उन्हें खाद्य भोज्यसे अपने हाथों तर्पित कर, जेतवन को आगत-अनागत चातुर्दिश संघकेलिए दान किया।"

अनाथपिंडकने 'कोटिसंथारेन" (कार्षापणोंकी कोरसेकोर मिलाकर) इसे खरीदा था। ई० पू० तृतीय शताब्दीके भरहुतके स्तूपोंमें भी 'कोटि-संठतेन केता' उत्कीर्ण है। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि कार्षापण बिछाकर जेतवन खरीद करनेकी कथा ई० पू० तीसरी शताब्दीमें प्रसिद्ध थी।

पाली ग्रन्थों[1] में जेतवनकी भूमि आठ करीष लिखी है। 'करीसं चतुरम्मणं'

---

१ देखो उपर्युक्त चुल्लवग्गकी अट्ठकथा।

पालिकोष **अभिधमप्पदीपिका** (१९७) में आता है। डाक्टर **रीस डेविड्सने** 'अम्मण' (सिंहली अनुमुणु, सं० अर्मण) को प्रायः दो एकड़के बराबर लिखा है। इस प्रकार सारा क्षेत्रफल ६४ एकड़ होगा। श्री दयाराम साहनीने (१९०७-८ की Arch S. R., p. 117) लिखा है—

"The more conspicuous part of the mound at the present is 1600 feet from the north-east corner to the south-west, and varies in width from 450′ to 700′, but it formerly extended for several hundred feet further in the eastern direction"

इस हिसाबसे क्षेत्रफल बाईस एकड़ होता है। यद्यपि अठारह करोड़ संख्या संदिग्ध है, तो भी इसे कार्षापण मानकर (जिसका ही व्यवहार उस समय अधिक प्रचलित था) देखनेसे भी हमें इस क्षेत्रफलका कुछ अनुमान हो सकता है। पुराने 'पंचमार्क' चौकोर कार्षापणोंकी लम्बाई-चौड़ाई यद्यपि एक समान नहीं है, तो भी हम उसे सामान्यतः ·७ इंच ले सकते हैं, इस प्रकार एक कार्षापणसे ·४९ या $\frac{1}{2}$ वर्ग इंच भूमि ढँक सकती है, अर्थात् १८ करोड़ कार्षापणोंसे ९ करोड़ वर्ग इंच, जो प्रायः १४·३५ एकड़के होते हैं।[1] आगे चलकर, जैसाकि हम बतलायेंगे, विहार नं० १९ और उसके आस-पासकी भूमि जेतवनकी नहीं है, इस प्रकार क्षेत्रफल १२००′×६००′ अर्थात् १४·७ एकड़ रह जाता है जो १८ करोड़के हिसाबके समीप है। गंधकुटी जेतवनके प्रायः बीचोबीच थी। खेत नं० ४८७ जेतवनकी पुष्करिणी है, क्योंकि नक्शा नं० १ का डी० इसीका संकेत करता है। आगे हम बतलाएँगे कि पुष्करिणी जेतवन विहारके दर्वाजेके बाहर थी। पुष्करिणीके बाद पूर्व तरफ जेतवनकी भूमि होनेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती। इस प्रकार गंधकुटीके बीचोंबीचसे ४०० फीटपर, पुष्करिणीकी पूर्वीय सीमाके कुछ आगे बढ़कर जेतवनकी पूर्वीय सीमा थी। उतना ही पश्चिम

---

१ दीघनिकाय अट्ठकथा, महापदानसुत्त, २८। "अम्हाकंपण भगवतो पकतिमानेन सोलसकरीसे, राजमानेन अट्ठ करीसे पदेसे विहारो पतिट्ठितोति।"

तरफ मान लेनेपर पूर्व-पश्चिमकी चौड़ाई ८००′ होगी। लम्बाई जाननेके लिए जेतवनखास के विहार नं० ५ (कारेरि गंधकुटी) को सीमापर रखना चाहिये। गंधकुटीसे दक्षिण ६८०′ उतना ही उत्तर ले लेनेसे लम्बाई उत्तर-दक्षिण १३६०′ होगी; इस प्रकार सारा क्षेत्रफल प्रायः २५ एकड़के होगा। इस परिणामपर पहुँचनेके लिए हमारे पास तीन कारण हैं—(क) गंधकुटी जेतवनके बीचोबीच थी, जेतवन वर्गाकार था, इसके लिए कोई प्रमाण न तो लेखमें है और न भूमिपर ही। इसलिए जेतवनको एक आयात क्षेत्र मानकर हम उसके बीचोबीच गंधकुटीको मान सकते हैं। (ख) गंधकुटीके पूर्व तरफका डी० ही पुष्करिणीका स्थान मालूम होता है, जिसकी पूर्वीय सीमासे जेतवन बहुत दूर नहीं जा सकता। (ग) विहार नं० १९ को राजकाराम मान लेनेपर जेतवनकी सीमा बिहार नं० ५ तक जा सकती है।

ऊपरके वर्णनसे हम निम्न परिणाम पर पहुँचते हैं—

(१) १८ करोड़ कार्षापण बिछानेसे १८·३४८ एकड़

(२) साहनी के अनुसार वर्तमान में २२·२ एकड़ (१६००′×६००′)

(३) उसमेंसे राजकाराम निकाल देनेपर १४·७ ए० (१२००′×६००′)

(४) गंधकुटी, पुष्करिणी, कारेरि कुटीसे २४·९ ए० (१३६०′×८००′)

(५) ८ करीस १, २ (अम्मण = २ एकड़) ६४ एकड़

एक और तरहसे भी इस क्षेत्रफलके बारेमें विचार कर सकते हैं। करीस[१] (संस्कृत खारीक) का परिमाण अभिधानप्पदीपिका और लीलावतीमें इस प्रकार दिया है—

| | | | |
|---|---|---|---|
| ४ कुडव या पसत (पसर) | = १ पत्थ | ४ कुडव | = प्रस्थ |
| ४ पत्थ | = १ आल्हक | ४ प्रस्थ | = आढक |
| ४ आल्हक | = १ दोण | ४ आढक | = द्रोण |

---

१ परमत्थजोतिका II, p. 476 "तत्थ वीसतिखारिकोति, मागधकेन पत्थेन चत्तारो पत्था कोसलरट्ठेकपत्थो होति, तेन पत्थेन चत्तारो पत्था आढकं, चत्तारि आढकानि दोणं, चतुदोणं मानिका, चतुमानिकं खारि, ताय खारियाः वीसति खारिको तिलवाहोति; तिलसकटं।"

| | | |
|---|---|---|
| ४ द्रोण | = १ माणी | |
| ४ माणी | = १ खारी | १६ द्रोण = खारी |

विनयमें ४ **कहापण**का एक कंस लिखा है। कंसको कर्ष मान लेनेपर यह वजन और भी चौगुना हो जायगा, अर्थात् १६ मनसे भी ऊपर। ऊपरके नाममें २० खारीका एक तिलवाह, अर्थात् तिलों भरी गाड़ी माना है, जो इस हिसाबसे अवश्यही गाड़ीके लिए असंभव हो जायगा।

**सुत्त० नि० अट्ठकथा**में कोसलक परिमाण इस प्रकार है।

| | |
|---|---|
| ४ मागधक पत्थ | = कोसलक पत्थ |
| ४ को० पत्थ | = को० आढ़क |
| ४ को० आ० | = को० दोण |
| ४ को० दो० | = को० मानिका |
| ४ को० मा० | = खारी |
| २० खारी | = १ तिलवाह ( = तिलसकट अर्थात् तिल से लदी गाड़ी) |

**वाचस्पत्य**के उद्धरणसे यह भी मालूम होता है कि ४ पल एक कुडवके बराबर है। **लीलावती**ने पलका मान इस प्रकार दिया है—

| | |
|---|---|
| ५ गुंजा | = माष |
| १६ माष | = कर्ष |
| ४ कर्ष | = पल |

अभिधानप्पदीपिकासे यहाँ भेद पड़ता है—

| | |
|---|---|
| ४ वीहि (व्रीहि) | = गुंजा |
| २ गुंजा | = माषक |

माषक कर्ष ( = कार्षापण)का सोलहवाँ भाग है। **विनय**[1]में २० मासेका कहापण ( = कार्षापण) लिखा है। **समंतपासादिका**ने इसपर टीका करते हुए, इससे कम वजनवाले रुद्रदामा आदिके कार्षापणोंका निर्देश किया है, हमें यहाँ उनसे प्रयोजन नहीं। हम इतना जानते हैं कि पुराने पंच-मार्कके कार्षापण

१ **विनयपिटक पाराजिका, २**

सिक्कोंका वजन प्रायः १४६ ग्रेनके बराबर होता है। यही वजन उस समयके कर्षका भी है। आजकल भारतीय सेर ८० तोलेका है, और तोला १८० ग्रेनके बराबर होता है। इस प्रकार एक मागध खारी आजकलके ४१·८ सेरके बराबर, अर्थात् प्रायः एक मन होगी और कोसलक खारी ४ मनके करीब। करीसका संस्कृत पर्याय खारीक अर्थात् खारीभर बीजसे बोया जाने वाला खेत (तस्य वापः, **पाणिनि** ५: १: ४५) है। पटनामें पक्के ८ मन तेरह सेर धानसे आजकल १६ एकड़ खेत बोया जा सकता है, इससे भी हमें, जेतवनकी भूमिका परिमाण, एक प्रकारसे, मिलता है।

**राजकाराम** (सललागार)—अब हमें जेतवनकी सीमाके विषयमें एक बार फिर कुछ बातोंको साफ कर देना है। हमने पीछे कहा था कि विहार नं० १९ जेतवन-खासके भीतर नहीं था। **संयुत्त-निकाय**[२] में आता है—एक बार भगवान् श्रावस्तीके राजकाराममें विहार करते थे। उस समय एक हजार भिक्षुणियोंका संघ भगवान्के पास गया। इसपर **अट्ठकथा**में लिखा है—राजा **प्रसेनजित्** द्वारा बनवाए जाने के कारण इसका नाम राजकाराम पड़ा था। बोधिके पहले भाग (५२७१३ ई० पू०) में भगवान्के महान् लाभ-सत्कारको देखकर तीर्थिक लोगोंने सोचा, यह इतनी पूजा शील-समाधिके कारण नहीं है। यह तो इसी भूमिका माहात्म्य है। यदि हम भी जेतवनके पास अपना आराम बना सकें तो हमें भी लाभ-सत्कार प्राप्त होगा। तीर्थिकोंने अपने सेवकोंसे कहकर एक लाख कार्षापण इकट्ठा किया। फिर राजाको घूस देकर जेतवनके पास तीर्थिकाराम बनवानेकी आज्ञा ले ली। उन्होंने जाकर, खंभे खड़े करते हुए, हल्ला करना शुरू किया। बुद्धने गंधकुटीसे निकलकर बाहरके चबूतरेपर खड़े हो आनन्दसे पूछा—ये कौन हैं आनन्द! मानो केवट मछली मार रहे हों। आनन्दने कहा—तीर्थिक जेतवनके पासमें तीर्थिकाराम बना रहे हैं। आनन्द! ये शासन के विरोधी भिक्षु-संघ-के विहारमें गड़बड़ डालेंगे। राजासे कह कर हटा दो। आनन्द भिक्षु संघके साथ राजाके पास पहुँचे। घूस

---

२ **सोतापत्ति-संयुत्तं** IV, Chapter II **सहस्सक** or **राजकाराम वग्ग** V, p. 360

खानेके कारण राजा बाहर न निकला। फिर शास्ताने सारिपुत्त और मोग्ग-लानको भेजा। राजा उनके भी सामने न आया। दूसरे दिन बुद्ध स्वयं भिक्षु-संघ सहित पहुँचे। भोजनके बाद उपदेश दिया और अंतमें कहा—महाराज! प्रव्र-जितोंको आपसमें लड़ाना अच्छा नहीं है। राजाने आदमियोंको भेजकर वहाँसे तीर्थिकोंको निकाल दिया और यह सोचा कि मेरा बनवाया कोई विहार नहीं है, इसलिए इसी स्थानपर विहार बनवाऊँ। इस प्रकार धन वापस किये बिना ही वहाँ विहार बनवाया।

**जातकट्ठकथा** (निदान) में भी यह कथा आई है, जहाँसे हमें कुछ और बातें भी मालूम होती हैं।

तीर्थिकोंने जंबूद्वीपके सर्वोत्तम स्थानपर बसना ही श्रमण गौतमके लाभ-सत्कारका कारण समझा और जेतवनके **पीछेकी ओर** तीर्थिकाराम बनवानेका निश्चय किया। घूस देकर राजाको अपनी रायमें करके, बढ़इयोंको बुलाकर, उन्होंने आराम बनवाना आरम्भ कर दिया।

इन उद्धरणोंसे हमें पता लगता है—(१) जेतवनके पीछेकी ओर पासही में, जहाँसे काम करने वालोंका शब्द गंधकुटी में बैठे बुद्धको खूब सुनाई देता था, तीर्थिकोंने अपना आराम बनाना आरम्भ किया था। (२) जिसे राजाने पीछे बन्द करा दिया। (३) राजाने वहीं आराम बनवाकर भिक्षु-संघको अर्पण किया। (४) यह आराम प्रसेनजित् द्वारा बनवाया पहला आराम था। नक्शेमें देखनेसे हमें मालूम होता है कि विहार नं० १९ जेतवनके पीछे और गंधकुटीसे दक्षिण-पश्चिमकी ओर है। फासला गंधकुटीसे प्रायः ९० फीट तथा जेतवनकी दक्षिण-पूर्व सीमासे बिल्कुल लगा हुआ है। इस प्रकार का दूसरा कोई स्थान नहीं है, जिसपर उपर्युक्त बातें लागू हों। इस प्रकार विहार नं० १९ ही राजकाराम है, जो मुख्य जेतवनसे अलग था।

इस विहारका हम एक जगह और (**जातकट्ठकथामें**) उल्लेख पाते हैं। यहाँ उसे **जेवतन-पिट्ठि विहार** अर्थात् जेतवनके पीछे वाला विहार कहा है। मालूम होता है, जेतवन और इस 'पिट्ठि विहार'के बीचमें होकर उस समय रास्ता जाता था। दोनों विहारोंके बीचसे एक मार्गके जानेका पता हमें **धम्मपदट्ठकथासे** भी लगता है। राजकाराम जेतवनके समीप था। उसे प्रसेनजित्ने बनवाया था।

एक बार उसमें भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिकाकी परिषद्में बैठे हुए, बुद्ध धर्मोपदेश कर रहे थे। भिक्षुओंने आवेशमें आकर "जीवें भगवान् जीवें सुगत" इस तरह जोरसे नारा लगाया। इस शब्दसे कथामें बाधा पड़ी। यहाँ स्पष्ट मालूम होता है कि यह राजकाराम अच्छा लम्बा-चौड़ा था।

ई० पू० छठी शताब्दीको बनी इमारतोंके ढाँचेमें न जाने कितनी बार परिवर्तन हुआ होगा। तीर्थिकाराम बनानेके वर्णनमें खंभे उठाने और बढ़ईसे ही काम आरम्भ करनेसे हम जानते हैं, कि उस समय सभी मकान लकड़ीके ही अधिक बनते थे। जंगलोंकी अधिकतासे इसमें आसानी भी थी। ऐसी हालतमें लकड़ीके मकानोंका कम टिकाऊ होना उनके अवशेषोंके पानेके लिए और भी बाधक है। तथापि मौर्य-तलसे नीचे खुदाई करने में शायद ऐसे कुछ चिन्होंके पानेमें सफलता हो। अस्तु, इतना हम जानते हैं कि जहाँ कहीं बुद्ध कुछ दिनके लिए निवास करते थे, वहाँ उनकी गंधकुटी[1] अवश्य होती थी। यह गंधकुटी बहुतही पवित्र समझी जाती थी, इसलिए सभी गंधकुटियोंकी स्मृतिको बराबर कायम रखना स्वाभाविक है। जेतवनके नक्शेमें हम विहार नं० १, २, ३, ५ और १९ एक विशेष तरहके स्थान पाते हैं। विहार नं० १९ के पश्चिमी भागके बीचकी परिक्रमावाली इमारतके स्थानपर ही राजकाराममें बुद्धकी गंधकुटी थी।

आगे हम जेतवनके भीतरकी चार इमारतोंमें 'सललागार' को भी एक बतलाएँगे। **दीघनिकायमें** आता है—"एक बार भगवान् श्रावस्तीके सललागारमें विहार करते थे।" इसपर अट्ठकथामें लिखा है—"सलल (वृक्ष) की बनी गंधकुटी में।" **संयुत्तनिकायमें** भी—"एक समय आयुष्मान् अनुरुद्ध श्रावस्तीके सललागारमें विहार करते थे।" इसपर **अट्ठकथामें**—"सलल-वृक्ष-मयी पर्णशाला, या सललवृक्षके द्वारपर रहनेसे इस नामका घर।" **दीघनिकायकी अट्ठकथाके** अनुसार "सललघर राजा प्रसेनजित्का बनवाया हुआ था।"

(१) संयुत्त और दीघ दोनों निकायोंमें सललागारके साथ जेतवनका नाम न आकर, सिर्फ श्रावस्तीका नाम आना बतलाता है कि सललागार जेतवनसे

**१ बुद्धके निवासकी कोठरीको पहले विहार ही कहते थे। पीछे, मालूम होता है, उसपर फूल तथा दूसरी सुगंधित चीजें चढ़ाई जानेके कारण 'गंधकुटी' कहा जाने लगा।**

बाहर था। (२) सललागारका अट्ठकथामें सललघर हो जाना मामूली बात है। (३) (क) सललघर राजा प्रसेनजित्‌का बनवाया था; (ख) जो यदि जेतवनमें नहीं था तो कम से कम जेतवनके बहुत ही समीप था, जिसे अट्ठकथाकी परम्पराके समय वह जेतवनके अंतर्गत समझा जाने लगा।

हम ऐसे स्थान राजकाराम (विहार नं० १९) को बतला चुके हैं, जो आज भी देखनेमें जेतवनसे बाहर नहीं जान पड़ता। इस प्रकार सललागार राजकारामका ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। श्रावस्तीके भीतर भिक्षुणियोंका आराम भी, राजा प्रसेनजित्‌का बनवाया होने के कारण, 'राजकाराम' कहा जाता था; इसीलिये यह सललागार या सललघरके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

**गंधकुटी**—जेतवनके भीतरकी अन्य इमारतोंपर विचार करनेसे पूर्व, गंधकुटीका जानना आवश्यक है; क्योंकि इसे जान लेनेसे और स्थानोंके जाननेमें आसानी होगी। वैसे तो सारा जेतवनही 'अविजहितट्ठान' माना गया है, किन्तु जेतवनमें गंधकुटी[1] को चारपाईके चारों पैरों के स्थान 'अविजहित' हैं, अर्थात् सभी अतीत और अनागत बुद्ध इसको नहीं छोड़ते। कुटीका द्वार किस दिशाको था, इसके लिए कोई प्रमाण हमें नहीं मिला। तो भी पूर्व दिशाकी विशेषताको देखते उसका पूर्व मुँह होना ही अधिक संभव प्रतीत होता है। जहाँ इस विषय पर पाली स्रोतसे हम कुछ नहीं पाते, वहाँ यह बात संतोषकी है कि सहेटके अन्दरके विहार नं० १, २, ३, ५, १९ पाँचों ही विशेष मंदिरोंका द्वार पूर्व मुखको है। इसीलिए मुख्य दर्वाजा भी पूर्व मुँह ही को रहा होगा। दो स्त्री-पुरुष पानी पीने के लिए जब जेतवनके भीतर घुसे, तब उन्होंने बुद्धको गंधकुटीकी छायामें बैठे देखा। विहार नं० २ के दक्षिण-पूर्वका कुआँ यद्यपि **सर जान मार्शल**[2]के कथनानुसार कुषाण-कालका है, तो भी तथागत के परिभुक्त कुएँकी पवित्रता कोई ऐसी-वैसी वस्तु नहीं, जिसे गिर जाने दिया गया हो। यदि इसकी ईंटें कुषाण-कालकी हैं, तो उससे यही सिद्ध हो

१ **"जेतवन गंधकुटिया चत्तारि मंचपादट्ठानानि अविजहितानेव होन्ति।"—दी० नि०, महापदान सुत्त, १४, अ० क०।**

२ A. S. I. Report, 1910-11

सकता है, कि ईसाकी आरम्भिक शताब्दियोंमें इसकी अंतिम मरम्मत हुई थी। दोपहरके बाद गंधकुटीकी छायामें बैठे हुए, बुद्धके लिए दर्वाजेकी तरफसे कुएँपर पानी पीनेके लिए जाने वाला पुरुष सामने पड़ेगा, यह स्पष्ट ही है।

गंधकुटी अपने समयकी सुन्दर इमारत होगी। **संयुत्तनिकायकी अट्ठकथा**[1] में इसे देवविमानके समान लिखा है। भरहुत स्तूपके जेतवन-चित्रसे इसकी कुछ कल्पनाहो सकती है। गंधकुटीके बाहर एक चबूतरा (पमुख) था, जिससे गंधकुटीका द्वार कुछ और ऊँचा था। इसपर चढ़नेके लिए सीढ़ियाँ थीं। पमुख-के नीचे खुला आँगन था। चबूतरेको 'गंधकुटी पमुख' कहा गया है। भोजनो-परांत यहाँ खड़े होकर तथागत भिक्षु-संघ को उपदेश देते थे। मध्यान्हभोजनो-परांत भगवान् पमुखपर खड़े हो जाते, फिर सारे भिक्षु वंदना करते थे, इसके बाद उन्हें उपदेश देकर बुद्धभी गंधकुटीमें चले जाते।

**सोपानफलक**—गंधकुटीमें जानेसे पहले, **मणिसोपानफलक**पर खड़े होकर भिक्षु-संघको उपदेश देनेका भी वर्णन आता है। अकालमें वर्षा करानेके चम-त्कारके समयके वर्णनमें आता है कि बुद्धने वर्षा करा, "पुष्करिणीमें नहाकर लाल दुपट्टा पहन कमरबंद बाँध, सुगतमहाचीवरको एक कंधा (खुला रख) पहन, भिक्षु-संघसे चारों तरफ घिरे हुए जाकर गंधकुटीके आँगनमें रखे हुए, श्रेष्ठ बुद्धासनपर बैठकर, भिक्षुसंघके वंदना करने पर उठकर मणिसोपानफलकपर खड़े हो, भिक्षु-संघको उपदेश दे, उत्साहित कर सुरभि-गंधकुटीमें प्रवेशकर. . ." यह सोपान संभवतः पमुखसे गंधकुटी-द्वारपर चढ़नेके लिए था; क्योंकि अन्यत्र इस मणिसोपानफलकको गंधकुटीके द्वारपर देखते हैं—"**एक दिन** रातको गंधकुटीके द्वारपर मणिसोपानफलकपर खड़े हो भिक्षु-संघको सुगतोवाद दे गंधकुटीमें प्रवेश करनेपर, धम्मसेनापति (=सारिपुत्र) भी शास्ताको वंदनाकर अपने परिवेणको चले गये। महामोग्गलान भी अपने परिवेण को. . . . . . . . . . .।"

**गंधकुटी-परिवेण**—मालूम होता है, पमुख थोड़ा ही चौड़ा था। इसके नीचेका सहन गंधकुटी-परिवेण कहा जाता था। इस परिवेणमें एक जगह बुद्धासन रखा रहता था, जहाँपर बैठे बुद्धकी वंदना भिक्षु-संघ करता था। इस परिवेणमें बालू

१ देव-संयुत्त

बिछाई हुई थी; क्योंकि **मज्झिमनिकाय**[1] अ० क० में अनाथपिंडकके बारेमें लिखा है, कि वह खाली हाथ कभी बुद्धके पास न जाता था; कुछ न होनेपर बालूही ले जाकर गंधकुटीके आँगनमें बिखेरता था। **अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथामें,** बुद्धके भोजनोपरांतके कामका वर्णन करते हुए, लिखा है—"इस प्रकार भोजनोपरांतवाले कृत्यके समाप्त होनेपर, यदि गात्र धोना ( =नहाना ) चाहते, तो बुद्धासनसे उठकर स्नानकोष्ठकमें जाकर, रखे जलसे शरीरको ऋतु-ग्रहण कराते। उपट्ठाक भी बुद्धासन ले आकर गंधकुटी-परिवेणमें रख देता। भगवान् लाल दुपट्टा पहनकर कायबंधन बाँधकर, उत्तरासंग एक कंधा (खुला रख) पहनकर वहाँ आकर बैठते; अकेले कुछ काल ध्यानावस्थित होते। तब भिक्षु जहाँ-तहाँसे भगवान्के उपस्थानके लिए आते। वहाँ कोई प्रश्न पूछते, कोई कर्मस्थान पूछते। कोई धर्मोपदेश सुनना चाहते। भगवान्, उसके मनोरथको पूरा करते हुए, पहले यामको समाप्त करते थे।"

**बुद्धासन-स्तूप**—गंधकुटीका परिवेण इस तरह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान था। जेतवनमें, गंधकुटीमें, रहते हुए भगवान् यहीं आसीन हो प्रायः नित्य ही एक याम उपदेश देते थे, वंदना ग्रहण करते थे। इस तरह गंधकुटी-परिवेणकी पवित्रता अधिक मानी जानी स्वाभाविक है। उसमें उस स्थानका माहात्म्य, जहाँ तथागतका आसन रखा जाता था, और भी महत्त्वपूर्ण है। ऐसे स्थानपर परवर्ती कालमें कोई स्मृति-चिह्न अवश्य ही बना होगा। जेतवनकी खुदाईमें स्तूप नं० H ऐसा ही एक स्थान मिला है। इसके बारेमें सर जान मार्शल लिखते हैं[2]—

"Of the stupas H, J and K, the first-mentioned seems to have been invested with particular sanctity; for not only was it rebuilt several times but it is set immediately in front of temple No. 2, which there is good reason to identify with the famous Gandhakuti and right in the midst of the main road which approaches this sanctuary from the east..this plinth is constructed of bricks of same size as those monasteries (of Kushan Period)."

१ सुत्त १४३ की अट्ठकथा।

२ Archæological Survey of India, 1910-11, p. 9

जान पड़ता है, यह स्तूप वह स्थान है जहाँ बैठकर तथागत उपदेश दिया करते थे, इसीलिए उसे बारबार मरम्मत करनेका प्रयत्न किया गया है। गंध-कुटी-परिवेणमें, भिक्षुओंके ही लिए नहीं, प्रत्युत गृहस्थोंके लिए भी उपदेश होता था—"विशाखा, उपदेश सुननेके लिए, जेतवन गई। उसने अपने बहुमूल्य आभूषण 'महालतापसाधन'को दासीके हाथमें इसलिये दे दिया था कि उपदेश[1] सुनते समय ऐसे शरीर-शृंगारकी आवश्यकता नहीं। दासी उसे चलते वक्त भूल गई। नगरको लौटते समय दासी आभूषणके लिए लौटी। विशाखाने पूछा—तूने कहाँ रखा था? उसने कहा—गंधकुटी-परिवेणमें। विशाखाने कहा—गंधकुटी-परिवेणमें रखनेके समयसे ही उसका लौटाना हमारे लिए अयुक्त है।"

आभूषणके छूटनेका यह वर्णन **विनयमें** भी आया है। संभवतः बुद्धासन-स्तूपके पूर्वका स्तूप G इसीके स्मरणमें है। **सर जान** कहते हैं[2]—

This stupa is co-eval with the three buildings of Kushan Period, just described (*ibid*, p. 10).

यह गंधकुटी-परिवेण बहुत ही खुली जगह थी, जिसमें हजारों आदमी बैठ सकते थे। बुद्धासन-स्तूप ( स्तूप H ) गंधकुटीसे कुछ अधिक हटकर मालूम होता है। उसका कारण यह है कि उपदेशके समय तथागत पूर्वाभिमुख बैठते थे। उनके पीछे भिक्षु-संघ पूर्व मुँह करके बैठता था और आगे गृहस्थ लोग तथागतकी ओर मुँह करके बैठते थे। गंधकुटी-पमुखसे बुद्धासन तककी भूमि भिक्षुओंके लिए थी। इसका वर्णन हमें **उदानमें**[3] मिलता है, जहाँ तथागत पाटलिगामके नये आवसथागारमें बैठनेका सविस्तर वर्णन है। संभवतः यह परिवेण पहले और भी चौड़ा रहा होगा, और कमसे कम बुद्धासनसे उतना ही स्थान उत्तर ओर भी छूटा रहा होगा जितना कि नं० K से बुद्धासन। इस प्रकार कुषाण-कालकी इमारतके स्थानपरकी पुरानी इमारत, यदि कोई रही हो तो, दक्षिण तरफ इतनी बढ़ी हुई न रही होगी, अथवा रही ही न होगी।

---

१ **धम्मपदट्ठकथा, ४।४४, (विसाखाय वत्थु)।**

२ **A. S. I. Report, 1910—1911**

३ **उदान—पाटलिगामियवग्ग (८।६)**

गंधकुटी कितनी लम्बी-चौड़ी थी, यद्यपि इसके जाननेके लिये कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, तथापि एक आदमीके लिए थी, इसलिए बहुत बड़ी नहीं हो सकती। संभवतः विहार नं० २ के बीचका गर्भ बहुत कुछ पुरातन गंधकुटीके आकारको बतलाता है। गंधकुटीके दर्वाजेमें किवाड़[1] लगा था, जिसमें भीतरसे किल्ली (सूचीघटिक) लगानेका भी प्रबंध था। इसमें तथागतके सोनेका मंच था। इस मंचके चारों पैरोंके स्थानको अट्ठकथावालोंने 'अविजहित' कहा है। गंधकुटीके दर्वाजे द्वारा कई बातोंका संकेत भी होता था। **म० नि० अट्ठकथा**[2]में बुद्धघोषने लिखा है—"जिस दिन भगवान् जेतवनमें रहकर पूर्वाराममें दिनको विहार करना चाहते थे, उस दिन बिस्तरा, परिष्कार भांडोंको ठीक-ठीक करनेका संकेत करते थे। स्थविर (आनंद) झाड़ देते, तथा कचड़ेमें फेंकनेकी चीजोंको समेट लेते थे। जब अकेले पिंडचारको जाना चाहते थे, तब सबेरे ही नहाकर गंधकुटीमें प्रवेशकर दर्वाजा बंदकर समाधिस्थ हो बैठते थे। जब भिक्षु-संघके साथ पिंडचारको जाना चाहते थे, तब गंधकुटीको आधी खुली रखकर...। जब जनपदमें विचरनेके लिए निकलना चाहते थे, तो एक-दो ग्रास अधिक खाते थे और चंक्रमणपर आरूढ़ हो पूर्व-पश्चिम टहलते थे।" भरहुतके जेतवन-पट्टिकामें गंधकुटीके द्वारका ऊपरी आधा भाग खुला है, जिससे यह भी पता लगता है कि किवाड़ ऊपर-नीचे दो भागोंमें विभक्त होता था। गंधकुटीका नाम यद्यपि सैकड़ों बार आता है, किन्तु उसका इससे अधिक विवरण देखनेमें नहीं मिलता।

**द्वारकोट्ठक**—हम पीछे कह चुके हैं कि अनाथपिंडकके पहली बार लाये हुए कार्षापणोंसे जेतवनका एक थोड़ासा हिस्सा बिना ढँका ही रह गया था। इसे कुमार जेतने अपने लिए माँग लिया और वहाँ उसने अपने दामसे कोठा बनवाया, जिसका नाम जेतवनबहिर्द्वारकोष्ठक या केवल द्वारकोट्ठक पड़ा। यह गंधकुटीके सामने ही था, क्योंकि **धम्मपद-अट्ठकथा**में आता है—

"**एक समय** अन्य तीर्थिक उपासकोंने...अपने लड़कोंको कसम दिलाई, कि घर आनेपर तुम शाक्यपुत्रीय श्रमणोंको न तो बंदना करना और न उनके विहारमें

---

१ **धम्मपद-अट्ठकथा ४।४४ भी।** २ **सुत्त २६।**

जाना। एक दिन जेतवन विहारके बहिर्द्वार-कोष्ठकके पास खेलते हुए उन्हें प्यास लगी। तब एक उपासकके लड़केको कहकर भेजा, तुम जाकर पानी पिओ और हमारे लिए भी लाओ। उसने विहारमें प्रवेशकर शास्ताको बंदनाकर पानी पी इस बातको कहा। शास्ताने कहा, तुम पानी पीकर....जाकर औरोंको भी, पानी पीनेके लिए यहीं भेजो। उन्होंने आकर पानी पिया। गंधकुटीके पासका कुआँ हमें मालूम है। द्वारकोष्ठकसे कुएँपर आते हुए लड़कोंको गंधकुटीके द्वारपरसे देखना स्वाभाविक है, यदि दर्वाजा गंधकुटीके सामने हो।

**जेतवन-पोक्खरणी**—यह द्वारकोट्ठकके पास ही थी। **जातकट्ठकथा** (निदान) में एक जगह इसका इस प्रकार वर्णन आता है—

एक समय कोसल राष्ट्रमें वर्षा न हुई। सस्य सूख रहे थे। जहाँ-तहाँ तालाब, पोखरी और सरोवर सूख गये। **जेतवन-द्वार-कोष्टक**के समीपकी जेतवन-पुष्करिणी का जल भी सूख गया। घने कीचड़में घुसकर लेटे हुए मच्छ-कच्छपोंको कौए चील आदि अपनी चोंचोंसे मार-मार ले जाकर, फड़फड़ाते हुओंको खाते थे। शास्ताने मत्स्य-कच्छपोंके उस दुःखको देखकर, महती करुणासे प्रेरित हो निश्चय किया—आज मुझे पानी बरसाना है। ...भोजनके बाद सावत्थीसे विहारको जाते हुए जेतवन-पुष्करिणीके **सोपान**पर खड़े हो आनंद स्थविरसे कहा—आनंद, नहानेकी धोती ला; जेतवन-पुष्करिणीमें स्नान करेंगे। ...शास्ता एक छोरसे नहानेकी धोतीको पहनकर और दूसरे छोरसे सिरको ढाँककर सोपानपर खड़े हुए। ... पूर्वदिशा-भागमें एक छोटीसी घटाने उठकर...बरसते हुए सारे कोसल राष्ट्रको बाढ़ जैसा बना दिया। शास्ताने पुष्करिणीमें स्नान कर, लाल दुपट्टा पहिन.....।

यहाँ हमें मालूम होता है कि (१) पुष्करिणी जेतवन-द्वारके पास ही थी, (२) उसमें घाट बँधा हुआ था।

इस पुष्करिणीके पास वह स्थान था, जहाँपर देवदत्तका जीते जी पृथ्वीमें समाना कहा गया है। फाहियान और युन्-च्वेङ दोनों ही देवदत्तको जेतवनमें तथागतपर विष-प्रयोग करनेके लिए आया हुआ कहते हैं, किंतु **धम्मपद अट्ठकथा**का वर्णन दूसरा ही है—

देवदत्त[1] ने, नौ मास बीमार रहकर अंतिम समय शास्ताके दर्शनके लिए

[1] **ध० प० १।१२। अ० क० ७४, ७५** (Commentary, Vol. I, p. 147) **देवदत्तवत्थु। देखो दी० नि० सुत्त २ की अट्ठकथा भी।**

उत्सुक हो, अपने शिष्योंसे कहा—मैं शास्ताका दर्शन करना चाहता हूँ; मुझे दर्शन करवाओ। ऐसा कहनेपर—समर्थ होनेपर तुमने शास्ताके साथ वैरीका आचरण किया, हम तुम्हें वहाँ न ले जायँगे। तब देवदत्तने कहा—मेरा नाश मत करो। मैंने शास्ताके साथ आघात किया, किंतु मेरे ऊपर शास्ताको केशाग्र-मात्र भी क्रोध नहीं है। वे शास्ता वधिक देवदत्तपर, डाकू अंगुलिमालपर, धनपाल और राहुल—सब पर, एक समान भाववाले हैं। तब वह चारपाईपर लेकर निकले। उसका आगमन सुनकर भिक्षुओंने शास्तासे कहा...। शास्ताने कहा—भिक्षुओ! इस शरीरसे वह मुझे न देख सकेगा...। अब एक योजन-पर आ गया है, आधे योजनपर, गावुत (=गव्यूति) भरपर, जेतवन-पुष्करिणी-के समीप...। यदि वह जेतवनके भीतर भी आ जाय, तो भी मुझे न देख सकेगा। देवदत्तको ले आनेवाले **जेतवनपुष्करिणी**के तीरपर चारपाईको उतार पुष्करिणीमें नहाने गये। देवदत्त भी चारपाईसे उठ दोनों परोंको भूमिपर रखकर बैठा। वह वहीं पृथ्वीमें चला गया। वह क्रमशः घुट्टी तक, फिर ठेहुने तक, फिर कमर तक, छाती तक, गर्दन तक घुस गया। ठुड्डीकी हड्डीके भूमिपर प्रतिष्ठित होते समय उसने यह गाथा कही—

इन आठ प्राणोंसे उस अग्रपुद्गल (=महापुरुष) देवातिदेव, नरदम्यसाखी समंतचक्षु शतपुण्यलक्षण बुद्धके शरणागत हूँ।

वह अबसे सौ हजार कल्पों बाद अट्ठिस्सर नामक प्रत्येक्बुद्ध होगा।—वह पृथ्वीमें घुसकर अवीचिनरकमें उत्पन्न हुआ।

इस कथामें और ऐतिहासिक तथ्य चाहे कुछ भी न हो, किंतु इसमें संदेह नहीं कि देवदत्तके जमीनमें धँसनेकी किंवदंती फाहियानके समय (पाँचवीं शताब्दीमें) खूब प्रसिद्ध थी। वह उससे भी पहलेकी सिंहाली अट्ठकथाओंमें वैसे ही थी, जिसके आधारपर फाहियानके समकालीन बुद्धघोषने पाली अट्ठकथामें इसे लिखा। फाहियानने देवदत्तके धँसनेके इस स्थानको जेतवनके पूर्वद्वारपर राजपथसे ७० पद पश्चिम ओर, जहाँ चिंचाके धरतीमें धँसनेका उल्लेख किया है, लिखा है।

युन्-च्वेङने इस स्थानके विषयमें लिखा है—

"To the east of the convent about 100 paces is a great

chasm; this is where Devadutta went down alive into Hell after trying to poison Buddha. To the south of this, again is a great ditch; this is the place where the Bhikshu Kokali went down alive into Hell after slandering Buddha. To the south of this, about 800 paces, is the place where the Brahman woman Chancha went down alive into Hell after slandering Buddha. All these chasms are without any visible bottom (or bottomless pits)," (Beal, *Life of H. T.*, pp. 93 and 94).

इनमें ऐतिहासिक तथ्य संभवतः इतना ही हो सकता है, कि मरणासन्न देवदत्तको अंतमें अपने किये पर पश्चात्ताप हुआ और वह बुद्धके दर्शनके लिए गया, किन्तु जेतवनके दर्वाजेपर ही उसके प्राण छूट गये। यह मृत्यु पहले भूमिमें धँसनेमें परिणत हुई। फाहियानने उसे पृथ्वीके फटकर बीचमें जगह देनेके रूपमें सुना। युन्-च्वेङके समय वह स्थान अथाह चँदवकमें परिणत हो गया। किंतु इतना तो ठीक ही है, कि यह स्थान (१) पूर्वकोट्ठकके पास था; (२) पुष्करिणीके ऊपर था; (३) विहार (गंधकुटी) से १०० कदमपर था; और (४) चिंचाके धँसनेका स्थान भी इसके पास ही था।

चिंचाके धँसनेका स्थान द्वारके बाहर पासहीमें अट्ठकथामें भी आता है, किंतु कोकालिकके धँसनेका कहीं जिक्र नहीं आता। बल्कि इसके विरुद्ध उसका वर्णन सुत्तनिपातमें इस प्रकार है—

कोकालिकने जेतवनमें भगवान्के पास जाकर कहा—भंते, सारिपुत्त मोग्गलान पापेच्छु हैं, पापेच्छाओंके वशमें हैं। भगवान्ने उसे सारिपुत्त मोग्गलानके विषयमें चित्तको प्रसन्न करनेके लिए तीन बार कहा, किंतु उसने तीन बार उसीको दुहराया। वहाँसे प्रदक्षिणा करके गया तो उसके सारे बदनमें सरसोंके बराबर फुंसियाँ निकल आईं, जो क्रमशः बिलसे भी बड़ी हो फूट गईं। फिर खून और पीब बहने लगा और वह इसी बीमारीसे मरा।

इसमें कहीं कोकालिकके धँसने या बुद्धको अपमानित करनेका वर्णन नहीं है। इसमें शक नहीं, इसी सुत्तनिपातकी अट्ठकथामें इस कोकालियको देवदत्तके शिष्य कोकालियसे अलग बतलाया है, किंतु उसका भी जेतवनके पास भूमिमें

धँसना कहीं नहीं मिलता। चिंचाके भूमिमें धँसनेका उल्लेख फाहियान और युन्-च्वेङ दोनोंहीने किया है। लेकिन युन्-च्वेङने ८०० कदम दक्षिण लिखा है, यद्यपि फाहियानने चूहोंसे बंधन काटने और धँसनेका स्थान एक ही लिखा है। पालीमें यह कथा इस प्रकार है—

पहली बोधी[1] (५२७-१३ ई० पू०) में तीर्थिकोंने बुद्धके लाभ-सत्कारको देखकर उसे नष्ट करनेकी ठानी। उन्होंने **चिंचा** परिव्राजिकासे कहा। वह श्रावस्ती-वासियोंके धर्मकथा सुनकर जेतवनसे निकलते समय इंद्रगोपके समान वर्णवाले वस्त्रको पहन गंधमाला आदि हाथमें ले जेतवनकी ओर जाती थी। जेतवनके समीपके तीर्थिकाराममें वासकर प्रातः ही नगरसे, उपासकजनोंके निकलनेपर, जेतवनके भीतर रही हुई-सी हो, नगरमें प्रवेश करती थी। एक मासके बाद पूछनेपर कहती थी—जेतवन में श्रमण गोतमके साथ एक गंधकुटी हीमें सोई हूँ। आठ-नौ मासके बाद पेटपर गोल काष्ठ बाँधकर, ऊपरसे वस्त्र पहन, सायाह्न समय, धर्मोपदेश करते हुए तथागतके सामने खड़ी हो उसने कहा—"महाश्रमण, लोगोंको धर्मोपदेश करते हो। मैं तुमसे गर्भ पाकर पूर्णगर्भा हो गई हूँ। न मेरे सूतिका-गृहका प्रबंध करते हो और न घी-तेलका। यदि आपसे न हो सके तो, अपने किसी उपस्थापकहीसे—कोसलराजसे, अनाथपिंडकसे या विशाखासे—करा दो...।" इसपर देवपुत्रोंने, चूहेके बच्चे बन, बंधनकी रस्सीको काट दिया। लोगोंने यह देख उसके सिरपर थूककर उसे ढेले, डंडे आदिसे मारकर जेतवनसे बाहर किया। तथागतके दृष्टिपथसे हटनेके बाद ही महापृथिवीने फटकर उसे जगह दी।

इस कथामें तथागतके आँखोंके सामनेसे चिंचाके अलग होते ही उसका पृथिवीमें धँसना लिखा है। बुद्ध इस समय बुद्धासनपर ( स्तूप H ) बैठे रहे होंगे। दर्वाजेके बहिःकोष्ठक सामने ही था। द्वारकोट्ठकके पार होते ही उसका आँखोंसे ओझल होना स्वाभाविक है और इस प्रकार धँसनेकी जगह द्वारकोट्ठकके बाहर पास ही, पुष्करिणीके किनारे हो सकती है; जिसके पास, पीछे देवदत्तका धँसना कहा जाता है। यह फाहियानके भी अनुकूल है। काल बीतनेके साथ

---

१ **धम्मपद—अ० क०, १३:१९**

कथाओंके रूपमें अतिशयोक्ति होनी स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त युन्-च्वेङ उस समय आये थे, जिस समय महायान भारतमें यौवनपर था। महायान ऐतिहासिकताकी अपेक्षा लोकोत्तरताकी ओर अधिक झुकता है, जैसाकि महायान करुणा-पुंडरीक सूत्र आदिसे खूब स्पष्ट है। इसीलिए युन-च्वेङकी किंवदंतियाँ फाहियानकी अपेक्षा अधिक अतिरंजित मिलती हैं। इसीलिए युन्-च्वेङकी कथामें चिंचाको हम ८०० कदम और दक्षिण पाते हैं। युन्-च्वेङका यह कथन कि देवदत्तके धँसनेकी जगह, अर्थात् द्वारकोट्ठकके बाहर पुष्करिणीका घाट विहार ( =गंध-कुटी) से १०० कदम था, ठीक मालूम होता है; और इस प्रकार विहार F की पूर्वी दीवारसे बिलकुल पास ही जेतवनके द्वारकोट्ठकका होना सिद्ध होता है। फिर ४८७ नंबरवाले खेतकी निचली भूमि ही जेतवनकी पुष्करिणी सिद्ध होती है।

**कपल्ल-पूव-पब्भार**—इसमें संदेह नहीं कि कितनी ही जगहोंका आरंभ अनैतिहासिक कथाओंपर अवलंबित है, किंतु इससे वैसे स्थानोंका पीछे बना लिया जाना असत्य नहीं हो सकता। ऐसा ही एक स्थान जेतवनद्वारकोट्ठकमें 'कपल्ल-पूव-पब्भार' था। कथा यों है—

राजगृह नगर[1] के पास एक सक्खर नामका कस्बा था। वहाँ अस्सी करोड़ धनवाला कौशिक नामक एक कंजूस सेठ रहता था। उसने एक दिन बहुत आगा-पीछा करके भार्यासे पुआ खानेके लिए कहा। स्त्रीने पुआ बनाना आरंभ किया। यह जान स्थविर महामोग्गलान उसी समय जेतवनसे निकलकर ऋद्धिबलसे उस कस्बेमें सेठके घर पहुँचे।...सेठने भार्यासे कहा—भद्रे! मुझे पुओंकी जरूरत नहीं, उन्हें इसी भिक्षुको दे दो।...स्थविर ऋद्धिबलसे सेठ-सेठानीको पुओंके साथ लेकर जेतवन पहुँच गये। सारे विहारके भिक्षुओंको देनेपर भी वह समाप्त हुआ-सा न मालूम होता था। इसपर भगवान्ने कहा—इन्हें जेतवन **द्वारकोट्ठक** पर छोड़ दो। उन्होंने उसे द्वारकोट्ठकके पासके स्थानपर ही छोड़ दिया। आज भी वह स्थान कपल्ल-पूव-पब्भारके ही नामसे प्रसिद्ध है।

यह स्थान भी द्वारकोष्ठकके ही एक भागमें था, और इस जगहकी स्मृतिमें भी कोई छोटा-मोटा स्तूप अवश्य बना होगा।

---

१. **धम्मपदट्ठकथा,** Vol. I, p. 373

जेतवनके बाहरकी बातोंको समाप्तकर अब हमें जेतवनके अंदरकी शेष इमारतोंको देखना है। विनयके अनुसार अनाथपिंडकने जेतवनके भीतर ये चीजें बनवाईं—विहार, परिवेण, कोठा, उपस्थान-शाला, कप्पियकुटी, पाखाना, पेशाबखाना, चंक्रम (=टहलनेकी जगह), चंक्रमणशाला, उपदान (=प्याऊ), उदपानशाला, जंताघर (=स्नानगृह), जंताघरशाला, पुष्करिणी और मंडप। जातक-अट्ठकथा[1] (निदान)के अनुसार इनका स्थान इस प्रकार है—मध्यमें गंधकुटी, उसके चारों तरफ अस्सी महास्थविरोंके अलग-अलग निवासस्थान, एककुड्डक (=एकतला), द्विकुड्डक, हंसवट्टक, दीघशाला, मंडप आदि तथा पुष्करिणी, चंक्रमण, रात्रिको रहनेके स्थान और दिनको रहनेके स्थान।

**चुल्लवग्गके[2] सेनासनक्खंधक** (६) से हमें निम्न प्रकारके गृहोंका पता लगता है—

**उपस्थानशाला**—उस समय भिक्षु खुली जगहमें खाते समय शीतसे भी, उष्णसे भी कष्ट पाते थे। भगवान्‌से कहनेपर उन्होंने कहा—मैं अनुमति देता हूँ कि उपस्थानशाला बनाई जाय, ऊँची कुरसीवाली, ईंट, पत्थर या लकड़ीसे चिनकर; सीढ़ी भी ईंट, पत्थर या लकड़ीकी; बाँह-आलंबन भी; लीप-पोतकर, सफेद या काले रंगकी गेरूसे सँवारी, माला लता, चित्रोंसे चित्रित, खूँटी, चीवर-बाँस चीवर-रस्सीके सहित।

जेतवनमें भी ऐसी उपस्थानशाला थी, जिसका वर्णन सूत्रोंमें बहुत आता है। जेतवनकी यह उपस्थानशाला लकड़ी की तथा नीचे ईंटें बिछी रही होंगी।

जेतवनके भीतर हम इन इमारतोंका वर्णन पाली स्रोतसे पाते हैं—करेरि-कुटिका, कोसंबकुटी, गंधकुटी, सललघर, करेरिमंडलमाल, करेरिमंडप, गंध-मंडलमाल, उपट्ठानसाला (=धम्मसभामंडप), नहानकोट्ठक, अग्गिसाला, अंबलकोट्ठक (=आसनसाला, पानीयसाला), उपसंपदा-मालक। यद्यपि सललघर जेतवनके भीतर लिखा मिलता है; किंतु ज्ञात होता है कि जेतवनसे यहाँ जेतवन-राजकाराम अभिप्रेत है और सललघर राजकारामकी ही गंधकुटीका नाम था।

**करेरिकुटिका और करेरिमंडलमाल**—दीघनिकाय[3] में आता है—एक समय

---

१ जातक, १।८।८ २ विनयपिटक। ३ दी० नि० महापदानसुत्त।

भगवान् जेतवनमें अनाथपिंडकके आराम, करेरिकुटिकामें, विहार करते थे। भोजनके बाद करेरिमंडलमालमें इकट्ठा बैठे हुए बहुत-से भिक्षुओंमें पूर्वजन्म-संबंधी धार्मिक चर्चा चल पड़ी। भगवान्ने उसे दिव्य श्रोत्र-धातुसे सुना।

इसपर टीका करते हुए आचार्य बुद्धघोषने लिखा है—

करेरिवरुण वृक्षका नाम है। करेरि वृक्ष उस कुटीके द्वारपर था, इसी लिए करेरिकुटिका कही जाती थी; जैसे कोसंब वृक्षके द्वारपर होनेसे कोसंब-कुटिका। जेतवनके भीतर करेरिकुटी, कोसंबकुटी, गंधकुटी, सललघर ये चार बड़े घर (महागेह) थे। एक-एक सौ हजार खर्च करके बनवाये गये थे। उनमें सललघर राजा प्रसेनजित् द्वारा बनवाया गया था, बाकी अनाथपिंडिक गृहपति द्वारा। इस तरह अनाथपिंडक गृहपति द्वारा स्तंभोंके ऊपर बनवाई हुई देवविमान-समान करेरिकुटिकामें भगवान् विहार करते थे[1]।

सूत्रसे हमें मालूम होता है कि, जेतवनके भीतर (१) करेरिकुटिका थी, जो संभवतः गंधकुटी, कोसंबकुटीकी भाँति सिर्फ बुद्ध हीके रहनेके लिए थी; (२) उससे कुछ हटकर करेरिमंडलमाल था। बिल्कुल पास होने पर दिव्य कर्णसे सुननेकी कोई आवश्यकता न थी। अट्ठकथासे मालूम होता है कि इस (३) कुटीके द्वारपर करेरीका वृक्ष था, इसीलिए इसका नाम करेरिकुटिका पड़ा था। इतना ही नहीं, कोसंबकुटीका नाम भी द्वारपर कोसंब वृक्षके होनेसे पड़ा था। (४) अनाथपिंडक द्वारा यह करेरिकुटी लकड़ीके खंभोंके ऊपर बहुत ही सुंदर बनाई गई थी। करेरिमंडलमालपर टीका करते हुए बुद्धघोष कहते हैं— "उसी करेरिमंडप[2] के अविदूर (=बहुत दूर नहीं) बनी हुई निसीदनशाला (को करेरिमंडलमाल कहते हैं)। वह करेरिमंडप, गंधकुटी और निसीदनशालाके बीचमें था। इसीलिए गंधकुटी भी करेरिकुटिका, और शाला भी करेरिमंडलमाल

---

१ दी० नि० अट्ठकथा, II, पृ० २६९—

"एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति जेतवने अनाथपिण्डिकस्स आरामे करेरिकुटिकायं। अथ खो संबहुलानं भिक्खूनं पच्छाभत्तं पिण्डपातपटिक्कन्तानं करेरि-मंडल-माले सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं पुब्बे-निवासपटिसंयुत्ता धम्मिया-कथा उदपादि—'इति पुब्बे-निवासो इति पुब्बे निवासोति'।"

२ दीघ० नि० अ० क०।

कहा जाता था।" उदानमें भी—'एक बार[1] बहुतसे भिक्षु करेरिमंडलमालमें इकट्ठे बैठे थे' देखा जाता है। टीका करते हुए अट्ठकथामें आचार्य धर्मपाल लिखते हैं—"करेरि[2] वरुण वृक्षका नाम है। वह गंधकुटी, मंडप और शालाके बीचमें था। इसीलिए गंधकुटी भी करेरिकुटी कही जाती थी, मंडप भी, और शाला भी करेरिमंडलमाल। प्रतिवर्ष बननेवाले घास-पत्तीके छप्परको मंडल-माल कहते हैं। दूसरे कहते हैं, अतिमुक्त आदि लताओंके मंडपको मंडलमाल कहते हैं।

यहाँ दो० नि० अट्ठकथामें 'करेरिमंडप, गंधकुटी और निसीदनशालाके बीचमें था।' उदान अट्ठकथामें 'करेरि वृक्ष गंधकुटी, मंडप और शालाके बीचमें था', जिसमें 'मंडप'को 'गंधकुटी-मंडप' स्वीकार किया जा सकता है, किंतु आगे 'इसीके लिए गंधकुटी भी..., मंडप भी और शाला भी...,से मालूम होता है कि यहाँ करेरिकुटी, करेरिमंडप, करेरिमंडलमाला ये तीन अलग चीजें हैं, और इन तीनोंके बीचमें करेरिवृक्ष था।' लेकिन दीघनिकायअट्ठकथाका 'वह करेरि-मंडप गंधकुटी और निसीदनशालाके बीचमें था'—यह कहना फिर करेरिमंडपको संदेहमें डाल देता है। इससे तो मालूम होता है 'करेरिवृक्ष'की जगहपर 'करेरि-मंडप' भ्रमसे लिखा गया जान पड़ता है। यद्यपि इस प्रकार करेरिमंडपका होना संदिग्ध हो जाता है; तोभी इसमें संदेह नहीं कि करेरि वृक्ष करेरिकुटीके सामने था, जिसके आगे करेरिमंडलमाल। जेतवनमें सभी प्रधान इमारतें गंधकुटीकी भाँति पूर्वमुँह ही थीं। करेरिकुटीके द्वारपर पूर्व तरफ एक करेरिका वृक्ष था, और उससे पूर्व तरफ (१) करेरिमंडलमाल था, जिसमें भोजनोपरांत भिक्षु इकट्ठे होकर धर्म-चर्चा किया करते थे। (२) यह मंडलमाल प्रतिवर्ष फूससे छाया जाता था, इसलिए कोई स्थायी इमारत न थी।

यहाँ हमें यह कुछ भी नहीं पता लगता कि करेरिकुटी, कोसंबकुटी और गंधकुटीसे किस ओर थी। यदि हम 'करेरिकुटी, कोसंबकुटी, गंधकुटी' इस क्रमको उनका क्रम मान लें, तो करेरिकुटी कोसंबकुटीसे भी पश्चिम थी। यहाँ सललघर-को इस क्रमसे नहीं मानना होगा क्योंकि यह तैर्थिकोंकी जगहपर राजा प्रसेनजित्-

---

१ (उदान—३।८)—"**करेरिमंडलमाले सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं अयं अंतराकथा उदपादि।**"

२ **उदानट्ठकथा, पृ० १३५**

का बनवाया हुआ आराम था। यह जेतवनके बाहर होनेपर भी शायद समीपताके कारण उसमें ले लिया गया था। ऐसा होनेपर विहार नं० ५ को हम करेरिकुटी मान सकते हैं। करेरिका वृक्ष उसके द्वारपर पूर्वोत्तरके कोनेमें था, और **करेरि-मंडलमाल** उससे पूर्वोत्तरमें।

**उपट्ठानसाला** (उपस्थानशाला)—खुद्दकनिकायके उदान ग्रंथमें आता है—"एक समय[1] भगवान् श्रावस्तीमें अनाथपिंडकके आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय भोजनके बाद, उपस्थानशालामें इकट्ठे बैठे, बहुतसे भिक्षुओंमें यह कथा होती थी। इन दोनों राजाओंमें कौन बड़ा...है, राजा मागध सेनिय बिंबिसार अथवा राजा प्रसेनजित् कोसल।...उस समय ध्यानसे उठकर भगवान् शामके वक्त उपट्ठानशालामें गये और बिछे आसनपर बैठे।"

इसकी अट्ठकथामें आचार्य धर्मपाल लिखते हैं—

'भगवान्[2] ने...भोजनोपरांत...गंधकुटीमें प्रवेशकर फलसमापत्ति सुखके साथ दिवस-भागको व्यतीतकर (सोचा)...अब चारों परिषद् (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका) मेरे आनेकी प्रतीक्षामें सारे विहारको पूर्ण करती बैठी है, अब धर्मदेशनाके लिए धर्म-सभा-मंडलमें जानेका समय है..।'

इससे मालूम होता है कि उपस्थानशाला (१) जेतवनमें भिक्षुओंके एकत्र होकर बैठनेकी जगह थी; (२) तथागत सायंकालको उपदेश देनेके लिए वहाँ जाते थे। अट्ठकथासे इतना और मालूम होता है—(३) इसीको धर्म-सभा-मंडल भी कहते थे। (४) यह गंधकुटीके पास थी; (५) सायंकालको धर्मोपदेश सुननेके लिए भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका सभी यहाँ इकट्ठे होते थे; (६) मंडल शब्दसे करेरिमंडलकी भाँति ही यह भी शायद फूसके छप्परोंसे प्रतिवर्ष छाई जानेवाली इमारत थी; (७) ये छप्पर शायद गंधकुटीके पासवाली भूमिपर पड़े थे, इसीलिए 'सारे विहारको पूर्ण करती' शब्द आया है।

गंधकुटीके पासवाले गंधकुटी-परिवेणके विषयमें हम कह चुके हैं। यह गंधकुटीके सामनेका आँगन था। गंधकुटीकी शोभाके ढँक जानेके खयालसे इस

---

१ **"तेन खो पन समयेन उपट्ठानसालायं सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं अयमन्तराकथा उदपादि।"—उदान, २-२**

२ **उदानट्ठकथा, पृ० ७२**

जगह उपस्थानशाला नहीं हो सकती। यह संभवतः गंधकुटी से लगे हुए उत्तर तरफके भू-खंडपर थी, जिसमें स्तूप नं० ८ या ९ शायद बुद्धासनके स्थानपर हैं।

**स्थानकोष्ठक**—अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथाका उद्धरण दे चुके हैं—"भोजनोपरान्तवाले कृत्य (तीसरे पहरके कृत्य—उपदेश आदि) के समाप्त होनेपर, यदि बुद्ध नहाना (=गात्र धोना) चाहते थे, तो बुद्धासनसे उठकर स्नानकोष्ठकमें... शरीरको ऋतु-ग्रहण कराते थे।" (१) यह स्नान-कोष्ठक गंधकुटीके पास था। (२) गंधकुटीके पासका कुआँभी इसके पासही हो सकता है। (३) यह अलग नहानेकी एक छोटीसी कोठरी रही होगी।

विहार नं० २ के कुएँके पासवाला स्तूप K स्नानकोष्ठकका स्थान मालूम होता है, जिसके विषयमें सर जान मार्शलने लिखा है—

The character is not wholly apparent. It consists of a chamber, 12′ 8″ square, with a paved passage around enclosed by an outer wall. The floor of the inner chamber and the passage around it are paved in bricks of the same size 13″×9″×2½″ (of Kushana period) as those used in the walls......absence of any doorway, In all probability, it was a stupa with a relic-chamber within and a paved walk outside, and the outer wall was added at a later date....A few feet to the south west of this structure is a carefully constructed well; which appears to be a slightly later date than the building K....The bricks are of the same size as those in the building K....sweet and clear water...

**जंताघर** (=अग्निशाला)—इसके बारेमें धम्मपद अट्ठकथाके वाक्य ये हैं—

सड़े शरीरवाला तिष्य[1] स्थविर अपने शिष्य आदि द्वारा छोड़ दिया गया था। (भगवान्‌ने सोचा) इस समय मुझे छोड़ इसका दूसरा कोई अवलंब नहीं; और गंधकुटीसे निकल विहारचारिका करते हुए, अग्निशालामें जा जलपात्रको

---

[1] ध० प० ४:८, अ० क० १५७

धो चूल्हेपर रख जल को गर्म हुआ जान, जाकर उस भिक्षुके लेटनेकी खाटका किनारा पकड़ा। तब भिक्षु खाटको अग्निशालामें लाये। शास्ताने इसके पास खड़े हो गर्म पानीसे शरीरको भिगोकर मलमलकर नहलाया। फिर वह हल्के शरीर हो और एकाग्रचित्त हो, खाटपर लेटा। शास्ताने उसके सिरहाने खड़े ही यह गाथा कह उपदेश दिया—

"देर नहीं है कि तुच्छ, विज्ञान-रहित, निरर्थक काष्ठखंड-सा यह शरीर पृथ्वी पर लेटेगा।.....देशनाके अंतमें वह अर्हत्वको प्राप्त हो, परिनिर्वृत्त हुआ। शास्ताने उसका शरीरकृत्य कराकर हड्डियाँ ले चैत्य बनवाया।"

जंताघर[1] और अग्निशाला दोनों एक ही चीज हैं। चुल्लवग्गमें अग्निशालाके विधानमें यह वाक्य है—

"अनुज्ञा[2] देता हूँ, एक तरफ अग्निशाला....ऊँची कुर्सीकी..., ईंट पत्थर या लकड़ीसे चुनी...., सोपान...आलंबनबाहु-सहित...।"

महावग्गमें सामणेरका कर्त्तव्य वर्णन करते हुए जंताघरके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा गया है—

"यदि[3] उपाध्याय नहाना चाहते हों।....यदि उपाध्याय जंताघरमें जाना चाहते हों, तो चूर्ण ले जाना चाहिए, मिट्टी भिगोनी चाहिए। जंताघरके पीठ (=चौकी) को लेकर उपाध्यायके पीछे-पीछे जाकर, जंताघरमें पीठ देकर, चीवर लेकर एक तरफ रखना चाहिए। चूर्ण देना चाहिए। मिट्टी देनी चाहिए।... जलमें भी उपाध्यायका परिकर्म करना (=मलना) चाहिए। नहाकर पहले ही निकलकर अपने गात्रको निर्जलकर वस्त्र पहनकर, उपाध्यायके गात्रसे जल सम्मार्जित करना चाहिए। वस्त्र देना चाहिए, संघाटी देनी चाहिए। जंताघरके पीठको लेकर पहले ही (निवासस्थानपर) आकर आसन ठीक करना चाहिए...।"

जंताघरका वर्णन और भी है[4]—

---

१ **'जंताघरं त्वग्गिसाला" (अभिधानप्पदीपिका २१४)।**

२ **"अनुजानामि भिक्खवे एकमन्तं अग्गिसालं कातुं...उच्चवत्थुकं इट्ठिकाचयं सिलाचयं दारुचयं...सोपान...आलंबनबाहं...।" (सेनासनक्खंधक, ६)**

३ **विनयपिटक, महा० व०, p. 43.**

४ **विनयपिटक, चुल्लवग्ग, खुद्दकवत्थुक्खंधक, pp. 213, 214.**

"अनुज्ञा देता हूँ (जंताघरको) उच्च-वस्तुक करना. . .किवाड़. . . . . . . सूचिक, घटिक, तालछिद्र. . .धूमनेत्र. . .छोटे जंताघरमें एक तरफ अग्निस्थान, बड़ेके मध्यमें. . .। (जंताघरमें कीचड़ होता था इसलिए) ईंट, पत्थर या—लकड़ीसे गच करना,. . . . . .पानीका रास्ता बनाना. . .जंताघरसे . . ., ईंट, पत्थर या लकड़ीके प्राकारसे परिक्षेप करना. . .।" इन उद्धरणोंसे मालूम होता है कि (१) जंताघर संघारामके एक छोर पर होता था। (२) यह नहानेकी जगह थी। (३) ईंट, पत्थर या लकड़ीकी चुनी हुई इमारत होती थी। (४) उसमें पानी गर्म करनेकेलिए आग जलाई जाती थी, इसीलिए उसे अग्निशाला भी कहते हैं। (५) उसमें किवाड़, ताला-चाभी भी रहती थी। (६) धुएँकी चिमनी भी होती थी। (७) बड़े जंताघरोंमें आग जलानेका स्थान बीचमें, छोटोंमें एक किनारेपर। (८) जंताघरकी भूमि ईंट, पत्थर या लकड़ीसे ढँकी रहती थी। (९) उसमें पीढ़ेपर बैठकर नहाते थे। (१०) वह ईंट, पत्थर या लकड़ीकी दीवारसे घिरा रहता था।

जेतवनका जंताघर भी जेतवनके अगल-बगल एक कोनेमें रहा होगा, जो ऊपर वर्णन किये गये तरीकेपर संभवतः ईंट और लकड़ीसे बना होगा। ऐसा स्थान जेतवनके पूर्व-दक्षिण कोणमें संभव हो सकता है; अर्थात् विहार B के आसपास।

**आसनशाला, अंबलकोट्ठक**—जातकट्ठकथामें इसके लिए यह शब्द है—

"अंबलकोष्ठक[1] आसनशालामें भात खानेवाले कुत्तेके सम्बन्धमें कहा। उस (कुत्ते)को जन्मसे ही पनभरोंने लेकर वहाँ पाला था।" इससे हमें ये बातें मालूम होती हैं—(१) जेतवनमें आसनशाला थी, (२) जिसके पास या जिसमें ही अंबलकोष्ठक नामकी कोई कोठरी थी, (३) जिसमें पानी भरनेवाले अक्सर रहा करते थे; (४) पानीशाला या उदपानशाला भी यहीं पासमें थी।

यह स्थान भी गंधकुटीसे कुछ हटकर ही होना चाहिए। पनभरोंके सम्बन्धसे मालूम होता है, यह भी जंताघर (विहार B )के पासही कहींपर रहा होगा।

**उपसंपदामालक**—"फिर[2] उसको स्थविरने जेतवनमें ले आकर अपने हाथसे ही नहलाकर, मालकमें खड़ा कर प्रव्रजित कर, उसकी लँगोटी और हलको मालककी सीमाहीमें वृक्षकी डाल पर रखवा दिया।"

---

१ जातक, २४२ २ ध० प०, २५:१०, अ० क०

अन्यत्र धम्मपद (८:११ अ० क०) में भी उपसंपदा-मालक नाम आता है। यह संभवतः गंधकुटीके पास कहीं एक स्थान था, जहाँ प्रव्रज्या दी जाती थी। जेतवनमें वैसे सभी जगह वृक्ष ही वृक्ष थे, अतः इसकी सीमामें वृक्षका होना कोई विशेषता नहीं रखता।

**आनंदबोधि**—जेतवनके भीतर आनंदबोधि थी। जातकट्ठकथामें उसके लिए यह वाक्य हैं—

"आनंद[1] स्थविरने रोपा था, इसलिये आनंदबोधि नाम पड़ा। स्थविर द्वारा जेतवनद्वारकोष्ठकके पास बोधि (=पीपल) का रोपा जाना सारे जम्बूद्वीपमें प्रसिद्ध हो गया था।"

भरहुतकी जेतवन-पट्टिकामें भी गंधकुटीके सामने, कोसंबकुटीसे पूर्वोत्तरके कोणपर, वेष्टनीसे वेष्टित एक वृक्ष दिखाया गया है, जो संभवतः आनंदबोधि ही है। यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणसे यह नहीं मालूम होता कि यह पीपलका वृक्ष द्वारकोष्ठकके बाहर था या भीतर; किंतु अधिकतर इसका भीतर ही होना सम्भव है, क्योंकि ऐसा पूजनीय वृक्ष जेतवन खासके भीतर होना चाहिए। पट्टिकामें भी भीतर ही दिखलाया गया है, क्योंकि उसमें द्वारकोष्ठक छोड़ दिया गया है।

**वड्ढमान**—जेतवनके भीतर यह एक और प्रसिद्ध वृक्ष था। धम्मपदट्ठकथामें—"आनंद, आज बर्द्धमानकी छायामें...चित्त...मुझे वंदना करेगा।.... वंदनाके समय राज-मानसे आठ करीस प्रमाण प्रदेशमें...दिव्य पुष्पोंकी घनी वर्षा होगी।" (ध० प० ५:१४, अ० क० २५०)। यह चित्त गृहपति तथागतके सर्वश्रेष्ठ गृहस्थ शिष्योंमें था। तथागतने इसके बारेमें स्वयं कहा है—"भिक्षुओ, श्रद्धालु उपासक अच्छी प्रार्थना करते हुए यह प्रार्थना करे, वैसा होऊँ जैसा कि चित्त गहपति।" (अ० नि० ३-२-२-५३)।

**सुंदरी**—जेतवनके संबंधमें एक और प्रसिद्ध घटना (जो अट्ठकथा और चीनी परिव्राजकोंके विवरणमें ही नहीं, वरन् त्रिपिटकके मूलभाग उदानमें भी, मिलती है) सुंदरी परिव्राजिकाकी है। उदानमें इसका उल्लेख इस प्रकार है—

"भगवान् जेतवन[2] में विहरते थे। उस समय भगवान् और भिक्षुसंघ सत्कृत

---

**१ जातक, २६१**

**२ उदान, ४:८ (मेघियवग्ग)**

पूजित, पिंडपात, शयनासन, ग्लानप्रत्य भैषज्योंके लोभी थे, लेकिन अन्य तीर्थिक परिव्राजक असत्कृत...थे। तब वे तीर्थिक, भगवान् और भिक्षु संघके सत्कारको न सहते हुए, सुंदरी परिव्राजिकाके पास जाकर बोले—

'भगिनी! ज्ञातिकी भलाई करनेका उत्साह रखती हो?—मैं क्या करूँ आर्यो! मेरा क्या नहीं कर सकती? जीवन भी मैंने ज्ञातिके लिए अर्पित कर दिया है।—तो भगिनी बार-बार जेतवन जाया कर।—बहुत अच्छा आर्यो! यह कह..., सुंदरी परिव्राजिका बराबर जेतवन जाने लगी। जब अन्य तीर्थिक परिव्राजकोंने जाना, कि बहुत लोगोंने सुंदरी ......को बराबर जेतवन जाते देख लिया, तो उन्होंने उसे जानसे मारकर वहीं जेतवनकी खाईमे कुआँ खोदकर डाल दिया और राजा प्रसेनजित् कोसलके पास जाकर कहा—महाराज! जो वह सुंदरी परिव्राजिका थी, सो नहीं दिखलाई पड़ती।—तुम्हें कहाँ सन्देह है?—जेतवनमें महाराज—तो जाकर जेतवनको ढूँढ़ो। तब (उन्होंने) जेतवनमें ढूँढ़कर अपने खोदे हुए, परिखाके कुएँ, से निकालकर खाटपर डाल श्रावस्तीमें प्रवेश कर, एक सड़कसे दूसरी सड़क, एक चौराहेसे दूसरे चौराहेपर जाकर आदमियोंको शंकित कर दिया—"देखो आर्यो! शाक्यपुत्रीय श्रमणोंका कर्म, ये अलज्जी, दुःशील, पापधर्म, मृषावादी, अब्रह्मचारी हैं।....इनको श्रामण्य नहीं, इनको ब्रह्मचर्य नहीं। इनका श्रामण्य, ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया है।...कैसे पुरुष पुरुषकर्म करके स्त्रीको जानसे मार देगा?"

उस समय सावत्थीमें लोग भिक्षुओंको देखकर (उन्हें) असभ्य और कड़े शब्दोंसे फटकारते थे, परिहास करते थे...। तब बहुतसे भिक्षु श्रावस्तीसे... पिंडपात करके...भगवान्के पास जाकर बोले...—इस समय भगवान्! श्रावस्तीमें लोग भिक्षुओंको देखकर असभ्य और कड़े शब्दोंसे फटकारते हैं...। यह शब्द भिक्षुओं! चिरकाल तक नहीं रहेगा, एक सप्ताहमें समाप्त हो, लुप्त हो जायगा......। (और) वह, शब्द चिरकाल तक नहीं रहा, सप्ताह भर ही रहा...।"

धम्मपदअट्ठकथामें भी यह कथा आई है, वहाँ यह विशेषता है—..तब तीर्थिकों[1] ने कुछ दिनोंके बाद गुंडोंको कहापण देकर कहा—जाओ सुंदरीको

१ ध० प०, २२–१, अ० क०, ५७१

मारकर श्रमण गोतमकी गंधकुटीके पास मालोंके कूड़ेमें डाल आओ...।..राजाने कहा—तो (मुर्दा लेकर) नगरमें घूमो।.... (फिर) राजाने सुंदरीके शरीरको कच्चे श्मशानमें मचान बाँधकर रखवा दिया।.. .गुंडोंने उस कहापणसे शराब पीते ही झगड़ा किया (और रहस्य खोल दिया)...। राजाने फिर तीर्थिकोंको कहा—जाओ, यह कहते हुए नगरमें घूमो कि यह सुंदरी हमने मरवाई...। (फिर) तीर्थिकोंने भी मनुष्य-वधका दंड पाया।

उदानमें कहा है—(१) तीर्थिकोंने खुद मारा। (२) जेतवनकी परिखामें कुआँ खोदकर सुंदरीके शरीरको दबा दिया। (३) सप्ताह बाद अपनी ही बदनामी रह गई। लेकिन धम्मपदअट्ठकथामें—(१) तीर्थिकोंने गुंडोंसे मरवाया। (२) जेतवनकी गंधकुटीके पास मालाके कूड़ेमें सुंदरीके शरीरको डाल दिया। (३) धूर्तोंने शराबके नशेमें भंडा फोड़ दिया। (४) तीर्थिकोंको भी मनुष्य-वधका दंड मिला। यहाँ यद्यपि अन्य अंशोंका समाधान हो सकता है, तथापि उदानका 'परिखामें गाड़ना' और अट्ठकथाका गंधकुटीके पास कूड़ेमें डालना, परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं। आरामोंके चारों ओर परिखा होती थी, इसके लिए विनयपिटकमें यह वचन है—"उस[१] समय आराममें घेरा नहीं था, बकरी आदि पशु भी पौधोंका नुकसान करते थे। भगवान्से यह बात कही। (भगवान्ने कहा)—बाँस-वाट, कंटकी-वाट, परिखा-वाट इन तीन वाटों(=रुँधान)से घेरनेकी अनुज्ञा देता हूँ।" यह परिखा आरामके चारों ओर होनेसे गंधकुटीके समीप नहीं हो सकती। दोनोंका विरोध स्पष्टही है। ऐसे भी उदान मूल सूत्रोंसे सम्बन्ध रखता है, इसलिए उसकी, अट्ठकथासे अधिक प्रामाणिकता है। दूसरे उसका कथन अधिक संभव प्रतीत होता है। परिखा दूर होनेसे वहाँ आदमियोंके आने-जानेका उतना भय न था, इसलिए खून करनेका वही स्थान हत्यारोंके अधिक अनुकूल था। गंधकुटी जो मुख्य दर्वाजेके पास थी। वहाँ लोगोंका बराबर आना-जाना रहता था। शरीर ढाँकने भरके लिए मालाओंके ढेरका गंधकुटीके पास जमा करके रखना भी अस्वाभाविक है।

युन्-च्वेङने लिखा है—

Behind the convent, not far, is where the Brahmachari

---

१ विनयपिटक चुल्लवग्ग, सेनासन० ६, पृ० २५०

heretics killed women and accused Buddha of the murder, (*The Life of Hiuen-Tsang*, p. 93).

फाहियानने इसके लिए कोई विशेष स्थान निर्दिष्ट नहीं किया है।

**परिखा**—सुंदरीके इस वर्णनसे यहभी पता लगता है, कि जेतवनके चारों ओर परिखा खुदी हुई थी। इसलिए बाँस या काँटेकी बाड़ नहीं रही होगी।

इन इमारतोंके अतिरिक्त जेतवनके अंदर पेशावखानें, पाखानें, चंक्रमण-शालाएँ भी थीं; किन्तु इनका कोई विशेष उद्धरण नहीं मिलता।

**जेतवन बननेका समय**—जेतवन-निर्माणमें दिये विनयके प्रमाणसे पता लगता है कि बुद्धको राजगृहमें अनाथपिंडकने वर्षावासके लिए निमंत्रित किया था। फिर वर्षा भर रहनेके लिए स्थान खोजते हुए उसे जेतवन दिखलाई पड़ा। फिर उसने बहुत धन लगाकर वहाँ अनेक सुंदर इमारतें बनवाईं। यद्यपि सूत्र और विनय-में हमें बुद्धके वर्षावासोंकी सूची नहीं मिलती तो भी अट्ठकाएँ इसकी पूरी सूचना देती हैं। अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथा ( ८।४।५ ) में यह इस प्रकार है—

| वर्षा० | ई० पू० | |
|---|---|---|
| १ | (५२७) | ऋषिपतन (सारनाथ) |
| २ | (५२६) | राजगृह (वेलुवन) |
| ३ | (५२५) | राजगृह (वेलुवन) |
| ४ | (५२४) | ,, ,, |
| ५ | (५२३) | वैसाली (महावन) |
| ६ | (५२२) | मंकुल पर्वत |
| ७ | (५२१) | तावतिंसभवन (त्रायस्त्रिंश लोक) |
| ८ | (५२०) | भर्ग (संसुमारगिरि = चुनार) |
| ९ | (५१९) | कौशांबी |
| १० | (५१८) | पारिलेय्यकवनसंड |
| ११ | (५१७) | नाला |
| १२ | (५१६) | वेरंजा |
| १३ | (५१५) | चालिय पर्वत |
| १४ | (५१४) | जेतवन |

| वर्षा० | ई० पू० | |
|---|---|---|
| १५ | (५१३) | कपिलवस्तु |
| १६ | (५१२) | आलवी |
| १७ | (५११) | राजगृह |
| १८ | (५१०) | चालिय पर्वत |
| १९ | (५०९) | चालिय पर्वत |
| २० | (५०८) | राजगृह |
| २१ | (५०७) | श्रावस्ती |
| २२ | (५०६) | " |
| २३ | (५०५) | " |
| २४ | (५०४) | " |
| २५ | (५०३) | " |
| २६ | (५०२) | " |
| २७ | (५०१) | " |
| २८ | (५००) | " |
| २९ | (४९९) | " |
| ३० | (४९८) | " |
| ३१ | (४९७) | " |
| ३२ | (४९६) | " |
| ३३ | (४९५) | " |
| ३४ | (४९४) | " |
| ३५ | (४९३) | " |
| ३६ | (४९२) | " |
| ३७ | (४९१) | " |
| ३८ | (४९०) | " |
| ३९ | (४८९) | " |
| ४० | (४८८) | " |
| ४१ | (४८७) | " |

| वर्षा | ई० पू० | |
|---|---|---|
| ४२ | (४८६) | श्रावस्ती |
| ४३ | (४८५) | " |
| ४४ | (४८४) | " |
| ४५ | (४८३) | वैशाली (वेलुवगाम) |

इसके देखनेसे मालूम होता है कि तथागतने जेतवनमें सर्वप्रथम वर्षावास बोधिके चौदहवें वर्षमें किया था। इसका अर्थ यहभी है, कि जेतवन बना भी इसी वर्ष (५१४-५१३ ई० पू०)में था, क्योंकि विनयका कहना साफ है कि अनाथपिंडकने वर्षावासके लिए निमंत्रित किया था और विनयके सामने अट्ठ-कथाका प्रमाण नहीं। यहाँ इसपर विचार करनेके लिए कुछ और प्रमाणोंपर विचार करना होगा।

वर्षावासके लिए जेतवनमें निमंत्रित होना इसलिए जब जेतवनको पहले गये, तो वर्षावास भी वहीं किया।

(क) कौशांबी में[1] भिक्षुओंके कलहके बाद पारिलेय्यकमें जाकर रहना, वहाँसे फिर जेतवनमें।

(ख) उदान[2] में एकांत विहारके लिए पारिलेय्यकमें जाना लिखा है, झगड़ेका जिक्र नहीं।

---

१ "कोसंबियं पिंडाय चरित्वा...संघमज्झे ठितको'व...गाथाय भासित्वा...बालककोणकारगामे...। अथ...पाचीनवंसदाये...। अथ...पारिलेय्यके..यथाभिरत्तं विहरित्वा...अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो...सावत्थियं...जेतवने...।'
—महावग्ग, कोसंबक्खन्धक १०, ४०४–४०८, पृष्ठ।

२ "भगवा कोसंबियं विहरति घोसितारामे। तेन खो पन समयेन भगवा आकिण्णो विहरति भिक्खूहि, भिक्खुनीहि उपासकेहि उपासिकाहि राजूहि राजमहामत्तेहि तित्थियेहि तित्थियसावकेहि आकिण्णो दुक्खं न फासु विहरति।... अथ खो भगवा...अनामंतेत्वा उपट्ठाके अनपलोकेत्वा भिक्खुसंघं एको अदुतीयो येन परिलेय्यकं तेन चारिकं पक्कामि। अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो येन पारि-

(ग) संयुत्तनिकाय[1] में एकांत विहारका भी जिक्र नहीं। बिल्कुल चुपचाप पारिलेय्यकका चला जाना लिखा है। पीछे चिरकालके बाद आनन्दका भिक्षुओंके साथ जाना, किन्तु हाथी आदिका वर्णन नहीं।

(घ) धम्मपदअट्ठकथा[2] में झगड़ेके विस्तारका वर्णन है, और महावग्गकी तरह यात्रा करके पारिलेय्यकमें जाना तथा वहाँ वर्षावास करना। वर्षावासके बाद फिर वहाँसे जेतवन जाना भी लिखा है।

यद्यपि चारों जगहोंकी कथाओंमें परस्पर कितनाही भेद है, किन्तु संयुत्तनिकायसे भी, जो निःसन्देह सबसे पुरातन प्रमाण है, चिरकाल तक पारिलेय्यकमें वास करना मालूम होता है, क्योंकि वहाँ भिक्षु आनंदसे कहते हैं—'आयुष्मान् आनंद! भगवान्के मुखसे धर्मोपदेश सुने बहुत दिन हुए।' संयुत्तनिकायके बाद उदानका नंबर है। वहाँ झगड़ेका जिक्र नहीं, तोभी चिरकाल तक वहाँ रहना लिखा है। यद्यपि इन दोनों पुराने प्रमाणोंमें पारिलेय्यकसे श्रावस्ती जाना नहीं लिखा है, तो भी पारिलेय्यकमें अधिक समयका वास वर्षावासके विरुद्ध नहीं

---

लेय्यकं तदवसरि। तत्तसुदं भगवा पारिलेय्यके विहरति रक्खितवनसंडे भद्दसालमूले। अञ्ञातरोपि खो हत्थिनागो...येन भगवा तेनुपसंकमि।"

—उदान, ४।५

१ "एकं समयं भगवा कोसंबियं विहरति घोसितारामे।...कोसंबियं पिंडाय चरित्वा...अनामंतेत्वा उपट्ठाके, अनपलोकेत्वा भिक्खुसंघं, एको अदुतीयो चारिकं पक्कामि।...एकको भगवा तस्मिं समये विहरितुकामो होति।...अथ खो भगवा अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो येन पारिलेय्यकं तदवसरि। तत्थ सुदं पारिलेय्यके विहरति भद्दसालमूले।...अथ खो संबहुला भिक्खू...आनंदं उपसंकमित्वा...चिरस्सं सुता खो नो आवुसो आनंद भगवतो सम्मुखा धम्मिकथा।... अथ खो...आनंदो तेहि भिक्खूहि सद्धिं येन पारिलेय्यकं भद्दसालमूलं येन भगवा तेनुपसंकमि।...भगवा धम्मिया कथाय संदस्सेसि।" —सं० नि०,२१।८।९

२ कोसंबियं पिंडाय चरित्वा अनपलोकेत्वा भिक्खुसंघं एककोव...बालकलोणकारगामं गंत्वा...पाचीनवंसदाये...येन पारिलेय्यकं तदवसरि ...भद्दसालमूले पारिलेय्यके एकेन हत्थिना उपट्ठहियमानो फासुकं वस्सावासं वसि।... अनुपुब्बेन जेतवनं अगमासि।..." (ध० प०, १।५, अ० क०)

जाता। विनय और पीछेके दूसरे ग्रन्थोंमें वर्णित जेतवन-गमनसे कोई विरोध नहीं है। यहाँ, हाथीकी सेवाकी कथा संयुत्तनिकायके बाद उदानके समयमें गढ़ी गई मालूम होती है। पारिलेय्यकसे वर्षाके बाद जेतवनमें जाना निश्चित मालूम होता है। पारिलेय्यकका वर्षावास ऊपरकी सूचीमें बोधिसे दसवें वर्ष (५१८ ई० पू०) में है। अतः इससे पूर्वही जेतवन बना था। बोधि-प्राप्तिके समय तथागतकी आयु ३५ वर्षकी थी। संयुत्तनिकायमें राजा प्रसेनजित्से, संभवतः पहली, मुलाकात होनेका इस प्रकार वर्णन आया है—

"भगवान्...जेतवनमें विहरते थे। राजा प्रसेनजित् कोसल..भगवान्के पास जा सम्मोदन करके एक तरफ बैठ गया।...फिर भगवान्से कहा। आप गोतम भी—'हमने अनुत्तर सम्यक् संबोधिको प्राप्त कर लिया'—यह प्रतिज्ञा करते हैं?—जिसको महाराज! अनुत्तर सम्यक्-संबुद्ध हुआ कहें, ठीक कहते हुए वह मुझे ही कहे।...हे गोतम! जो भी संघी, गणी, गणाचार्य, ज्ञात, यशस्वी तीर्थंकर, बहुत जनों द्वारा साधु-सम्मत हैं...जैसे—पूर्ण काश्यप, मंखलि, गोसाल, निगंठ नाथपुत्त, संजय वेलट्ठिपुत्त, पकुध कच्चायन, अजित केसकंबल, वह भी पूछनेपर 'अनुत्तर सम्यक् संबोधिको जान गये', यह दावा नहीं करते। फिर क्या कहना है, आप गौतम तो जन्मसे दहर (=तरुण) हैं, प्रव्रज्यासे भी नये हैं।...भगवान् आजसे मुझे अपना शरणागत उपासक....धारण करें[1]।"

यहाँ राजा प्रसेनजित् जेतवनमें जाकर, निर्ग्रंथ ज्ञातृ-पुत्र (महावीर) आदिका यश वर्णन करके, तथागतको उमरमें कम और नया साधु हुआ कहता है। इससे मालूम होता है कि तथागत अभिसंबोधि (३५ वर्षकी आयु) के बहुत देर बाद श्रावस्ती नहीं गये थे। उस समय जेतवन बन चुका था। 'दहर' कहनेकेलिए हम ४५ वर्षकी उम्र तककी सीमा मान सकते हैं। इस प्रकार पुराने सुत्तंतके अनुसार भी अभिसंबोधिसे दसवें वर्ष (५१९ ई० पू०)से पूर्वही जेतवन बन चुका था।

महावग्गमें राजगृहसे कपिलवस्तु, फिर वहाँसे श्रावस्ती जेतवन जानेका वर्णन आया है—

"भगवान्[2] राजगृहमें...बिहार करके...चारिका चरण करते हुए...

---

१ संयुत्तनिकाय, पृ० २३

२ महावग्ग (सिंहललिपि), ३९१–९३

शाक्य देशमें कपिलवस्तुके न्यग्रोधाराममें विहार करते थे।....फिर भगवान् पूर्वाह्ण समय....पात्र चीवर लेकर जहाँ शुद्धोधन शाक्यका घर था वहाँ गये, और रखे हुए आसनपर बैठे। तब राहुलमाता देवीने राहुल कुमारसे कहा। राहुल! यह तेरा पिता है, जा दाय्यज माँग।...राहुल कुमार यह कहते हुए भगवान्के पीछे-पीछे हो लिया—'श्रमण, मुझे दायज्ज दो', 'श्रमण, मुझे दायज्ज दो'। तब भगवान्ने आयुष्मान् सारिपुत्र से कहा—तो सारिपुत्त तू राहुल कुमारको प्रव्रजित कर...। फिर भगवान् कपिलवस्तुमें इच्छानुसार विहार कर श्रावस्तीकी ओर चारिकाके लिए चल दिये। वहाँ...अनाथपिंडक के आराम जेतवनमें विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् सारिपुत्तके उपस्थापककुलने एक लड़केको आयुष्मान् सारिपुत्रके पास प्रव्रज्या देनेकेलिए भेजा। आयुष्मान् सारिपुत्रके चित्तमें हुआ, भगवान्ने प्रज्ञप्त किया है, एकको, दो सामणेर अपनी सेवामें न रखना चाहिए। और यह मेरा राहुल सामणेर है ही..." अट्ठकथासे स्पष्ट है कि यह यात्रा बोधिके दूसरे वर्षमें अर्थात् गयासे वाराणसी ऋषि-पतन, वहाँसे राजगृह आकर फिर कपिलवस्तु जाना। इस प्रकार ५२६ ई० पू०में जेतवन मौजूद मालूम होता है।

जातकट्ठकथामें इसे इस तरह संक्षिप्त किया है—शास्ता बुद्ध होकर प्रथम वर्षा० ऋषिपतनमें बसकर,... उरुवेलाको जा वहाँ तीन मास बसे,...भिक्षु संघ-सहित पौषकी पूर्णिमाको राजगृहमें पहुँच दो मास ठहरे। इतनेमें[1] वाराणसीसे निकले पाँच मास हो गये।.... फाल्गुन पूर्णिमाको उस (=उदायि) ने सोचा...अब यह (यात्राका) समय है...। राजगृहसे निकलकर प्रतिदिन एक योजन चलते थे।...(इस प्रकार) राजगृहसे ६० योजन कपिलवस्तु दो मासमें पहुँचे।...(वहाँसे) भगवान् फिर लौटकर राजगृह जा, सीतवनमें ठहरे। उस समय अनाथपिंडक गृहपति...अपने प्रिय मित्र राजगृहके सेठके घर जा, बुद्धोत्पत्ति सुन,.. शास्ताके पास जा धर्मोपदेश सुन,...द्वितीय दिन बुद्ध संघको महादान दे, श्रावस्ती आनेकेलिए शास्ताकी प्रतिज्ञा ले...।

यहाँ विनयसे जातकट्ठकथाका, कपिलवस्तुसे आगे जानेके स्थानमें विरोध

---

१ जातक, निदान।

है। जातकटठकथाके अनुसार बुद्ध वहाँसे लौटकर फिर राजगृह आये। लेकिन विनयके अनुसार राहुलको प्रव्रजित कर वे श्रावस्ती जेतवन पहुँचे। जातकके अनुसार बुद्धकी कपिलवस्तुकी यात्रा बोधिसे दूसरे वर्ष (५२६ ई० पू०) की फाल्गुन-पूर्णिमाको आरम्भ हुई, और वे दो मास बाद वैशाखपूर्णिमाको वहाँ पहुँचे। वहाँसे फिर लौटकर राजगृह आकर वहीं उन्होंने वर्षावास किया जो ऊपरकी सूची से स्पष्ट है। वहीं सीतवनमें अनाथपिंडकका जातक-अट्ठकथा-के अनुसार श्रावस्ती आनेकी प्रतिज्ञा लेना, विनयके अनुसार वर्षावासके लिए निमंत्रण स्वीकार कराना होता है। इस प्रकार तथागतका जाना द्वितीय वर्षावासके बाद (५२६-५२५ ई० पू०) हो सकता है।

अब यहाँ दो बातोंपर ही हमें विशेष विचार करना है—(१) विनयके अनुसार कपिलवस्तुसे श्रावस्ती जाना और वहाँ जेतवनमें ठहरना। (२) जातक अ० के अनुसार कपिलवस्तुसे राजगृह लौट आना, और संभवतः वर्षावासके बाद दूसरे वर्ष जेतवनमें विहार तैयार हो जानेपर वहाँ जाना। यद्यपि विनय ग्रंथकी प्रामाणिकता अट्ठकथासे अधिक है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि कपिल-वस्तुके जानेसे पहले अनाथपिंडक तथागतसे मिलने नहीं आता; इसीलिये कपिलवस्तुसे श्रावस्ती जाकर जेतवनमें ठहरना बिल्कुल ही संभव नहीं मालूम पड़ता। इसके विरुद्ध जातकका वर्णन सीतवनके दर्शनके ( द्वितीय वर्षा० के ) बाद जाना अधिक युक्तियुक्त मालूम होता है। विनयने स्पष्ट कहा है कि अनाथपिंडकने वर्षावासके लिए निमंत्रण दिया, और इसीलिए तीन मासके निवासके लिए जेतवनके झटपट बनवानेकी भी अधिक जरूरत पड़ी; इस प्रकार तथागत जेतवन गये और साथ ही वहीं उन्होंने वर्षावास भी किया—यह अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यद्यपि वर्षावासोंकी सूचीमें तीसरा वर्षावास राज-गृहमें लिखा है, तो भी जेतवन बोधिके दूसरे और तीसरे वर्षके बीच (५२६-५२५ ई० पू०) में बना जान पड़ता है।

पहिले दिये अट्ठकथाके उद्धरणसे मालूम होता है कि तीर्थिकोंने जेतवन-के पास तीर्थिकाराम प्रथम बोधि अर्थात् बोधिके बाद प्रथम पंद्रह वर्षों (५२७-५१३ ई० पू०) में बनाना आरंभ किया था। इससे निश्चित ही है कि उस (२१३ ई० पू०) से पूर्व जेतवन बन चुका होगा।

ऊपर दी गई वर्षावासकी सूचीके अनुसार प्रथमवर्षावास श्रावस्तीमें बोधिसे चौदहवें साल (५१४ ई० पू०) में किया। चूँकि अनाथपिंडक का निमंत्रण वर्षावासके लिये था, इसलिए यह भी जेतवन बननेका साल हो सकता है।

सातवाँ वर्षावास त्रयस्त्रिंस-लोकमें बतलाया जाता है। उस वर्ष आषाढ़ पूर्णिमा ( बुद्धचर्या पृष्ठ ८५ ) के दिन तथागत श्रावस्ती जेतवनमें थे। इस प्रकार इस समय (५२१ ई० पू०) जेतवन बन चुका था।

सारांश यह कि जेतवन बननेके सात समय हमें मिलते हैं—

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| (१) | सोलहवें वर्ष | (५१२ ई० पू०) | से पूर्व, | (अट्ठकथा) | पृ० २५९। |
| (२) | पंद्रहवें ,, | (५१३ ई० पू०) | " पूर्व, | (अट्ठकथा) | पृ० २९४। |
| (३) | दसवें ,, | (५१८ ई० पू०) | " पूर्व, | (विनय सूत्र) | पृ० २९६। |
| (४) | ,, ,, | ,, | " " | (सूत्र) | पृ० २९८। |
| (५) | सातवें " | (५२१ ई० पू०) | " पूर्व, | (अट्ठकथा) | पृ० २९९। |
| (६) | द्वितीय " | (५२० ई० पू०) | " " | (विनय) | पृ० २९९। |
| (७) | तृतीय " | (५२५ ई० पू०) | " " | (अट्ठकथा) | पृ०, ३००। |

इनमें पहले पाँचसे हमें यही मालूम होता है, कि उक्त समयसे पूर्व किसी समय जेतवन तैयार हुआ, इसलिये उनका किसीसे विरोध नहीं है।

## पूर्वाराम

जेतवनके बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान पूर्वाराम था। पहले हम पूर्वारामकी स्थितिके बारेमें संक्षेपसे विचार कर चुके हैं। पूर्वाराम और पूर्वद्वारके सम्बन्धमें संयुक्तनिकाय[1] और उदान[2] के इस उद्धरणसे कुछ प्रकाश पड़ता है।

"भगवान्...पूर्व्वाराममें ...सायंकाल ध्यानसे उठकर बाहरी द्वारके कोठेके बाहर बैठे थे।... (उस समय) राजा प्रसेनजित् भगवान्के पास पहुँचा।...उस समय सात जटिल, सात निगंठ,सात अचेलक, सात एकसाटक और सात परिव्राजक, नख, लोम बढ़ाए अनेक प्रकारकी खारिया लेकर भगवान्के अविदूरसे जाते थे। तब राजा...आसनसे उठकर, उत्तरासंगको एक कंधेपर कर, दाहिने घुटनेको भूमिपर रख, उन सातों...को ओर अंजलि जोड़ तीन बार नाम सुनाने लगा—भंते! मैं राजा प्रसेनजित् कोसल हूँ...।"

---

१ ३।२।१, पृ० २४; अ० क० २१६ २ ६।२

इसपर अट्ठकथा—"बाहरी द्वारका कोठा—प्रासाद—द्वारकोट्ठकके बाहर, विहारके द्वारकोट्ठकसे बाहरका नहीं। वह प्रासाद **लौहप्रासाद**की भाँति चारों ओर चार द्वारकोट्ठकोंसे युक्त, प्राकारसे घिरा था। उनमेंसे पूर्व द्वार-कोट्ठकके बाहर प्रासादकी छायामें पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके...बैठे थे। अविदूरसे, अर्थात् अविदूर मार्गसे नगर (=श्रावस्ती) में प्रवेश करते थे।"

इसमें हमें निम्नलिखित बातें मालूम होती हैं—

(१) पूर्वारामके प्रासादके चारों ओर चार फाटकोंवाली चहारदीवारी थी।

(२) अनुराधपुरका लौहप्रासाद और पूर्वारामका प्रासाद कई अंशोंमें समान थे। संभवतः पूर्वारामके नमूनेपर ही लौह-प्रासाद बना था।

(३) इसके चारों तरफ चार दर्वाजे थे।

(४) (जाड़े में) सायंकालको पश्चिम द्वारके बाहर बैठकर प्रायः तथागत धूप लिया करते थे।

(५) वहाँ राजा प्रसेनजित् तथा दूसरे संभ्रांत व्यक्ति भी उपस्थित होते थे।

(६) उसके पासहीसे मार्ग था।

(७) इस स्थानसे नगरका पूर्वद्वार बहुत दूर न था, क्योंकि जटिलोंके लिए 'नगरको जाते थे' न कहकर 'नगरमें प्रवेश करते थे' कहा है।

(८) संभवतः पूर्वाराम[1] की ओर भी जटिल, निगंठ (=जैन), अचेलक, एकसाटक और परिव्राजक साधुओंके विहार थे, जहाँसे वे नगरमें जा रहे थे।

पहले यह बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार विशाखाका 'महालता आभूषण' एक दिन जेतवनमें छूट गया था। विशाखाने तथागतसे कहा—"भंते[2] ! आर्य आनंदने मेरे आभूषणोंको हाथ लगाया...। उसको देकर, (उसके मूल्यसे) चारों प्रत्ययोंमें कौन प्रत्यय ले आऊँ? विशाखा! पूर्वद्वारपर, संघके लिये वासस्थान बनाना चाहिए। अच्छा भंते! यह कहकर तुष्टमानसा विशाखाने नव करोड़में भूमि ही खरीदी। अन्य नव करोड़से विहार बनाना आरंभ किया।...एक दिन अनाथपिंडकके घर भोजन करके शास्ता उत्तर द्वार-

१ वर्तमान हनुमनवाँ।

२ ध० प०, ४–८; अ० क०, १९९, ३८–३९

की ओर गये।....उत्तर द्वार जाते हुए देख चारिकाको जाएँगे...यह सुन... विशाखाने जाकर...कहा—भंते! कृताकृत जानने वाले एक भिक्षुको लौटाकर (=देकर) जाएँ।—तो वैसे (भिक्षु) का पात्र ग्रहण कर।...विशाखाने ऋद्धिमान् समझ महामोग्गलानका पात्र पकड़ा।...उनके अनुभवसे पचास-साठ योजनपर वृक्ष और पाषाणकेलिये आदमी जाते थे। बड़े-बड़े पाषाणों और वृक्षोंको लेकर उसी दिन लौट आते थे।...जल्दी ही दो-महला प्रासाद बना दिया गया। निचले तल पर पाँच सौ गर्भ (=कोठरियाँ) और ऊपरकी भूमि (=तल) पर पाँच सौ गर्भ, (कुल) एक हजार गर्भोंसे सुशोभित...था। शास्ता नौमास चारिका करके फिर श्रावस्ती आए। विशाखाके प्रासादमें भी काम नौ मासमें समाप्त हुआ। प्रासादके कूटको ठोस साठ जलघड़ेकेबराबर लाल सुवर्णसे बनवाया। शास्ता जेतवनको जा रहे हैं, यह सुन (विशाखाने) आगे जा, शास्ताको अपने विहारमें लाकर...। उसकी एक सहायिका हजार मूल्यवाले एक वस्त्र को ले आकर—सहायिके! तेरे प्रासादमें मैं इस वस्त्रका फर्श बिछाना चाहती हूँ; बिछानेका स्थान मुझे बतलाओ। वह उससे कम मूल्यवाले वस्त्रको न देख रोती हुई खड़ी थी। तब आनंद स्थविरने कहा—सोपान और पैर धोनेके स्थानके बीचमें पादपुंछन करके बिछा दो।...विहारकी भूमिको खरीदनेमें नौ करोड़, विहार बनवानेमें नौ, और विहारके उत्सवमें नौ, इस प्रकार सब सत्ताईस करोड़ उसने बुद्ध-शासनमें दान किया। स्त्री होते, तथा मिथ्या-दृष्टिके घरमें बसने वाली-का इस प्रकारका त्याग (किसीका) नहीं है।"

इससे मालूम होता है—

( ९ ) पूर्वाराम ९ मासमें बना था।

( १० ) मोग्गलान बनानेमें तत्त्वावधायक थे।

( ११ ) मकान बनवानेमें कुल खर्च २७ करोड़ हुआ।

( १२ ) यह दो-महला था। प्रत्येक तलमें ५०० गर्भ थे।

विनयपिटकमें है—

"विशाखा[1] ...संघके लिये आलिंद (=बरामदा)—सहित, हस्तिनख प्रासाद बनवाना चाहती थी।"

---

१ विनयपिटक चुल्लवग्ग, सेनासनक्खंधक ६

इससे—

( १३ ) वह बरामदा सहित था।

( १४ ) वह हस्तिनख प्रासाद था।

संयुत्तनिकाय में—

"भगवान[1] ... पूर्वाराममें ... सायंकालको... पीछेकी ओर धूपमें पीठ तपाते बैठे हुए थे। आयुष्मान् आनंद भगवान्‌के पास गये।... और हाथसे भगवान्‌के शरीरको रगड़ते हुए बोले—आश्चर्य है भंते! अब भगवान्... का छवि-वर्ण उतना परिशुद्ध नहीं रहा। गात्र शिथिल है, सब झुर्रियाँ पड़ गई हैं। शरीर सामने झुका हुआ है। चक्षु..(आदि) इंद्रियोंमें भी विपरीतता दिखलाई पड़ती है।"

इसपर अट्ठकथामें है— "प्रासाद पूर्व ओर छायासे ढँका था, इसीलिये प्रासादके पश्चिम-दिशाभागमें धूप थी। उस स्थानपर... बैठे थे।... यह हिम पड़नेका शीत समय था। उस वक्त महाचीवरको उतार कर सूर्य किरणोंसे पीठको तपाते हुए बैठे थे।"

इनसे ये बातें और मालूम होती हैं—

(१५) उस समय तथागतके शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई थी, आँखों आदि की रोशनीमें अंतर आ गया था।

(१६) प्रधान द्वार पूर्व ओर था, तभी 'पीछेकी ओर' कहा गया है। संयुक्तनिकायही में है—

"मोग्गलान[2] ने... पैरके अँगूठेसे मिगारमाताके प्रासादको हिलाया।... उन भिक्षुओंने (कहा)... यह मिगारमाताका प्रासाद गंभीरनेम, सुनिखात, अचल, असंप्रकम्प्य है... ।"

अट्ठकथाने गंभीरनेमका अर्थ 'गंभीर भूमिभागमें प्रतिष्ठित' किया है। और 'सुनिखात'का, कूटकर अच्छी तरह स्थापित।"

इनसे—

(१७) पूर्वाराम ऊँची और दृढ़ भूमि में बनाया गया था।

(१८) "कूटकर गाड़ा गया था"से खंभोंको गाड़कर, लकड़ियों का बना मालूम होता है।

---

१ सं० नि०, ५।६।२६ २ ५०।२।४ ।

मज्झिमनिकाय में——

"हे गौतम, जिस[1] प्रकार इस मिगारमाताके प्रासादमें अंतिम सोपान कलेवर तक अनुपूर्व क्रिया देखी जाती है. . . ।"

अट्ठकथामें——

"प्रथम सोपानफलक[2] तक, एकही दिनमें सात महलका प्रासाद नहीं बनाया जा सकता। वस्तु शोधनकर स्तंभ खड़ा करनेसे लेकर चित्रकर्म करने तक अनुपूर्व क्रिया।"

इससे भी——

(१९) वह प्रासाद सात महलका था, जो (१२) से बिल्कुल विरुद्ध है, और बतलाता है कि किस प्रकार बातोंमें अतिशयोक्ति होती है।

(२०) मकान बनानेमें पहले भूमिको बराबर किया जाता था, फिर खंभे गाड़े जाते थे,. . . अंतमें चित्रकर्म होता था।

मज्झिमनिकायमें ही——

"जिस[3] प्रकार आनंद ! यह मिगारमाताका प्रासाद हाथी, गाय, घोड़ा-घोड़ीसे शून्य है, सोना-चाँदीसे शून्य है; स्त्री-पुरुष-सन्निपातसे शून्य है"। इसकी अट्ठकथामें लिखा है——

"वहाँ काष्ठ-रूप[4], पुस्त-रूप, चित्र-रूपमें बने हाथी आदि हैं। वैश्रवण मांधाता आदिके स्थित स्थान पर चित्रकर्म भी किये गये हैं। रत्नपरिसेवित जँगले, द्वारबंध, मंच, पीठ आदि रूपसे स्थित, तथा जीर्ण प्रतिसंस्करणार्थ रखा हुआ सोना-चाँदी है। काष्ठरूपादिके रूपमें, तथा प्रश्न पूछन आदिके लिये आने वाले स्त्री-पुरुष हैं। इसलिये वह (मिगारमातुपासाद) उनसे शून्य है, का अर्थ है——इंद्रिययुक्त जीवित हाथी आदिका, तथा इच्छानुसार उपभोग योग्य सोने-चाँदीका, नियमपूर्वक बसने वाले स्त्री-पुरुषोंका अभाव"।

---

१ म० नि०, ३।१।७, गणक-मोग्गलानसुत्त, १०७

२ अ० क०, ८५५

३ म० नि०, ३।२।७, चूल सुञ्ञातासुत्त, ११९

४ अ० क०। रूप-मूर्त्ति।

इससे--

(२१) वह सोने-चाँदीसे शून्य था। अट्ठकथाकी इसपरकी लीपापोती सिर्फ यही बतलाती है कि कैसे पीछे भिक्षुवर्ग चमक-दमकके पीछे पड़कर व्याख्या किया करता था।

दीघनिकायकी अट्ठकथामें--

"(विशाखा)[1] दशवलकी प्रधान उपस्थायिकाने उस आभूषणको देकर नव करोड़से... करीस भर भूमिपर प्रासाद बनवाया। उसके ऊपरी भागमें ५०० गर्भ, निचले भागमें ५०० गर्भ, १००० गर्भोंसे सुशोभित। वह प्रासाद खाली नहीं शोभा देता था, इसलिये उसको घेरकर, साढ़े पाँच सौ घर, ५०० छोटे प्रासाद और ५०० दीर्घशालाएँ बनवाई...। अनाथपिंडक ने... श्रावस्तीके दक्षिण भागमें **अनुराधपुरके महाविहार**सदृश स्थानपर जेतवन महाविहारको बनवाया। विशाखाने श्रावस्तीके पूर्व भागमें **उत्तमदेवी** विहारके समान स्थानपर पूर्वारामको बनवाया। भगवान्ने इन दो विहारोंमें नियमित रूपसे निवास किया। (वह) एक वर्षा जेतवन में व्यतीत करते थे, एक पूर्वाराममें।"

(२२) विहार एक करीस अर्थात् प्रायः ३ एकड़ भूमिमें बना था।

(२३) चारों ओर हजारों घरों, छोटे प्रासादों, दीर्घशालाओं का लिखना अट्ठकथाकारोंका अपना काम मालूम होता है।

(२४) अनुराधपुरमें भी जेतवन और पूर्वारामका अनुकरण किया गया था। पूर्वाराम श्रावस्तीके उसी प्रकार पूर्व तरफ था, जैसे अनुराधपुर (सिंहल) में उत्तरदेवी विहार।

जिस प्रकार सुदत्तसेठका नाम अनाथपिंडक प्रसिद्ध है; उसी प्रकार विशाखा मिगारमाताके नामसे प्रसिद्ध है। नामसे, मिगार विशाखा का पुत्र मालूम होगा, किन्तु बात ऐसी नहीं है, मिगारसेठ विशाखाका ससुर था। इस नामके पड़नेकी कथा इस प्रकार है--

"विशाखा[2]... अंगराष्ट्र (भागलपुर, मुंगेर जिले) के भद्दिय (= मुंगेर)

---

**१ दी० नि०, आनञ्जसुत्त २०, अ० क० पृ० १४। अं० नि० अ० क० १।७।२ भी।** **२ अं० नि०, १।७।२, अ० क० २१९**

नगरमें मेंड़क सेठके पुत्र धनंजय सेठकी अग्रमहिषी सुमना देवीके कोखसे पैदा हुई... ! बिंबिसार राजाके आज्ञा-प्रवर्तित स्थान (अंग-मगध) में पाँच अतिभोग व्यक्ति **जोतिय, जटिल, मेंडक, पुण्णक** और **काकवलिय** थे... । श्रावस्ती में कोसल राजाने बिंबिसारके पास संदेश भेजा...हमको एक महाधनी कुल भेजो।... राजाने... धनंजयको... भेजा। तब कोसल राजाने श्रावस्तीसे सात योजनके ऊपर साकेत (अयोध्या) नगरमें श्रेष्ठीका पद देकर (उसे) बसा दिया। श्रावस्तीमें मिगारसेठका पुत्र पूर्णवर्द्धनकुमार वयःप्राप्त था। ...मिगार सेठ (बारात के साथ) कोसल राजाको लेकर गया।...चार मास (उन्होंने वहीं) पूरे किये। ...( धनंजय सेठने विशाखाको ) उपदेश देकर दूसरे दिन सभी श्रेणियोंको इकट्ठा करके राजसेनाके बीचमें आठ कुटुबियोंको जामिन देकर—'यदि गए हुए स्थानपर मेरी कन्याका कोई दोष उत्पन्न हो, तो तुम उसे शोधन करना'—कहकर नौ करोड़ मूल्यके 'महालता' आभूषणसे कन्याको आभूषित कर, स्नान चूर्णके मूल्यमें ५४ सौ गाड़ी धन दे... । मिगारसेठीने... सातवें दिन ... नंगे श्रमणकोंको बैठाकर, (कहा)—मेरी बेटी आवे, अर्हतोंकी वंदना करे... । वह... उन्हें देख... 'धिक्, धिक्' निंदा करती चली गई।...नंगे श्रमणोंने सेठकी निंदा की—...क्यों गृहपति ! दूसरी नहीं मिली ? श्रमण गौतमकी श्राविका (शिष्या) महाकालकर्णीको किसलिये इस घरमें प्रवेश कराया ?... ( सेठ ) आचार्यो ! बच्ची है...आप चुप रहें—यह कह नंगोंको बिदाकर ।

आसनपर बैठ सोनेकी कर्छुल लेकर विशाखा द्वारा परोसे (खाद्य को) भोजन करता था।...उसी समय एक मधूकरीवाला भिक्षु घरके द्वारपर पहुँचा... । वह...स्थविरको देखकर भी...नीचे मुँहकर पायसको खाता ही रहा। विशाखाने...स्थविरसे (कहा)—माफ करें भंते ! मेरा ससुर पुराना खाता है। उस ( सेठ )ने अपने आदमियोंसे कहा,...इस पायसको हटाओ, इसे ( = विशाखाको) भी इस घरसे निकालो। यह ऐसे मंगल घरमें मुझे अशुचिखादक बना रही है... । विशाखाने...कहा—तात ! इतने वचन मात्रसे मैं नहीं निकलती। मैं कुंभदासीकी भाँति पनघटसे तुम्हारे द्वारा नहीं लाई गई हूँ। जीते माँ-बापकी लड़कियाँ इतने मात्रसे नहीं निकला करतीं,...आठों कुटुंबिकोंको बुलाकर मेरे दोषादोषकी शोध कराओ।...सेठने आठ कुटुंबिकों को बुलाकर कहा—यह लड़की

सप्ताह भी न परिपूर्ण होते, मंगल घरमें बैठे हुए मुझे अशुचि-खादक बतलाती है।...ऐसा है अम्म!—तातो! मेरा ससुर अशुचि खानेकी इच्छावाला होगा, मैंने ऐसा करके नहीं कहा; एक पिंडपातिक स्थविरके घर-द्वार पर स्थित होने-पर, यह निर्जल पायस भोजन करते हुए, उसका ख्याल (मनमें) नहीं करते थे। मैंने इसी कारणसे—'साफ करो भंते! मेरा ससुर इस शरीरसे पुण्य नहीं करता, पुराने पुण्यको खाता है',...कहा—आर्य, दोष नहीं है, हमारी बेटी तो कारण कहती है, तुम क्यों क्रुद्ध होते हो।...(फिर कुछ और इलजामोंके जाँच करने-पर)—वह और उत्तर न दे, अधोमुख हो बैठ गया। फिर कुटुंबिकोंने उससे पूछा— क्यों सेठ, और भी दोष हमारी बेटीका है?—नहीं आर्यो!—क्यों फिर निर्दोषको अकारण घरसे निकलवाते हो? उस समय विशाखाने कहा—पहले मेरे ससुरके वचनसे मेरा जाना ठीक न था। मेरे आनेके दिन मेरे पिताने दोष-शोधनकेलिये तुम्हारे हाथमें रखकर (मुझे) दिया था। अब मेरा जाना ठीक है। यह कह, दासी दासोंको यान तैयार करनेकेलिये आज्ञा दी। तब सेठने उन कुटुंबिकोंको लेकर कहा—अम्म! अनजाने मेरे कहनेको क्षमा कर।—तात, तुम्हारे क्षंतव्यको क्षमा करती हूँ; किन्तु मैं बुद्धशासनमें अनुरक्त कुलकी बेटी हूँ; हम बिना भिक्षुसंघ नहीं रह सकते। यदि अपनी रुचिके अनुसार भिक्षु-संघकी सेवा करने पाऊँ, तो रहूँगी।—अम्म! तू अपनी रुचिके अनुसार अपने श्रमणोंकी सेवा कर।

तब विशाखाने निमंत्रित कर दूसरे दिन...बुद्धप्रमुख भिक्षुसंघ को बैठाया।... मेरा ससुर आकर दशवलको परोसे (यह खबर भेजी)।...(मिगार सेठने बहाना कर दिया)...। आकर दशवलकी धर्मकथाको सुने...। मिगारसेठ जाकर कनातसे बाहर ही बैठा।...देशनाके अंतमें सेठने **सोतापत्ति-फलमें** प्रतिष्ठित हो कनातको हटा..'पंचांगसे वंदनाकर, शास्ताके सामने ही—'अम्म! तू आजसे मेरी माता है'—यह कह विशाखाको अपनी माताके स्थानपर प्रतिष्ठित किया। तभीसे विशाखा 'मिगारमाता' प्रसिद्ध हुई।"

स्थानको देखनेपर हनुमनवाँ पूर्वाराम मालूम होता है।

## तीर्थिकाराम

**समयप्पवादक-परिव्याजकाराम**—पहिले[1] पाँच प्रकारके अन्य तीर्थिक

[1] ध० प० २२।८, अ० क० ५७८

—जटिल, निर्ग्रंथ अदि बतलाए हैं। अचेलक एकदम नंगे रहते थे। अट्ठकथा-में—एक दिन भिक्षुओंने निर्ग्रंथोंको देखकर कथा उठाई—आवुसो! सब तरह बिना ढँके हुए अचेलकोंसे यह निर्ग्रंथ (=जैन) श्रेष्ठतर हैं, जो एक अगला भाग भी तो ढाँकते हैं, मालूम होता है ये सलज्ज हैं। यह सुन निर्ग्रंथोंने कहा —"इस कारणसे नहीं ढाँकते हैं, पाँशु धूलि भी तो पुद्गल (=जीव) ही है। प्राणी हमारे भिक्षा-भाजनमें न पड़ें, इस वजहसे ढाँकते हैं।" एकशाटक और परिव्राजकोंका जिक्रकर चुके हैं। इन सभी मतोंके साधुओंके आराम श्रावस्तीके बाहर फैले हुए थे। ये अधिकतर श्रावस्ती के दक्षिण और पूर्व तरफमें रहे होंगे, जिधर कि पूर्वाराम और जेतवन थे। चिंचा और सुंदरीके वर्णनसे भी पता लगता है, कि जेतवनकी ओर तीर्थिकोंके भी स्थान थे। इनमें **समयप्पवादिक तिंदुकाचीर एकसालक** मल्लिकाका आराम बहुत ही बड़ा था। हमने इसको **चीरेनाथके** मंदिरकी जगह पर निश्चित करनेके लिये कहा है। दीघनिकायमें कहा है— "पोट्ठपाद[१] परिव्राजक समयप्पवादक...मल्लिकाके आराममें तीस सौ परिव्राजकोंकी बड़ी परिषद्के साथ निवास करता था।" अ० क० में—उस स्थान पर चंक, तारुक्ख, पोक्खरसाति, "आदि ब्राह्मण, निर्ग्रंथ, अचेलक, परिव्वाजक आदि प्रव्रजित एकत्रहो अपने अपने समय (=सिद्धान्त)का व्याख्यान करते थे; इसीलिये वह आराम समयप्पवादक (कहा जाता था)....।"

मज्झिमनिकाय में—

"समणमंडिकापुत्र उग्गहमाण परिव्राजक समयप्पवादक...मल्लिकके आराममें सात सौ परिव्राजकोंकी बड़ी....परिषद्के साथ वास करता था। उस समय पंचकंग गृहपति दोपहरको श्रावस्तीसे भगवान्के दर्शनकेलिये निकला। तब पंचकंग गृहपतिको ख्याल हुआ—भगवान्के दर्शनका यह समय नहीं है, भगवान् इस समय ध्यानमें हैं...। क्यों न...मल्लिकाके आराममें चलूँ।"

ये दोनों उद्धरण दीघनिकाय और मज्झिमनिकायके हैं; जो कि त्रिपिटकके अत्यंत पुराने भाग हैं।[२] इनसे हमें ये बातें स्पट मालूम होती हैं—

१ दी० नि०, ९

२ **"आयुष्मान् सारिपुत्र...(जेतवनसे) श्रावस्तीमें पिंडके लिये चले।... बहुत सबेरा है......(इसलिये) जहाँ अन्य तीर्थिकों, परिव्राजकोंका आराम था वहाँ गये।" —अं० नि० ७।८।११, ९।२।८, १०।३।७**

(१) यह एक बड़ा आराम था, जिसमें ७०० से तीन हजार तक परिव्राजक निवास कर सकते थे।

(२) नगरसे जेतवन जाने वाले द्वार (=दक्षिण द्वार)के बाहर था।

(३) यहाँ बैठकर ब्राह्मण और साधु लोग नाना प्रकारकी दार्शनिक चर्चाएँ किया करते थे।

(४) बुद्ध तथा उनके गृहस्थ और विरक्त शिष्य यहाँ जाया करते थे।

जेतवनके पीछे आजीवकोंकी भी कोई जगह थी। क्योंकि जातकअट्ठकथामें आता है—

"उस समय[1] **आजीवक** जेतवनके पीछे नाना प्रकारका मिथ्या तप करते थे। उक्कुटिक प्रधान, वग्गुलिब्रत, कंटकाप्रश्रय, पंचातप, तपन आदि।"

परिव्राजकारामका बनना रुक जानेपर जेतवनके बहुत समीप और ऐसे आराम-का होना संभव नहीं मालूम होता। शायद जेतवनके पीछेकी ओर खुली जगहमें वे तपस्या करते रहे होंगे।

**सुतनु-तीर**—[2]संयुक्तनिकायसे पता लगता है, सुतनुतीरपर भी भिक्षुओंका कोई विहार था। 'तीर' शब्दसे तो पता लगता है, सुतनु कोई जलाशय (=छोटी नदी, या झील) होगा। संभवतः वर्तमान ओडाझार, खडौआझार सुतनुतीरको सूचित करते हैं। ऐसा होनेपर वर्तमान खजुहा ताल प्राचीन सुतनु है।

**अंधवन**—श्रावस्तीके पास एक और प्रसिद्ध स्थान अंधवन था। संयुत्त-निकाय-अट्ठकथा में—

"काश्यप[3] सम्यक्-संबुद्धके चैत्यकी मरम्मतकेलिये धन एकत्रित कराकर आते हुए यशोधर नामक धर्मभाणक आर्यपुद्गलकी आँखें निकालकर, वहाँ (स्वयं) अंधे हुए पाँच सौ चोरोंके बसनेसे. . .**अंधवन** नाम पड़ा। यह श्रावस्तीसे दक्षिण तरफ गव्यूतिभर दूर राजरक्षासे रक्षित (वन) था. .। यहाँ एकांतप्रिय (भिक्षु) . . जाया करते थे।"

---

१ जातकट्ठकथा १।१४।५

२ "एक समय आयुष्मान् आनुरुद्ध सावत्थीमें सुतनुके तीर विहार करते हे।"—सं० नि०, ५१।१।३ । ३ स० नि०, ५१।१।१०, अ० क०, ११४८

फाहियान[१] ने इसपर लिखा है—

"विहारसे चार 'ली' दूर उत्तर-पश्चिम तरफ एक कुंज है।...पहले ५०० अन्धे भिक्षु इस वनमें वास करते थे। एकदिन उनके मंगलकेलिये बुद्धदेवने धर्मव्याख्या की, उसी समय उन्होंने दृष्टिशक्ति पाली। प्रसन्नहो उन्होंने अपनी अपनी लकड़ियोंको मिट्टीमें दबाकर प्रणाम किया। उसी दम वे लकड़ियाँ वृक्षके रूपमें, और शीघ्रही बनके रूपमें परिणत हो गईं।...इस प्रकार इसका यह नाम (अंधवन) पड़ा। जेतवनवासी अनेक भिक्षु मध्याह्न भोजन करके (इस) वनमें जाकर ध्यानावस्थ होते हैं।"

इससे मालूम होता है—

(१) काश्यप बुद्धके स्तूपसे श्रावस्तीकी ओर लौटते समय यह स्थान रास्तेमें पड़ता था।

(२) श्रावस्तीसे दक्षिण एक गव्यूति या प्रायः २ मीलपर था।

(३) जेतवनसे उत्तर-पश्चिम ४ 'ली' (= १ मीलसे कम) था। दूरी और दिशाएँ इन पुरानी लिखंतोंमें शब्दशः नहीं ली जा सकती। इसलिये **पुरैना**का ध्वंस अंधवन मालूम होता है। यह **भींटी**से श्रावस्तीके आनेके रास्तेमें भी है। भींटीको सर जान मार्शल[२] ने काश्यप-स्तूप निश्चित किया है।

**पांडुपुर**—श्रावस्तीके पास पाँडुपुर नामक गाँव था। धम्मपदअट्ठकथा में "श्रावस्तीके अविदूर पाँडुपुर नामक एक गाँव था। वहाँ एक केवट वास करता था।"

इस गाँवके बारेमें इसके अतिरिक्त और कुछ मालूम नहीं है।

मैंने इन थोड़ेसे पृष्ठोंमें श्रावस्ती और उसके पासके बुद्धकालीन स्थानों-पर विचार किया है। सुत्त, विनय और उसकी अट्ठकथाओंकी सामग्री शायद ही कोई छूटी हो। यहाँ मुझे सिर्फ भौगोलिक दृष्टिसे ही विचार करना था, यद्यपि कहीं-कहीं और बातें भी आ गई हैं[३]।"[४]

---

१ ch.XX २ A.S. R., 1910-11, p. 4 ३ **जेतवनके नकशोंकेलिये देखो** Arch. Survey of India **की १९०७–०८ और १९१०–११ की रिपोर्टें।**

**४ पालि त्रिपिटक और अट्ठकथाओंमें बिखरी भौगोलिक सामग्रीका सुंदर विवेचन प्रो० भरतसिंह उपाध्यायने अपने ग्रंथमें किया है।**

## ६. ज्ञातृ-जथरिया

पण्डित प्रोफेसर जगन्नाथ शर्मा एम० ए०ने मेरे बसाढ़की खुदाई नामक लेखमें आये कुछ वाक्योंके खण्डनमें, एक लेख लिखा। संभवतः कुछ और भी भूमिहार-बन्धुओंको दुःख हुआ हो। अपने उक्त कथनको सत्यके समीपतम समझते हुए भी वस्तुतः मुझे दुःख है कि, उससे इन भाइयों को मानसिक कष्ट पहुँचा। उन चन्द पंक्तियोंमें अपने भावोंको संक्षेपसे भी नहीं प्रकट कर सका था (और, इस छोटे लेखमें भी शायद न कर सकूँगा); तोभी कुछ गलतफहमियोंको हटा देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

शर्माजीके लेखको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) उन्होंने युक्तिसे मेरी बातोंका खण्डन करना चाहा है; (२) मुझे भूमिहार ब्राह्मणोंका विरोधी समझा है।

जथरिया वंशके लिच्छवि (ज्ञातृ) न होनेके बारेमें आपने कहा है—

(१) "जेथरियावंश या बेतिया-राजवंशसे लिच्छवि क्षत्रियोंकी ज्ञातृ अथवा किसी भी शाखा से कोई भी सम्पर्क नहीं। वे इतने कालसे बिहारके निवासी भी नहीं कि, उनका कोई भी सम्बन्ध लिच्छवि जातिसे ठहराया जा सके। वे विशुद्ध ब्राह्मण हैं तथा महाकवि वाणभट्टके वंशज सोनभदरियों और अथर्वोंको छोड़कर अन्यान्य भूमिहार ब्राह्मणोंकी तरह पश्चिमके जिलोंसे मुसलमानी शासनकालमें या उसके कुछ पूर्व बिहारमें आकर बस गये हैं।"

(२) "जयस्थल" से ही जैथरकी उत्पत्ति सर्वथा भाषा-विज्ञानके अनुकूल है, 'ज्ञातृ' से नहीं। ज्ञातृ शब्दका अपभ्रंश "जैथरिया" मान लेना' अनुचित और अपने भाषाविज्ञान-सम्बन्धी ज्ञानकी अल्पज्ञता दिखाना है।' "भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे ज्ञातृ-शब्द का "जैथरिया" बन जाना कदापि सम्भव नहीं।"

(३) "केवल ज्ञातृ शब्दके आधारपर जैथरिया लोगोंको ज्ञातृवंशीय लिच्छवि क्षत्रिय मान लेना तो लाल बुझक्कड़की बूझको भी मात कर देना है।"

(४) "सम्भव है, लिच्छवि-वंश (जो बुद्धके समयमें ही व्रात्य हो चुका था)

पतित होकर नीच जातियोंमें मिल चुका हो; अथवा यदि, तिर्हुतके अहीर ही उनके वंशज हों, तो क्या आश्चर्य ?"

मैं आरम्भमें यह कह देना चाहता हूँ कि, ज्ञातृ और जेथरियाके एक होनेकी खोजका श्रेय मुझे नहीं है; बल्कि हमारे देशके गौरवस्वरूप और भारतके प्राचीन इतिहासके अद्वितीय विद्वान् श्रद्धेय डा० काशीप्रसाद जायसवालने पहले-पहल इसका पता लगाया था। मैंने प्रमाणकी कुछ कड़ियाँ भर और जोड़ दी है। ज्ञातृ और जथरिया क्यों एक हैं :—

(१) "भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान की अल्पज्ञता" क्या, अज्ञताको स्वीकार करते हुए भी ज्ञातृसे ज्ञातर, जथर या जेथर, फिर 'इया' लगा कर जथरिया स्वीकार करनेमें मैं गलती पर नहीं हूँ; और न "लाल बुझक्कड़की बूझको" मात कर रहा हूँ। ज्ञातृ (=ज्ञातर=जतर=जथर), इका (=इया) = जथरिया, जेथरिया।

(२) जैन धर्म के संस्थापक वर्द्धमान महावीरको नात-पुत्त और ज्ञातृ पुत्र कहा जाता है; क्योंकि वह ज्ञातृकुलमें उत्पद्धन्न हुए थे। उनका गोत्र काश्यप था, यह सभी जैन ग्रन्थोंमें मिलता है। जेथरियोंका भी गोत्र काश्यप है। यह आकस्मिक नहीं हो सकता।

(३) बसाढ़ (=वैशाली) जिस परगनेमें है, वह रत्ती कहा जाता है। यह परगना आजकल भी जेथरियोंका केन्द्र है। रत्ती = लत्ती-नत्ती = नाती = नादि (पाली) है। बुद्धके समय वज्जीदेशमें नादिका नामक ज्ञातृबंशियोंका एक बड़ा गाँव था, जिसका संस्कृत रूप ज्ञातृका होता है।

(४) ज्ञातृ लोग जिन लिच्छवियोंके[1] ९ विभागोंके एक प्रमुख विभागमें थे, ई० पू० छठी-पाँचवी शताब्दियोंमें उनकी शक्ति इतनी प्रबल थी कि, मगध-राजको भी डरके मारे गंगातटपर पाटलिग्राममें एक किला बनाना पड़ा; और आगे चलकर पाटलिपुत्र ( = पटना)नगरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। मगध-साम्राज्यमें सम्मिलित होनेपर भी लिच्छवि प्रभावहीन नहीं हो गये, यह तो इसीसे प्रकट

१ लिच्छवियोंके नौ वर्गोंमें जेथरियोंके अतिरिक्त दिघवइत भी मालूम होते हैं। यदि मुजफ्फरपुर-चम्पारन जिलोंके पर्गनों और प्रधान जातियोंको मिलाकर खोज की जाये, तो शायद और भी कुछ वर्गों का पता लग जाये।

है कि, चौथी शताब्दीमें उनकी सहायतासे गुप्तोंको अपना साम्राज्य कायम करनेमें सफलता मिली। ईसाकी चौथी-पाँचवीं शताब्दियोंमें लिच्छवियोंकी शक्तिको ही प्रकट करनेके लिये लिच्छविकुमारी कुमारदेवीका पुत्र सम्राट् समुद्रगुप्त अपनेको "लिच्छवि-दौहित्र" कहकर अभिमान करता है। ईसाकी पाँचवीं शताब्दीतक जो लिच्छवि जाति अपने अस्तित्वको ही कायम नहीं रख सकी थी, बल्कि पूरी पराक्रमशालिनी थी, वह इसके बाद बिलकुल नष्ट हो गयी या "पतित होकर नीच जातियोंमें मिल" गई, यह विश्वास करनेके लिये कोई कारण नहीं। विशेष कर जब कि, उक्त लक्षणोंवाली एक जातिको हम उसी स्थानपर पाते हैं।

(५) ज्ञातृ (लिच्छवि) वंश जिस वैशालीके आसपास ई० पू० छठी शताब्दी-से ईसाकी पाँचवीं शताब्दीतक बसता था, वहीं अब भी जथरिया वंशका प्राधान्य है। छपरा जिलेके मसरख थानेके जेथरडीहमें ज्ञातृओंका निवास हो सकता है। (छपरा जिलेका वह हिस्सा तो प्राचीन वज्जीदेशका भाग ही है। उस समय गंडककी धार घोघाडी और मही नदियोंसे होकर बहती थी।) मेरी तुच्छ रायमें जेथरियों ( = ज्ञातृओं) की वजहसे उक्त स्थानका नाम जेथरडीह पड़ा होगा। जेथरडीहके कारण जातिका नाम जेथरिया नहीं पड़ा। एक कहावतको मैंने भी सुना है कि, जेथरिया "ब्राह्मण" लोग नीमसारसे किसी कुष्टि राजाको अच्छा करनेके लिये आये। पीछे भूमिका दान लेकर वहीं रह गये। नीमसारसे आनेका मतलब यह है कि, वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। फिर वह मगहके ब्राह्मणोंसे ही क्यों सम्बन्ध जोड़ सके, सरवरियोंसे क्यों नहीं, जो कि, अपनेको कान्यकुब्ज भी कहते हैं? मगधके बाभनों ( = "भूमिहार ब्राह्मणों") को मैं शुद्ध प्राचीन मगध-देशीय ब्राह्मणोंकी सन्तान मानता हूँ। इस वंशने वाण जैसे महाकविको ही नहीं पैदा किया, वल्कि भगवान् बुद्धके सबसे प्रधान तीन शिष्यों (सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और महाकाश्यप) को पैदा करनेका गौरव भी इसे ही है। सम्राट् अशोकके गुरु मौद्गलि-पुत्र तिष्य भी इसी कुलके रत्न थे। बौद्ध महापुरुषों और महान् दार्शनिकोंको पैदा करनेमें मगध-ब्राह्मण ( = बाभन) -कुल सबसे आगे रहा; इसीके लिये बौद्धद्वेषी ब्राह्मणोंके प्रभुत्वमें उन्हें और उनके मगध देशको नीच कहना और लिखना शुरू किया गया।

जेथरियोंको ज्ञातृओंके साथ सम्बन्ध न जोड़ने देनेके लिये "पश्चिमके जिलोंसे

मुसलमानी शासनकालमें या उसके कुछपूर्व बिहारमें आकर उनका बसना" कहना व्यर्थकी खींचातानी है। आप बगौछियों (हथुआ राजवंश) को नवागन्तुक कहना चाहते हैं, फिर हथुआकी ८०-८५ पीढ़ियाँ कैसे गुजरीं? मेरी समझमें व्यर्थके ब्राह्मण बनानेके प्रयत्नमें (जिसका मूल निकट भविष्यमें ऐसा न रहेगा) एक कीर्तिशाली जातिके इतिहासको नष्ट करना है।

(६) गणराज्योंके क्षत्रियोंने कभी अपनेको ब्राह्मणोंके चरणोंका दास नहीं होने दिया। बौद्ध-जैन-ग्रन्थोंको देखनेसे पता लगता है कि, इन क्षत्रियोंको शुद्ध आर्यरक्तकी रक्षाका बहुत खयाल था। जहाँ उस समयके ब्राह्मण अनुलोम—दोनों प्रकार के विवाहोंको करके अपने रक्तमें आर्य-भिन्न-रक्त मिला रहे थे, वहाँ यह क्षत्रिय लोग आर्योंके गौरवर्ण, अभिनीलनेत्र और तुंग नासाकी रक्षाके लिये न अनुलोम ही विवाह जायज मानते थे, न प्रतिलोम ही। पीछे बौद्धधर्मके प्रभावके बढ़नेके साथ, जातिवादका खयाल जब ढीला होने लगा, तब इन्होंने ब्राह्मणोंकी कन्याओंको भी लेना शुरू किया। पहले जातिभेद इतना कड़ा न था। पीछे, जब गुप्तोंके कालके बाद कन्नौजके प्रभुत्वके समयमें जातियोंका अलग-अलग गुट बनना शुरू हुआ, तब कितने ही गणतन्त्रोंके क्षत्रिय ब्राह्मणोंमें चले गये, कितने ही क्षत्रियोंमें। मल्ल क्षत्रियोंके बगौछिया भूमिहार ब्राह्मण (हथुआ राजवंश), राजपूत (मझौली राजवंश) और सैंथवार (पडरौना राजवंश)—इन तीन वर्गोंमें बँटनेकी बात मैं किसी दूसरे लेखमें कह चुका हूँ। (याद रहे, जहाँ लोग बगौछिया नामका कुत्ते-बिल्लीकी कहानीसे व्याख्यान कर देना चाहते हैं, वहाँ मल्लोंके एक कुलका गोत्र ही व्याघ्रपद था, जिससे यह नाम अधिक सार्थक हो सकता है।) इसी प्रकार टटिहा या तटिहा भूमिहारों और राजपूतोंको ही ले लीजिये। उनके नाम, मूल, गोत्र सब एक हैं; और बतलाते हैं कि, यह दोनों एक ही वंशकी सन्तानें हैं। ऐसे और भी कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

गणक्षत्रियोंके रक्तकी शुद्धताकी बात मैं कह चुका हूँ। जेथरियोंके आर्य-रक्तके बारेमें मैं श्रद्धेय जायसवालजीकी ही कही बातको कहता हूँ। एक बार वह बसाढ़ गये थे। वहाँ उन्होंने एक भूमिहार लड़केको भैंस चराते देखा, जिसका शरीर ही देदीप्यमान गौरवर्णका नहीं था, बल्कि आँखें भी नीली थीं। मैंने

स्वयं चम्पारनमें एक नीली आँखों वाले गोरे नौजवानको जब जेथरिया कहा, तो उसे आश्चर्य होने लगा, कि मैं कैसे जान गया। आज भी आप इन भूमिहारोंमें आर्योंके शरीरलक्षण जितनी प्रचुरतामें पायेंगे, उतने ब्राह्मणोंमें नहीं पायँगे। कारण, ब्राह्मणोंने, चाहे किसी लोभसे ही सही, बहुत पहलेसे ही अनुलोम विवाह करके अपने भीतर आर्य-भिन्न रुधिरको प्रविष्ट करना शुरू किया, जबकि, इस बातमें यह गणक्षत्रिय दक्षिणी अफ्रिकाके गोरोंकी भाँति वर्ण (रंग) के कट्टर भक्त थे। हजारों वर्षों तक आर्यरक्तकी शुद्धताके कायम रखने का प्रयत्न अब भी इन्हें इतने अधिक आर्यरक्तका धनी बनाये हुए है।

(७) जेथरियोंकी क्षत्रिय-वीरताकी बात मैं पहले ही कह चुका हूँ।

## ७. थारू

हिमालयकी तराईमें यह रहस्यपूर्ण थारू-जाति निवास करती है। पश्चिममें नैनीताल जिलेसे पूर्वमें दरभंगा जिलेके उत्तरतक पहाड़के किनारे इसी जातिकी प्रधानता है। तराईकी भूमिमें मलेरियाका बड़ा भय है, और यह जाति वहीं बसती है। मुँह देखते ही मालूम हो जाता है कि यह अपने आस-पासके रहनेवालोंसे भिन्न—उत्तरी पहाड़ोंमें रहनेवाली (मंगोल)—जातिसे सम्बन्ध रखती है। रंग इनका गेहुँआँ या पक्का होता है—काले बहुत कम होते हैं। कदमें आसपासके लोगोंसे विशेष अन्तर नहीं है।

यहाँ मुझे विशेषकर चम्पारन और मुजफ्फरपुर जिलोंके उत्तर तरफ बसनेवाले थारुओंके बारेमें ही कहना है। इनके भेद और पदवियाँ निम्न प्रकार हैं:—

| भेद | पदवी | भेद | पदवी |
| --- | --- | --- | --- |
| बाँतर | (महतो) | महाउत | (राउत) |
| चितवनिया | ( ” ) | मझिअउर | (माझी) |
| गढ़वरिया | ( ” ) | गोरत | (महतो) |
| रखवसिया | (दिसवाह) | कनफटा | (नाथ) |
| रउतार | (महतो) | कुम्हार | (राना) |
| न(ल)म्पोंछा | (महतो, राय) | मर्दनिया | (मार्द) |
| सेंठा | (महतो) | खउहट | (महतो) |
| कोंचिला | (खाँव) | | |

थारू लोग बढ़ईका काम अपने आप कर लेते हैं। तेल भी खुद निकालते हैं। यद्यपि थरुहट(थारुओंके देश)में धोबी नहीं होता, तोभी अपनेसे दक्षिणके लोगोंसे उनके कपड़े-लत्ते अधिक साफ रहते हैं। खेती ही थारुओंका एकमात्र व्यवसाय है, और इसमें उनकी-सी दूसरी कोई परिश्रमी जाति नहीं। एक हलपर थारू तीन जोड़ी बैल रखते हैं। सबेरे ही हल जोतते हैं और दस बजे दिनको छोड़ देते हैं। फिर दूसरी जोड़ीसे दो बजे तक काम लेते हैं, इसके बाद फिर

तीसरी जोड़ी। थरुहटमें धानही की खेती होती है, इसलिये भात ही इनका प्रधान खाद्य है। खानेके लिये मुर्गियां भी यें लोग पालते हैं। थारुओंमें 'भगत" मिलना बहुत कठिन है। मांस और शराबके ये बड़े प्रेमी हैं।

इनकी पोशाक अपने आस-पासके लोगोंकी ही भाँति होती है। हाँ, मिरजई-की जगह ये लोग नैपाली बगलबन्दी पहनते हैं। स्त्रियाँ साड़ी पहनती हैं और सिर नंगा रखना अधिक पसंद करती हैं।

विवाह अधिकतर ये लोग अपनी ही उप-जातियोंमें करते हैं। युवक और युवतीमें प्रेम हो जाने पर वे घरसे निकल जाते हैं, और बाहर किसी गाँवमें जाकर वर्षों तक रहते हैं। फिर लौटकर पति-गृहमें रहते हैं। कभी बाँतर और चितवनियोंमें भी इस प्रकार प्रेम हो जाता है, फिर जातिमें मिलने के लिये बिरादरीको भात-भोज देना पड़ता ह। इस प्रकारके विवाह अन्य उप-जातियोंमें भी होते हैं। प्रौढ़ विवाह ही इनमें अधिक होते हैं, लेकिन अब अपने पड़ोसी 'अधिक सभ्य' बाजियोंका प्रभाव इनपर भी पड़ रहा है, और धीरे-धीरे इनमें भी बाल-विवाहकी प्रथा बढ़ रही है। गढ़वरियोंमें बाल-विवाह अधिक होता है और चितवनियोंमें बहुत कम। गरीब होनेपर लड़कीको घर लाकर विवाह किया जाता है, नहीं तो बरात जाती है। बरात में २०, ३० आदमी साधारणतः जाते हैं। रासधारी, झुमरा, पूर्वी, नाटक इनमेंसे कोई नाच भी होता है; जिनमें पहले दो गीत प्रायः थारू-भाषामें होते हैं। ब्राह्मण और नाई विवाह-विधि कराते हैं। पुरोहित नैपाली या बाजी ब्राह्मण होते हैं।

जन्मके वक्त गाना-बजाना कुछ नहीं करते। छठी, बरही और हिन्दुओंकी भाँति होती है। अन्नप्राशनका कोई नियम नहीं। नाक-कान वर्षके भीतरही छेद दिया जाता है। मृत्युमें थारू लोग विशेष उत्सव करते हैं। छोटे बच्चेको भी मरने पर जलाते हैं। नाच-बाजा विवाहकी भाँति होता है। थारुओंकी यह विशेषता बर्मी लोगोंसे बहुत मिलती है। मरनेके बाद दस दिनमें दशगात्र और बारह दिनके बाद ब्राह्मण-भोजन और जातिभोजन होता है।

प्रायः प्रत्येक थारूके घरमें गृह-देवता है, जिसे 'गन' कहते हैं। उसके लिये दूध, पाट (रेशम), कबूतर, मुर्गे बलि चढ़ाये जाते हैं। 'बरम' स्थान हर गाँवका ग्राम-देवता है। इसके अतिरिक्त हलका ऊपरी भाग गाड़कर जखिन (यक्षिणी),

कोल्हूकी जाठ गाड़कर मसान भी पूजते हैं। मलंग, औलियाबाबा आदि कितने ही और भी देवता होते हैं। थरुहटमें मन्त्र-तन्त्र, भूत-प्रेत बहुत चलता है। बाहरके भोले-भाले लोग समझते हैं, थरुहट जादूगरनियोंका स्थान है। थरुहट जादूगरनियोंको डाइन कहते हैं। हर गाँवमें दस-पाँच डाइनें होती हैं। लोगोंका विश्वास है कि डाइनें आदमीको जादूसे मार डालती हैं, हैजा महामारीको बुलाती हैं। इसीलिये लोग डाइनोंसे बहुत डरते हैं। इन्हीं सबसे बचानेके लिये हर थारू-गाँवका एक गुरु होता है, जिसे गृहस्थ अपने घरके प्रत्येक आदमी पीछे चार पसेरी धान हर साल देता है। बनिहारको दो पसेरी और खोकइता (मजूर) को एक पसेरी देते हैं। गुरुका काम है, भूत-प्रेत, मन्त्र-तन्त्र, हैजा आदिसे आदमियोंकी रक्षा करना।

थारुओंका प्राचीन कालहीसे एक संगठन चला आता है। कई गाँवोंका एक हल्का होता है, इसे 'दह' कहते हैं। हर एक दहमें एक प्रधान होता है, जिसे मधस्त (मध्यस्थ) कहते हैं। उसके नीचे १६ या १७ पंच होते हैं। इन पंचोंके नीचे 'हजारिया पंच' होते हैं, जिनमें प्रायः प्रत्येक घरका मुखिया होता है। जातिसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी मामले इसी पंचायतके सामने पेश होते हैं। फैसला हमेशा सर्वसम्मतसे हुआ करता है। मधस्त और पंचोंके मरनेपर, वह अधिकार उनके बड़े लड़कोंको मिलता है। यह दह सभी थारुओंका एक नहीं है। गढ़वरिया, चितवनिया सभीकी अपनी-अपनी अलग पंचायतें हैं। भिखनाठोरी (जिला चम्पारन)के पास गढ़वरियोंकी प्रधानता है। यहाँ इनके बरहगाँवाँ और लौरइयाँ दो दह हैं। बरहगाँवाँ अंग्रेजी इलाकेमें है और इसके मधस्त राजमन महतो हैं। लौरइयाँ नेपाल राज्यमें है, जिसके मधस्त लेखमन महतो हैं।

भिखनाठोरीसे उत्तर-नेपाली तराईमें चितावनका इलाका है। यहाँ चितवनियाँ थारू रहते हैं। यहाँके थारुओंपर नैपालियोंका प्रभाव अधिक है। बरहगाँवाँ आदिके थारू भी चितावनकी भाषाहीको शुद्ध थारू-भाषा कहते हैं। पाठकोंको यह सुनकर बहुत ही आश्चर्य होगा कि चितावनके थारुओंकी भाषा, स्वर, शब्द आदिमें गया जिलेकी मगही (मागधी) भाषासे बिलकुल एक है। हलई, गेलही, लन्‌लही आदि सभी शब्द शुद्ध मगहीके हैं। गेल्सुनमें सिर्फ थकोससे

(गेलथुन) बदल दिया गया है। सम्बोधनमें रे, हे का प्रयोग अधिक होता है, और मागहीका गे भी कम प्रयुक्त नहीं होता। छोड़ गे, चल गे साधारण प्रयोग हैं। चितवनिया अपनेको चित्तौरगढ़से आया बतलाते हैं, और भाषा उन्हें खींचकर मगधमें और चेहरा और आँखें उत्तरकी ओर खींच रही हैं।

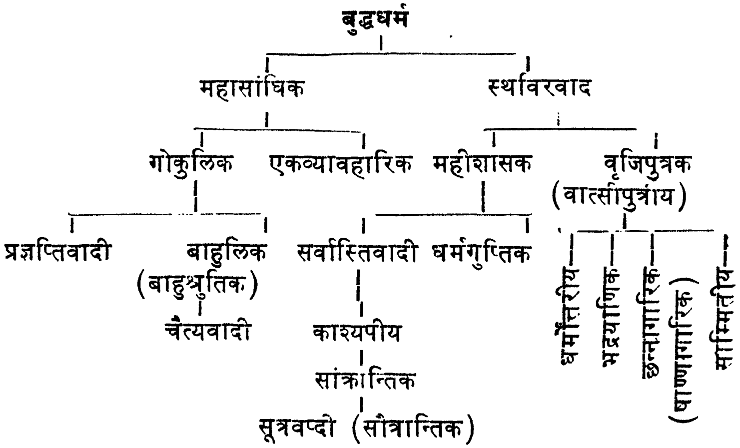
ठोरीसे दक्षिण-पूर्व ५ मीलपर पिपरिया गाँव है। यह भी थरुहटके अन्दर ही है। पिपरियाके पास ही रमपुरवाके दो अशोक-स्तम्भ हैं। एक ही स्थानपर दो-दो अशोक-स्तम्भ विशेष महत्त्व रखते हैं। पुरातत्त्वकी खुदाईमें एक स्तम्भ के ऊपरका बैल भी मिला था। जनश्रुति चली आ रही है कि एक खम्भेके ऊपर पहले मोर था। खम्भेकी पेंदीमें तो मोर खुदे अब भी मौजूद हैं। खुदाईमें यद्यपि कोई मोर नहीं मिला, तोभी इसमें सन्देह नहीं कि दूसरे खम्भेके शिखरपर जरूर कुछ था। दीघनिकायके महापरिनिर्वाण-सूत्रसे हम जानते हैं, कि पिप्पली वनके मौर्योंने भी गौतमबुद्धकी अस्थियोंका एक भाग पाया था, जिसपर उन्होंने स्तूप बनवाया। इसी मौर्यवंशका राजकुमार चन्द्रगुप्त पीछे मगधके मौर्य-साम्राज्यका संस्थापक हुआ। ऐसी अवस्थामें सम्राट् अशोक ने बुद्ध भक्त अपने पूर्वज मौर्योंके आदि स्थानपर यदि ये दो स्तम्भ गड़वाये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। जिस प्रकार यह पाषाण-स्तम्भ मगध-साम्राज्यसे सम्बद्ध है, वैसे ही शुद्ध थारू-भाषाभी आधुनिक मागधी भाषासे अपना स्पष्ट सम्बन्ध बतलाती है, लेकिन मंगोलायित थारुओंमें कैसे मागधी भाषाको अपनाया, यह बड़े ही रहस्यकी बात है।

हिमालयकी जातियोंकी भाषाओं और दूसरी बातोंके अध्ययनसे मालूम होता है, कि हिमालय और उसकी तराईमें पंजाब-कश्मीरतक बसनेवाली सबसे पुरानी जाति किरात थी, जो पूर्वमें आसाम, बर्मा होते कम्बुज तक चली गई है। इस जातिको आधुनिक विद्वान् मोन्‌रकोर नाम देते हैं। मंगोलायित जाति होने पर भी यह चीनी, आदि जातियों, से बहुत दूरका सम्बन्ध रखती हैं। पहाड़के किरात—लाहुल, मिलाणा ( कुल्लू ), कनौर, मारछा ( गढ़वाल ) मगर-गुरुंग-सुनवार-तमंग-नेवार-राई-लिम्बू-याखा ( नेपाल ) लेपचा ( शिकम )—अपनी भाषा बोलते हैं पर तराईके उसे भूलकर अपने दक्षिणी पड़ोसियोंकी भाषा बोलते हैं। यही थारू हैं।

---

# ८. महायान बौद्धधर्म की उत्पत्ति

बुद्ध ने ४५ वर्षों तक ईश्वरवाद, आत्मवाद, पुस्तकवाद, जातिवाद और कितने ही अन्यवादोंके विरोधी, जड़वादकी सीमाके पास तक पहुँचे, अपने बुद्धि-प्रधान एवं सदाचार-परायण धर्मका उपदेश कर ४८३ ई० पू० में निर्वाण प्राप्त किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया और जैसे-जैसे नाना प्रकृति के लोग बुद्ध धर्ममें सम्मिलित होते गए, वैसे ही वैसे उसमें परिवर्तन होता गया। इस प्रकार बुद्धके निर्वाण के १०० वर्ष बाद, वैशालीकी संगीति के समय, बौद्ध धर्म, स्थविरवाद और महासांघिक नामक दो निकायों ( = सम्प्रदायों) में विभक्त हो गया। इससे सवा सौ वर्ष बाद और भी विभाग होकर उसके अठारह निकाय बन गये, जिनका वंशवृक्ष, पाली "कथावस्तु" की "अट्ठकथा" के अनुसार, इस प्रकार है--




बुद्धके जीवनमें ही उनके शिष्य गन्धार, गुजरात ( सूनापरान्त), पैठन (हैदराबाद-राज्य) तक पहुँच चुके थे। धीरे-धीरे भिक्षुओंके उत्साह एवं अशोक, मिलिन्द, इन्द्राग्निमित्र आदि सम्राटों की भक्ति और सहायता से इसका प्रसार और भी अधिक हो गया। अशोकका सबसे बड़ा काम यह था कि, उन्होंने भारतकी सीमाके बाहरके देशोंमें धर्म-प्रचारकोंके भेजे जाने में, बहुत सहायता की। अशोक (ई० पूर्व २७२-२३२) के बाद बौद्ध धर्म सभी जगह फैल चुका था। उस समय तक अठारह निकाय पैदा हो गये थे; इसलिये राजाकी सहायता, चाहे एक ही निकायके लिये रही हो लेकिन दूसरे निकायों ने भी अच्छा प्रचार किया। शुंगों और काण्वोंके बाद; आन्ध्र या आन्ध्रभृत्य

सम्राट् हुए। इनकी सर्वपुरातन राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन)[१] महाराष्ट्र में थी। पीछे धान्य कटकभी दूसरी राजधानी बना। शातकर्णी या शातवाहन (शालिवाहन) आन्ध्र राजा, यद्यपि कुछ समय तक, उत्तरीय भारतके भी शासक थे, तो भी पीछे उन्हें दक्षिण पर ही सन्तोष करना पड़ा। बौद्ध धर्म पर इनका विशेष अनुराग था, यह पहाड़ काटकर बने गुहा-विहारों से मालूम पड़ता है। राजधानी धान्यकटक (अमरावती) में उनके बनाये भव्य स्तूप, नाना मूर्तियाँ, लताओं तथा चित्रोंसे अलंकृत संगमरमरकी पट्टिकाएँ, स्तम्भ, तोरण आज भी उनकी श्रद्धाके जीवित नमूने हैं। वस्तुतः बौद्धोंकेलिये, शातवाहन राजवंश, ई० पूर्व प्रथम शताब्दीसे ईस्वी तीसरी शताब्दी तक, पुराने मौर्यों या पिछले पाल वंशकी तरह था। पहाड़ खोदकर गुहा बनानेका कार्य यद्यपि मौर्योंने आरम्भ किया था; और, वे उसमें कहाँ तक तरक्की कर चुके थे, यह बराबर की चमकती पालिशवाली गुहाओंसे मालूम होता है; तो भी गुहाओंको बहुत अधिक और सुन्दर ढंग से बनवाने का प्रयत्न आन्ध्रोंके ही राज्यमें हुआ। नासिक, कार्ला आदिकी भाँति अजन्ता और एलोराकी गुहाओंका भी श्रीगणेश इन्हींके समयमें हुआ था जो पीछे तक बढ़ता गया।

अन्धक-साम्राज्य में महासाङ्घिकों और धर्मोत्तरीयोंके होनेका काल[२] और नासिकके गुहालेखोंसे पता लगता है। पाली अभिधम्मपिटकके "कथावत्थु" ग्रन्थमें कितने ही निकायोंके सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है। उनका विश्लेषण उसकी अट्ठकथाके अनुसार इस प्रकार है—

---

१ पीछे पैठनके इन शातवाहनोंका शकोंसे भी विवाह-सम्बन्ध हुआ। इन्हें अपने देशके नामपर, रट्ठिक (राष्ट्रिक) या महारट्ठिक भी कहते थे। पीछे नाटकोंमें शक या शकारके लिये "रट्ठिअ-साल" (राष्ट्रिक-श्यल) शब्द प्रयुक्त होनेका भी यही कारण है। वैसे भारतमें अचिरागत शकोंका रंग अधिक गोरा होनेसे, रनिवासोंमें, शक-कन्याओंकी काफी माँग भी थी। इससे भी राजाका साला होना हो सकता है। रट्ठ या महारट्ठ नाम पड़नेसे पूर्व पैठनके आसपासका प्रदेश अन्धक कहा जाता था; और, इसी लिये शातवाहनोंको आन्ध्र भी कहा जाता था। पीछे, राजनीतिक कारणोंसे, उन्हें अपनी राजधानी धान्यकटकमें बनानी पड़ी, जोकि, तेलगू देशमें है; और, उसीसे इस प्रदेशका नाम आन्ध्र हो गया। अन्धक और वृष्णि, दोनों ही पड़ोसी जातियाँ थीं। वृष्णियोंके वासुदेवके आर्य होनेपर अन्धकोंका आर्य होना निर्भर है।

२ *Epigraphia Indica*, Vol. VII, pp. 54, 64, 71.

# "कथावत्थु" में खण्डित सिद्धान्तोंकी तुलनात्मक सूची

| | | अर्वाचीन | | | | | | | | प्राचीन | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | अन्धक | | | | | | | | महा-सांघिक | | स्थविरवाद | | | | | | | |
| | कुल सिद्धान्त | अन्धक | अपरशैल | पूर्वशैल | राजगिरिक | सिद्धार्थिक | वैपुल्य | उत्तरापथ | हेतुवाद | महासांघिक | गोकुलिक | काश्यपीय | भद्रयाणिक | महीशासक | वात्सीपुत्रीय | सर्वास्तिवाद | साम्मितीय | केवल अपने | दूसरों के सम्मिलित |
| (अर्वाचीन) | .. | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १७ | ०० | १० |
| १. अन्धक | ७२ | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | . | .. | .. | .. | .. | २ | .. | १ | ८ | ६२ | ७ |
| २. अपरशैलीय | ७ | १ | .. | ६ | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | ११ |
| ३. पूर्वशैलीय | ३९ | १ | ६ | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | v | .. | १ | .. | . | ३ | १८ | ९ |
| ४. राजगिरिक | ११ | १ | .. | .. | .. | . | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | १ | २ | ९ |
| ५. सिद्धार्थिक | ९ | १ | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | १ | .. | १ |
| ६. वैपु० (वेतुल्ल) | ८ | १ | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | ७ | १० |
| ७. उत्तरापथक | ४४ | ७ | .. | .. | .. | .. | .. | .. | १ | .. | .. | .. | .. | १ | .. | १ | .. | ३४ | १ |
| ८. हेतुवाद | ८ | .. | .. | .. | .. | .. | .. | १ | .. | .. | .. | .. | .. | .. | .. | . | .. | ७ | .. |
| | | | | | | | | | | | | | | | | | | १३० | |

| | | | | | | | | | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| (प्राचीन) | | | | | | | | | | | | | | | | | | | |
| ९. महासांघिक | २४ | | | | | | | | | | | | | १ | १ | १ | ४ | २० | ४ |
| १०. गोकुलिक | १ | | | | | | | | | | | | | | | | | १ | ० |
| ११. काश्यपीय | १ | | | | | | | | | | | | | | | | | १ | ० |
| १२. भद्रयाणिक | १ | १ | | | | | | | | | | | | | | | | | १ |
| १३. महीशासक | ९ | २ | | १ | | | | १ | १ | १ | | | | | | | ३ | १ | ८ |
| १४. वात्सीपुत्रीय | १ | | | | | | | | | | | | | | | १ | १ | | १ |
| १५. सर्वास्तिवादी | ४ | १ | | | | | | १ | | | | | १ | | १ | | २ | १ | ३ |
| १६. साम्मितीय | २२ | ८ | | ३ | १ | १ | | | | ४ | | | १ | ३ | २ | २ | | ३ | ११ |
| | | | | | | | | | | | | | | | | | | २७ | |
| सम्मिलित | ४० | | | | | | | | | | | | | | | | | १५७ | |
| अनिश्चित | १७ | | | | | | | | | | | | | | | | | ५७ | |
| | | | | | | | | | | | | | | | | | | २१४ | |

इस सारणीसे मालूम होगा कि, कुल २१४ (२१६) सिद्धान्त हैं, जिनपर "कथावत्थु" ने बहस की है। उनमें १३० अन्धक आदि अर्वाचीन निकायोंके हैं, ४० सिद्धान्त बहुतोंके सम्मिलित हैं, १७[1] सिद्धान्तोंके विषयमें अट्ठकथा चुप है; और २७ ही ऐसे हैं, जो पुराने १८ निकायोंसे सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, कथावत्थु मुख्यतः अर्वाचीन निकायोंके ही विरुद्ध लिखी गई है। इन अर्वाचीन आठ निकायोंमें अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक और सिद्धार्थिक अन्धकोंके ही भेद हैं। इनमें अन्धकोंके ८२ सिद्धान्तों का खण्डन हुआ है। वैपुल्यवादियों और हेतुवादियोंके रहनेका स्थान यद्यपि नहीं लिखा है, तो भी आगे चलकर वैपुल्यवादियोंको हम आन्ध्रदेशका बतलायेंगे। उत्तरापथक पंजाब या हिमालयके मालूम होते हैं; किन्तु हेतुवादियोंके बारेमें कुछ नहीं कहा जा सकता। महासांघिकोंसे ही पिछले अन्धक-निकायोंका जन्म हुआ मालूम होता है। ऐसा माननेके लिए दो कारण हैं; एक तो कितनेही विवादग्रस्त विषय इनके सम्मिलित हैं, दूसरे आन्ध्र-साम्राज्यमें महासांघिकोंका[2] बहुत अधिक प्रचार और प्रभाव था। इस प्रकार इन्हींसे आगे चलकर अन्धकोंकी उत्पत्ति हुई।

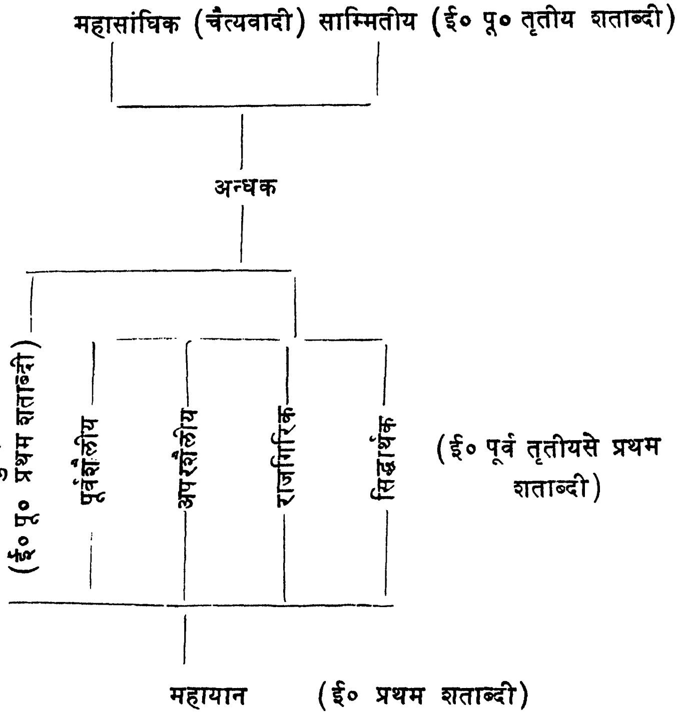
---

[1] मिलाकर देखनेसे अनिश्चित सत्रह सिद्धान्तोंवाले निकाय इस प्रकार मालूम होते हैं—

अन्धक ४ + १, पूर्वशैलीय १, उत्तरपथक ५, महासांघिक ५, साम्मितीय अन्धक १।

भूत भविष्य-कालोंके अस्तित्वका सिद्धान्त (कथा० १।७) किसका है यद्यपि यह यहाँ नहीं दिया है, तो भी युन्-च्वेङ (हुएन्-साङ) द्वारा अनुवादित "विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि"की टीकामें यह सिद्धान्त सर्वास्तिवादियों और साम्मितियोंका बतलाया गया है। (देखिये "विज्ञप्ति-मात्रतासिद्धि", डाक्टर पूसिनका फ्रेंच अनुवाद, पृ० १५७)।

२ महासांघिकोंके भीतर चैत्यवाद-निकाय भी था। धान्यकटकमें इसकी प्रधानता थी, यह अमरावतीमें मिले शिलालेखोंसे मालूम होती है। धान्यकटकके स्तूपका नाम ही "महाचैत्य" था। मंजुश्रीमूलकल्प, १० पटलमें है—




**पूर्वशैलीय**—"कथावत्थु" की अट्ठकथा (१।९) में इसे तृतीय संगीतिके बाद उत्पन्न होनेवाले अन्धक-निकायोंमें गिना गया है। महासांघिकोंका (धान्यकटक-महाचैत्यका) चैत्यवाद-निकाय पुराने अठारह निकायोंमें सम्मिलित किया गया है; किन्तु इन अन्धक-निकायोंको हम उनमें सम्मिलित नहीं पाते। इसलिये मालूम होता है, यह चैत्यवादियोंके भी पीछेका है। यद्यपि चैत्यवादियोंका नाम अठारह निकायोंमें होनेसे अट्ठकथाचार्य उन्हें तृतीय संगीतिसे पूर्वका बतलाते

---

**"श्रीपर्वते महाशैले दक्षिण-पथ-संज्ञके।**
**श्रीधान्यकटकके चैत्ये जिनधातु-धरे भुवि।"**
**इसी चैत्यके नामसे वहाँ वाले चैत्यवादी कहे जाते थे।**

हैं। तो भी धान्यकटक चैत्यकी प्रसिद्धि, शुंगोंके बाद, आन्ध्रोंके प्रतापी कालमें हुई होगी। अतः यहाँके विहारके भिक्षुओंका पृथक् व्यक्तित्व खारबेल और शुंगोंके बादही स्थापित होना चाहिये। यदि यह ठीक हो, तो चैत्यवादको हम ई० पूर्व द्वितीय शताब्दीके अन्तिम भागमें मान सकते हैं; और, तब पूर्वशैलीय आदि चारो अन्धकनिकायोंकी उत्पत्ति ई० पू० प्रथम शताब्दीमें माननी होगी। भोटिया-ग्रन्थोंसे[1] मालूम होता है कि, पूर्वशैल और अपरशैल धान्यकटकके पूर्व और पश्चिमकी ओर दो पर्वत थे। इन्हींके ऊपरके विहार पूर्वशैलीय और अपर शैलीय कहे जाते थे। धान्यकटक आन्ध्रदेशमें वर्तमान धरनीकोट (जि० गुंटूर) है। चौदहवीं शताब्दीके लिखे सिंहली-ग्रन्थ "निकायसंग्रह" से यह भी मालूम होता है कि, इन्होंने "राष्ट्रपालगर्जित"[2] ग्रन्थको बुद्धके नामसे प्रसिद्ध किया था। भोट (तिब्बत) में शर्-री (पूर्वशैल) कही जानेवाली पीतलकी मूर्तियोंका दाम कई गुना अधिक होता है।

**अपरशैलीय**—धान्यकटकके पश्चिमकी पहाड़ीपर बसनेवाला यह निकाय भी चैत्यवादियोंसे निकला मालूम होता है। शेष पूर्वशैलीयकी भाँति, इसके बारेमें, जानना चाहिये। भोटिया-ग्रन्थोंमें इसका भी जिक्र आता है। इसके सिद्धान्तों-पर पहले कुछ कहा जा चुका है। "निकायसंग्रह" के अनुसार इन्होंने "आलवक-गर्जित" सूत्रको बनाकर बुद्धके नामसे प्रकाशित किया।

**राजगिरिक**—अन्धक थे; किन्तु आन्ध्रमें राजगिरि कहाँ है (जहाँपर कि इनका केन्द्र था), नहीं कहा जा सकता। "कथावत्थु" में इनके ११ सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है, जिनमेंसे आठ इनके तथा "सिद्धार्थकों" के एक हैं। इससे ज्ञात होता है, इन दोनोंका आपसमें कुछ सम्बन्ध था। निकायसंग्रहमें इन्हें "अंगुलिमालपिटक" का[3] कर्ता कहा गया है।

**सिद्धार्थक**—राजगिरिक की भाँति इनके बारेमें भी नहीं कहा जा सकता कि, इनका केन्द्र आन्ध्र-देशमें किस स्थान पर था इनके और राजगिरिकोंके

१ **क्लोङ-दंल्-बुम् (ल्हासा) ग, पृ० ८ ख।**

२ **सम्भवतः चीनी त्रिपिटकका "राष्ट्रपालपरिपृच्छा"।** (*Nanjio's 873* **स्कन्-जुर ४९।९)।**

३ **सम्भवतः "अङगुलिमाल-सूत्र"** (*Nanjio's 484* **स्कन्-जुर ६२।१३)।**

सिद्धान्तोंकी समानता बतलाती है कि, इनमेंसे या तो एक दूसरेसे निकला था, या दोनोंका उद्गम एक ही था। "निकायसंग्रह" में इन्हें 'गूढ़-वेस्संतर' का कर्ता बतलाया गया है।

यह चारों ही अन्धक-निकाय, आन्ध्र-सम्राटोंके समयमें, बहुत ही उन्नत अवस्थामें थे। आन्ध्र राजा और उनकी रानियोंका बौद्धधर्मपर कितना अनुराग था, यह अमरावती और नागार्जुनी-कोंडामें मिले शिलालेखोंसे मालूम होता है। इनके बारेमें यद्यपि चीन, भोटिया, पाली तथा संस्कृत-स्रोतोंसे कुछ सामग्री मिलती है; किन्तु वह बहुत ही अल्प है। लेकिन आन्ध्र लोग शिलालेखोंके बहुत अधिक प्रेमी थे; आशा है, धान्यकटक तथा नागार्जुनी—कोंडा[1] एवं गुंटूर-जिलेके अन्य पुराने ध्वंसावशेषोंकी खुदाई पूरी होनेपर हम इन सभी गुत्थियोंको सुलझा सकेंगे, एवं उनसे महायान और वज्रयानके आरम्भिक दिनों तथा उसके विकास के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ेगा।

**वैपूल्य (वेतुल्ल) वादी**—"कथावत्थु" की अट्ठकथामें वैपुल्यवादियोंको महाशून्यतावादी कहा गया है। हमें मालूम ही है कि, नागार्जुन शून्यवादके आचार्य हैं। इस प्रकार वैपुल्यवाद और महायान एक सिद्ध होते हैं। "कथा-वत्थु" में दो बातें विशेष महत्त्वकी हैं। एक तो वैपुल्योंके खण्डित सिद्धान्तों में "शून्यता" नहीं सम्मिलित है।

इनके मत संघ, बुद्ध और मैथुनके विषयमें भेद रखते थे। इनका कहना था—(१) संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध करता तथा उपभोग करता है, न संघको देनेमें महाफल है,[2] (२) बुद्धको दान देनेमें न महाफल है, न बुद्ध लोकमें आकर ठहरे और न बुद्धने धर्मोपदेश किया;[3] (३) खास मतलबसे (एकाभिप्रायेण) मैथुनका सेवन किया जा सकता है।[4] यह कहनेकी जरूरत नहीं कि, ये तीनों ही बातें एक प्रकारसे बौद्ध धर्ममें भयंकर विप्लव मचाने वालीथीं। विशेषकर ऐतिहासिक बुद्धके अस्तित्वसे इन्कार तथा खास स्थितिमें मैथुनकी

१ यह स्थान अब नागार्जुन सागरके गर्भमें जानेवाला है, पुरातत्त्व विभाग जल्दी-जल्दी वहाँकी निधियोंको जमा करनेकी कोशिश कर रहा है।

२ कथावत्थु १६।६-९ ३ वही १७।१०; १८।१ ४ वही २३।१

अनुज्ञा। पहलेमें हम महायानके आखिरी विकास तक का स्पष्ट पूर्व-रूप पाते हैं, और दूसरेमें वज्रयान या तान्त्रिक बौद्ध धर्मका स्फुट बीज। दूसरी बात है, "वेतुल्लवाद" के सभी मत "कथा-वत्थु" के अन्तिम भाग १७वें, १८वें और २३वें वर्गोंमें हैं। यह पहले ही कह चुके हैं कि, "कथावत्थु" का आरम्भ चाहे अशोककी तीसरी संगीतिसे ही हुआ हो; किन्तु उसमें पीछेके बादभी जुटते गये। इस प्रकार यह मान लेनेमें कोई कठिनाई नहीं मालूम होती कि कथावत्थुका "वेतुल्लवाद" वाला भाग सबसे पीछेका है। कितना पीछेका है? इसके लिए इतना कहा जा सकता है कि, वह बुद्धघोषसे ही पहले का नहीं, बल्कि नागार्जुनसे भी पहले का है; क्योंकि उसमें वेतुल्लवादियोंके शून्यवादका खण्डन नहीं है। हम इसे यदि ईसा की पहली शताब्दी मान लें, तो वास्तविक समयसे बहुत थोड़ा ही आगे-पीछे रहेंगे। इस बातमें हम और कुछ निश्चित तौरसे तभी कह सकेंगे, जब हम शक-शालिवाहन संवत् एवं नागार्जुनके समयको अन्तिम तौरपर निश्चित कर सकेंगे। सिंहलके इतिहाससे पता लगता है कि, सर्वप्रथम राजा बलगमबाहु (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के समयमें वेतुल्लवाद सिंहलमें पहुँचा; किन्तु हो सकता है पिछले समयमें, जब चारों अन्धक-सम्प्रदाय एवम् उन्हींकी एक शाखा "वेतुल्लवाद" एक हो गये, तब सबको ही "वेतुल्ल" कहा जाने लगा हो।

महायान सूत्रोंको हम चीन में[१] प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, अवतंसक और निर्वाण तथा तिब्बती कन्-जूरमें प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, सूत्र (प्रकीर्ण) और निर्वाणके क्रमसे विभक्त पाते हैं। अवतंसक-सूत्रों को वैपुल्यसे पृथक् गिना गया है; किन्तु वैपुल्य और अवतंसक एक ही प्रकारके सूत्र हैं।[२] "मंजुश्री मूलकल्प" में हर एक पटलके अन्तमें आता है—"बोधिसत्त्व-पिटकादवतंसकात् महायानवैपुल्य-सूत्रात्।" भोटियामें भी वैपुल्य सूत्रोंके नामके साथ आता है—"बोधिसत्त्व-पिटकात् अवतंसकात् महावैपुल्य..... सूत्रम्।" स्वयं नान्ज्योके सूचीपत्रके ही ८७, ८९, ९४, ९६, १०१ ग्रन्थोंमें अवतंसक और वैपुल्य साथ-साथ विशेषण विशेष्य-रूपसे

१ देखिये *A Catalogue of the Buddhist Tripitaka by Bunjiu Nanjio.*

२ *Trivendrum Sanskrit Series LXX. LXXXIV.*

प्रयुक्त हुए हैं। प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य आदि सूत्र महायानके हैं;[1] इसमें तो किसीको सन्देह हो ही नहीं सकता; और इसीसे वैपुल्यवाद (पाली वेतुल्लवाद) वही है, जिसे हम आजकल महायान कहते हैं। या यों कहियेकि, वेतुल्ल या "वैपुल्य" वह नाम है, जिससे आरम्भिक कालमें महायान प्रसिद्ध हुआ। आरम्भमें, महायान कहलानेमें, उन्हें सफलता न हुई थी। "वेतुल्ल" और "वैपुल्य" एक ही हैं; यही हम कथावत्थुकी अट्ठ-कथाके उस वाक्यसे भी समझ सकते हैं, जिसमें वेतुल्लवादी को महाशून्यतावादी कहा है। निकाय-संग्रह में वेतुल्लवादियों को "वेतुल्ल-पिटक" (वैपुल्यपिटक)का कर्ता कहा है। वहीं यह भी लिखा है कि, अन्धकों ने[2] "रत्नकूट" तथा दूसरे शास्त्रोंकी रचनाकी। "रत्नकूट" और "वैपुल्ल", दोनों ही प्रकारके सूत्र महायानी हैं, यह हम देख चुके हैं; इसलिए महायान अन्धकों (पूर्वशैलीय आदि चार सम्प्रदाय) और वैपुल्यवाद के सम्मिलित रूपका नाम है।

यह तो मालूम हो चुका कि, महायान पूर्वशैलीय आदि चार अन्धक-सम्प्रदायोंके तथा वैपुल्यवादके सम्मिक्षणसे बना है; और, जितना अंश अन्धक-निकायोंसे सम्बन्ध रखता है, वह आन्ध्र-देशकी उपज है। लेकिन वैपुल्यवाद का मुख्य स्थान कहाँ था, अब हम इसपर विचार करेंगे।

यहाँपर ध्यान रखना चाहिये कि, महायान-सूत्र बराबर परिवर्तित और परिवर्द्धित किये जाते रहे हैं; इसलिये उनके मूल स्थानसे मतलब हमारा इतना-ही है कि, उनके निर्माणकी नींव डाली गयी; और, परिवर्द्धन-परिवर्तन करनेमें तो सारा भारत शामिल था। वैपुल्यवादके बारेमें हमें निम्न बातें मालूम हैं--

(१) ईसा पूर्व[3] पहली शताब्दीमें यह सिंहल पहुँचा था।

(२) इसके[4] कुछ सूत्रोंका चीनीमें अनुवाद, ईसाकी दूसरी शताब्दी में हो चुका था।

---

१ स्कन्-जुर ४१-४६

२ "अन्धकयो रतनकूटादिवू शास्त्रान्तर रचना कलह" निकायसंग्रहय (सीलोन-सरकार द्वारा १९२२में मुद्रित)। ३ महावंस।

४ नन्ज्योका सूचीपत्र, संख्या २५, "सुखावतीव्यूह" लोकरक्षा (१४७-१८६ ई०) द्वारा अनूदित।

(३) इसके प्रचारकोंमें सबसे ऊँचा स्थान आचार्य नागार्जुनका है।
(४) नागार्जुनका वास-स्थान श्रीपर्वत और धान्यकटक था।[1]
(५) (आन्ध्र-राजा) शातवाहन नागार्जुनका घनिष्ट मित्र था।[2]
(६) कुछ[3] क्रान्तिकारी सिद्धान्त इनके और अन्धकोंके आपसमें मिलते थे।

इससे अनुमान होता है कि, वैपुल्यवादका केन्द्र[4] भी श्रीधान्यकटकके पास ही था। इस बातकी पुष्टि मंजुश्रीमूलकल्पका यह श्लोकभी करता है—

गच्छेद् विदिशं तन्त्रज्ञः सिद्धिकामफलोद्भवाम्।
पश्चिमोत्तरयोर्मध्यं स देशः परिकीर्तितः॥ (पृ० १७५, पटल १८)

इसमें "पश्चिम-उत्तरके बीचमें" विदिशाको बतलाया गया है; और, विदिशा वर्तमान भिलसा (ग्वालियर-राज्य) का ही प्राचीन नाम है। यह स्पष्ट है कि, लेखक दक्षिण भारतमें बैठकर ही ऐसा लिख सकता है। "मंजुश्रीमूलकल्प" महावैपुल्य-सूत्रोंमें से है, यह पहले कहा जा चुका है। हमारी समझमें यह स्थान श्रीपर्वत धान्यकटकही हो सकता है।

---

१ क्लोङ-दंल-ग्सुङ-बुम् (ल्हासा) च, पृष्ठ ९क-"नागार्जुनका निवासस्थान दक्षिण भारतमें, श्रीपर्वतके समीप श्रीधान्यकटकमें था।"

२ हर्षचरित, सप्तम उच्छ्वास—(निर्णयसागर, तृतीय संस्करण, पृ० २५०)—"समतिक्रामति च कियत्यपि काले कदाचित् तामेकावलीं तस्मान्नागराजात् नागार्जुनो नाम नागैरेवानीतः पातालतलं भिक्षुरभिक्षत् लेभे च। निर्गत्य रसातलात् त्रिसमुद्राधिपते शातवाहननाम्ने नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।" नागार्जुनने शातवाहन राजाके नाम "सुहृल्लेख" नामक पत्र लिखा था, जो चीनी और भोटिया-भाषाओंमें अब भी सुरक्षित है।

३ जैसे खास अभिप्रायसे मैथुनकी अनुज्ञा (कथावत्थु २३।१), यह अन्धकों और इनकी एक-सी है। अन्धक बुद्धके व्यवहारको लोकोत्तर मानते थे (क० ब० २।८); और, यह बुद्धकी ऐतिहासिकतासे ही इन्कार करते हैं—"बुद्ध मनुष्य लोकमें (आकर) नहीं ठहरे" (१८।१)। "बुद्धने धर्मका उपदेश नहीं किया" (१८।२)। ४ नहरल्लवडु (नागार्जुनी-कोंडा, जिला गुंटूर)।

124813

# ६. वज्रयान और चौरासी सिद्ध

## १. वज्रयानकी उत्पत्ति

मन्त्र कोई नयी चीज नहीं है। मन्त्रसे मतलब उन शब्दोंसे है, जिनमें लोग मारण, मोहन, उच्चाटन, आदिकी अद्भुत शक्ति मानते हैं। यह हम वेदोंमेंभी पाते हैं। ओं वोषट्, श्रौषट् आदि शब्द ऐसेही हैं, जिनका प्रयोग यज्ञोंमें आवश्यक माना जाता है। मन्त्रोंका इतिहास ढूँढ़िये, तो आप, इन्हें मनुष्यके सभ्यता पर पैर रखनेके साथ-साथ, तरक्की करते पायेंगे। प्राचीन बाबुल (बेबिलोन), असुर, मिस्र आदि देशोंमें भी मन्त्रका जोर था। फलतः मन्त्रयान बौद्धोंका कोई नया आविष्कार नहीं है। केवल प्रश्न यह है कि, बौद्धोंमें इसका आरम्भ कैसे हुआ और उसमें प्रेरक-शक्ति क्या थी? पालीके ब्रह्म-जालसुत्तसे मालूम होता है कि, बुद्धके समयमें ऐसे शान्ति-सौभाग्य लानेवाले पूजा-प्रकार या कल्प प्रचलित थे। गन्धारी-विद्या या आवर्तनी-विद्या पर भी लोग विश्वास रखते थे। बुद्धने इन सबको मिथ्याजीव ( = झूठा व्यवसाय) कहकर मना किया; तो भी इससे उनके शिष्य इन विद्याओंमें पड़ने से रुक न सके। बुद्धके निर्वाणको जितना ही अधिक समय बीतता गया, उतना ही लोगोंकी नजरसे उनके मानुष गुण भी ओझल होते गये। बादलकी तहमें दिखायी पड़ते सूर्य अथवा कुहरेमें टिमटिमाते चिरागकी भाँति उनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व अधिक धुँधला रूप धारण करता गया। जहाँ इस प्रकार मानुष बुद्ध लुप्त होते जा रहे थे, वहाँ अलौकिक गुणोंवाले बुद्धकी सृष्टिका उपक्रम बढ़ता जाता था। इसी प्रयत्नमें बुद्धके जीवनकी अलौकिक कहानियाँ गढ़ी जानें लगीं। ऐसी कहानियाँ आकर्षक होती ही हैं। जब लोगोंने बुद्धकी अलौकिक जीवन-कथाओंको अधिक प्रभावशाली देखा, तब इधर जुट पड़े; किन्तु कुछ दिनोंमें ही वह आकर्षण फीका पड़ने लगा। बुद्धकी ये अलौकिक शक्तियाँ तो अतीतके गर्भमें विलीन हो गयी थीं। उनकी कथासे लोगोंको वर्तमानमें क्या लाभ? तब बुद्धकी अलौकिक शक्तियोंका वर्तमानमेंभी उपयोग होनेके लिये, बुद्धके वचनोंके पारायणमात्रसे पुण्य

माना जाने लगा। उनके उच्चारण मात्रसे रोग, भय आदिका नाश समझा जाने लगा! उस समय भूत-प्रेत आजसे बहुत अधिक थे! इतने अधिक थे कि, अभी उस परिणाम पर पहुँचनेके लिये थियासोफी और स्पिरिचुअलिज्मको शताब्दियों मेहनत करनी पड़ेगी! कुछ लोगोंको इन भूतोंकी बहुत फिक्र रहती थी। इसलिये उन्हें वशमें करनेके लिये भी कुछ सूत्रोंकी रचना होने लगी। स्थविरवादियोंने (जोकि, मानुष बुद्धके बहुत पक्षपातीथे) ही "आटानाटीयसुत्त"[१]से इसका आरम्भ किया। फिर क्या था, रास्ता खुल निकला। तब स्थविरोंने देखा, वे इस घुड़दौड़में तब तक बाजी नहीं मार सकते, जब तक वे ऐतिहासिक बुद्धसे पिण्ड न छुड़ालें; किन्तु वह इनके लिए बहुत कड़वी गोली थी! उधर दूसरे सम्प्रदाय इसमें विशेष तरक्की करने लगे। जब देखा, दुनिया भी उन्हींकी ओर खिचती जा रही है तब उन्होंने उसमें और भी उत्साह दिखाना शुरू किया। इसका, फल, हम देखते हैं कि, बुद्धके निर्वाणसे चार ही पाँच सौ वर्षों बाद वैपुल्यवादियोंने बुद्धके लोकमें आनेसेभी इनकार कर दिया। आखिर लौकिक पुरुष उन अभिलषित अद्भुत शक्तियोंका कैसे धनी हो सकता है?

उक्त क्रमसे पहले अठारह प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदायोंने सूत्रोंमेंही अद्भुत शक्तियाँ माननी शुरूकीं; और कुछ खास सूत्र भी इसके लिए बनाये। फिर वैपुल्य-वादियोंने, लम्बे-लम्बे सूत्रोंके पाठमें विलम्ब देखकर कुछ पंक्तियोंकी छोटी-छोटी धारणियाँ बनायीं। लेकिन मनुष्य बैलगाड़ीसे रेल तक पहुँच कर क्या हवाई जहाजसे इन्कार कर सकता है? अन्तमें दूसरे लोग पैदा हुए, जिन्होंने लम्बी धारणियोंको रटनेमें तकलीफ उठाती जनता पर अपार कृपा करते हुए, "ओं मुने मुने महामुने स्वाहा," "ओं आ हुं", "ओं तारे तूत्तारे तुरे स्वाहा" आदि मन्त्रोंकी सृष्टि की। अब अक्षरोंका मूल्य बढ़ चला। फिर लोगों को, एक-एक मन्त्राक्षरको खोजमें भटकते देख, उन्होंने "मंजुश्रीनामसंगीति" के कहे अनुसार

---

१ "दीघ-निकाय" ३२ सुत्त, जिसमें यक्षों और देवताओंका बुद्धसे संवाद वर्णित है। इसमें यक्षों और देवताओंके प्रतिनिधियोंने प्रतिज्ञाएँ की हैं, जिनके दोहरानेसे आजभी उनके वंशज देवताओंको, अपने पूर्वजोंकी प्रतिज्ञा याद आ जाती है; और, वे सतानेसे बाज रहते हैं!

सभी स्वर और व्यञ्जन वर्णोंको मन्त्र करार दे दिया। अब "ओं" और "स्वाहा" लगाकर चाहे जो भी मन्त्र बनाया जा सकता था; बशर्ते कि, उसके कुछ अनुयायी हों! कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, इन सारी मेहनतों का पारितोषिक यदि उन्हें रुपये-आने-पाई या उसी तरह की किसी और दुनियाबी सुख-सामग्रीके रूपमें न मिलता, तो शायद दुनिया उनकी इन कृतियोंसे वञ्चित ही रहती। संक्षेपमें, भारतमें बौद्ध-मन्त्र-शास्त्र के विकासका यही ढंग रहा है। इस मन्त्रयान-कालको यदि, हम निम्न क्रम से मान लें, तो वास्तविकता से बहुत दूर न रहेंगे—

सूत्र-रूप में मन्त्र—ई० पू० ४००–१००,
धारणीमन्त्र—ई० पू० १००-४०० ईस्वी,
मन्त्र-मन्त्र—ई० ४००-७०० ई०।

इसी धारणी-मन्त्रके युगमें हम अलौकिक बुद्धके सहायक और अनुयायी कितने ही अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री आदि अलौकिक बोधिसत्त्वोंकी सृष्टि होते देखते हैं।

मन्त्रोंका महात्म्य बढ़ने लगा। लोग इनपर धन और श्रम खर्च करने लगे। आविष्कारकोंने भी मन्त्रोंकी फलदायकताकी वृद्धिपर सोचना शुरू किया। उन्होंने देखा, योगकी कुछ क्रियाएँ योगीके प्रति अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न करती हैं, जिससे लोग जल्दी उनकी बात (Suggestion) पर आरूढ़ हो जाते हैं। (आजकल भी हिप्नाटिज्म और मेसमेरिज्ममें उत्कट श्रद्धा बहुत ही आवश्यक चीज मानी गयी है)! दूसरे उनकी मानसिक शक्ति, एकाग्रताके कारण, अधिक तीव्रहो श्रद्धालुओंको छोटे-मोटे चमत्कार दिखाने में या उनके कष्ट-सहनकी शक्तिको बढ़ानेमें समर्थ होती है। योगकी कुछ प्रक्रियाओंका बुद्धके समयके पूर्वसे ही लोग अभ्यास करते आ रहे थे। बुद्धके बाद तो और भी करने लगे। बुद्ध-निर्वाणके चार-पाँच सौ वर्षों बाद, इस तरहकी उपयोगी मानसिक शक्तियोंका उन्हें काफी अनुभव हो चुका था। उन्हें मालूम हो गया था कि, इस तरहके चमत्कारके लिए भक्तोंमें अन्धश्रद्धा और प्रयोक्तामें तीव्र मानसिक शक्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है। अब वे, एक ओर योगसे अपनी मानसिक शक्तिको विकसित करने लगे; दूसरी ओर, भक्तोंमें श्रद्धाकी मात्रा खूब बढ़ानेके लिये नाना हठ, त्राटक क्रियाओं तथा मन्त्र-तन्त्रकी वृद्धिके साथ-साथ सहस्रों नये देवी-देवताओंकी सृष्टि करने लगे।

उक्त मन्त्रों और योग-विधियोंके प्रवर्त्तकों और अनुवर्त्तकोंमें दो प्रकारके

मनुष्य थे, एक तो वे, जो वस्तुतः अत्यन्त श्रद्धासे मुग्धहो इन क्रियाओंको "स्वान्तः सुखाय" या "परहिताय" करते थे। उनमें उनका अपना स्वार्थ उतना न था। वे न क्रियाओं द्वारा उस समयके मानसिक वातावरणमें तत्काल लोगोंको लाभ होते देखते थे; इसलिये, अपार श्रद्धासे उस काममें प्रवृत्त थे। दूसरे वे चालाक लोग थे, जो अच्छी तरह जानते थे कि, इन मन्त्र-तन्त्र क्रियाओंकी सफलताका अधिक दारोमदार उनकी अपनी अद्‌भुत शक्तियों पर उतना नहीं है, जितना कि श्रद्धालुकी उत्कट श्रद्धा पर। इसीलिए श्रद्धालुकी श्रद्धा को पराकाष्ठा तक पहुँचानेके लिए या उसे पूर्ण-रूपेण "हिप्नोटाइज़्ड" करने के लिए वे नित्य नये आविष्कार करते थे। वस्तुतः फर्स्ट क्लासके आविष्कारक इसी दूसरी श्रेणीके लोग थे। इसी युग में चढ़ावे से अपार धनराशि मठों में जमा हो गयी। जब इन्होंने देखा कि आखिर बुद्धकी शिक्षासे भी हम बहुत दूर हो चुके हैं—लोग श्रद्धासे अन्धे हैं ही और सभी भोग हमारे लिये सुलभ हैं, तब उन्होंने विषय-भोगोंके संग्रहकी ठानी; और इस प्रकार मद्य और स्त्री-सम्भोगका श्रीगणेश हुआ। यहाँ यह न समझना चाहिये कि, भैरवीचक्रके ये ही आविष्कारक थे; क्योंकि इनसे सहस्रों वर्ष पूर्व मिस्र, असुर, यवन आदि देशोंमें भी ऐसे चक्रोंका हम प्रचार देखते हैं। इनका काम इतना ही था कि, इन्होंने बुद्धके नाम पर और नये साधनोंके साथ इन बातोंको पेश किया।

इस प्रकार मन्त्र, हठयोग और मैथुन—ये तीनों तत्त्व क्रमशः बौद्ध-धर्ममें प्रविष्ट हो गये। इसी बौद्धधर्मको मन्त्रयान कहते हैं, जिसे हम निम्न भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(१) मंत्रयान (नरम) ई० ४००—७००,

(२) वज्रयान (गरम) ई० ८००–१२००।

वैसे तो वैपुल्यवाद तथा उससे पूर्वके अन्धक निकायोंमें विशेष अभिप्रायसे मैथुनकी अनुज्ञा हो चुकी थी (कथावत्थु २३।१); तोभी वह भैरवी चक्रके रूपमें तब तक न प्रकट हो सकी, जब तक कि, वज्रयान न बना। इस पुराने मन्त्र-यानकी पुस्तकोंमें "मंजुश्रीमूलकल्प" एक है। "मंजुश्रीमूलकल्प" वैपुल्य सूत्रोंमेंसे भी है। इसका मतलब यह हुआ कि, मन्त्रयान वैपुल्यवाद या महायानसे ही विकसित हुआ है (वस्तुतः अलौकिक बुद्ध और अद्‌भुतशक्तिसम्पन्न धारणियोंसे

वैसा होना सम्भव ही था)। "मंजुश्रीमूलकल्प" में यद्यपि हम नाना मन्त्र-तन्त्रोंका विधान देखते हैं, तथापि उसमें भैरवी-चक्रका अभाव है; वहाँ सदाचारके नियमोंकी अवहेलना नहीं की गयी है। इस युगको यद्यपि हम गुप्त-साम्राज्यकी स्थापनासे आरम्भकर हर्षवर्द्धनके शासनके साथ समाप्त करते हैं, तथापि इसके अंकुरित और विकसित होनेका स्थान उत्तर भारत न था। "मंजुश्रीमूलकल्प" के वैपुल्य-वादी होनेकी बात हम कह चुके हैं। हम अपने एक लेख में[1] यहभी बतला चुके हैं कि, "मंजुश्रीमूल-कल्प" उत्तर भारतमें न लिखा जाकर दक्षिण भारतमें, विशेषतः धान्यकटक या श्रीपर्वत में लिखा गया है; उसमें इन दोनों स्थानोंको, मन्त्र-सिद्धिके लिए, बहुत ही उपयोगी बतलाया गया है।[2]

इससे यह भी मालूम होता है कि, मन्त्रयानके जन्मस्थान श्रीधान्यकटक और श्रीपर्वत है। तिब्बती ग्रन्थोंमें तो स्पष्ट कहा गया है कि, बुद्धने बोधि के प्रथम वर्षमें, ऋषिपतनमें श्रावक-धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया; १३वें वर्ष राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर महायान-धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया; और, १६वें वर्षमें मन्त्रयानका तृतीय धर्म-चक्र-प्रवर्तन श्रीधान्यकटक में[3] किया। श्रीपर्वत[4] मन्त्रशास्त्रके लिए बहुत ही प्रसिद्ध था। मालतीमाधवमें भवभूतिने श्रीपर्वत का जिक्र कई बार किया है—

(१) "दाणिं सोदामिनि समासादिअ अच्चरिअमन्तसिद्धिप्पहावा सिरिपव्वदे कावालिअ-व्वदं धारेदि।" (अंक १)।

(२) "यावच्छ्री पर्वतमुपनीय प्रतिपर्व तिलश एनां निकृत्य दुःखमारिणीं करोमि।" (अंक ८)।

(३) "श्रीपर्वतादिहाहं सत्वरमपतं तयैव सह सद्यः।"(अंक १०)।

---

१ देखिये "महायानकी उत्पत्ति"।

२ पृष्ठ ८८—"श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञिके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि॥
सिध्यन्ते तत्र मन्त्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थकर्मसु॥"

३ "बुग-प-पद्म-द्कर्-पो" का "छोस्-ब्युङ" पृष्ठ १४ क-१५ क।

४ नहरल्ल-बड्ड (नागार्जुनजी-कोंडा, जि० गुंटूर)।

वाण भी श्रीपर्वत के माहात्म्य से खूब परिचित था; और, द्रविड़-पुरुष के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ने से उसका दक्षिण में होना भी सिद्ध होता है—

"श्रीपर्वताश्चार्यवार्तासहस्राभिज्ञेन..... जरद्द्रविडधार्मिकेन"[1]

और "सकल-प्रणयि-मनोरथ-सिद्धिः श्रीपर्वतो हर्षः।" (हर्षचरित, १ उच्छवास)।

इन उदाहरणोंसे अच्छी तरह मालूम होता है कि, छठी-सातवीं शताब्दियोंमें श्रीपर्वत मन्त्र-तन्त्रके लिए प्रसिद्ध था। वस्तुतः मुसलमानोंके आनेके वक्त (बल्कि हाल तक) जैसे बंगाल जादूके लिए मशहूर था, वैसेही उस समय श्रीपर्वत था। ऊपरके मालतीमाधवके उद्धरणमें एक विशेष बात यह है कि, सौदामिनी एक बौद्ध-भिक्षुणी थी, जो पद्मावती (मालवा) से श्रीपर्वत पर मन्त्र-तन्त्र सीखने गयी थी।

श्रीपर्वतके साथ यहाँ सिद्धोंके बारेमें कुछ कहना जरूरी है। वस्तुतः श्रीपर्वत सिद्धोंका स्थान था; और, जहाँ कहीं भी पुराने संस्कृत-काव्योंमें सिद्ध या सिद्धाचार्य-शब्द मिलता है, वहाँ प्रायः कविका अभिप्राय, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूपसे, श्रीपर्वतके साथ रहता है। सिद्धों और उनकी भविष्यद्वाणियों (=सिद्धादेशों) की हम संस्कृत-साहित्यमें भरमार पाते हैं। मृच्छकटिक (ईस्वी पाँचवीं शताब्दी) में भी—"आर्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति" (अंक २) और "चन्दनं भोः स्मरष्यिामि सिद्धादेशस्तथा यदि" देखनेमें आता है। नागार्जुनको सिद्धनागार्जुन कहा जाता है। नागार्जुनने श्रीपर्वत-को अपना वासस्थान बनाया था। वज्रयानके साथ नागार्जुनको नहीं जोड़ा जा सकता। यद्यपि तिब्बती ग्रन्थकार इसके लिए नागार्जुनको ६०० वर्षकी लम्बी आयु देनेके लिए तैयार हैं; तथापि मालूम होता है कि, उनकी शिक्षामें मन्त्रोंकी कुछ बात थी, जिसकी पुष्टि श्रीपर्वतके मन्त्र-तन्त्रका केन्द्र बननेसे होती है। नागार्जुनी-कोंडाकी खुदाई में मिले लेखोंसे अब तो यह मालूम हो गया है कि, श्रीपर्वत श्रीशैल न होकर नागार्जुनी-कोंडा का 'नहरल्ल-वडु' पहाड़ ही है।

सातवीं शताब्दीमें मन्त्रयानका प्रथम रूप समाप्त होता है। और, उसके बाद, वह वज्रयान के घोर रूप को धारण करता है। १४वीं शताब्दीके सिंहल-

---

१ कादम्बरी (निर्णयसागर, सप्तम् संस्करण, पृ० ३९९)

भाषा के ग्रन्थ "निकाय-संग्रह" में इसी वज्रयान को वज्रपर्वतवासीनिकाय कहा है। श्रीपर्वत वज्रयानका केन्द्र होनेके कारण, वज्रपर्वत कहा जाने लगा। यद्यपि वज्रयानके ग्रन्थोंमें वज्रपर्वत स्थान नहीं आता है; तथापि निकाय-संग्रहने जिन ग्रन्थोंको इस निकायका बताया है, वे वज्रयानके के ही हैं। "निकायसंग्रहमें"[1] वज्रपर्वतवासियोंको निम्न ग्रन्थोंका कर्ता बताया गया है—

गूढ़ विनय।
मायाजालतंत्र ([2]*Nanjio's 1061*, भोट, कन्जुर ८४।१०)।
समाजतंत्र (गुह्यसमाजतंत्र कन्जुर ८३।२)।[3]
महासमयतत्व।
पदनिःक्षेप।
तत्वसंग्रह (क० २५।८)।
भूत-चामर (भूतडामरतन्त्र, क० ४३।८)।
वज्रामृत (क० ८२।१२)।
चक्र-संवर (क० ८०।१)।
द्वादशचक्र (कालचक्र, क० ७९।३, ४)।
भेरुकाद्बुद (हेरुकाद्भुत, क० ८१।२)।
महामाया (क० ८२।३)।
पदनिःक्षेप।
चतुष्पिष्ट (चतुः पीठतंत्र, क० ८२।६, ८)।
परामर्द (? महासहस्रप्रमर्दनी, क० ९१।१)।
मारीच्युद्भव।
सर्वबुद्ध (सर्वबुद्धसमायोग, क० ८९।६)।
सर्वगुह्य (क्रोध राज सर्वमन्त्र-गुह्य तन्त्र, क० ८२।११)।
समुच्चय (वज्रयान-समुच्चय, क० ८३।५)।
मायामारीचिकल्प (क० ९१।६?)।

---

१ निकायसंग्रह पृष्ठ ८, ९ (सीलोन सरकार द्वारा १९२२ में मुद्रित)।
२ *Bunjio Nanjio* का चीनी त्रिपिटक-सूचीपत्र।
३ नार्थङके छापेके कन्जुरका लेखक द्वारा लिखित सूचीपत्र।

हेरम्बकल्प।

त्रिसमय कल्प (त्रिसमयव्यूह-राजतन्त्र, क० ८८।४)।

राजकल्प (? परमादिकल्पराज, क० ८६।५)।

वज्रगान्धारकल्प। मारीचिकल्प।

गुह्यकल्प (गुह्य-परमहस्यकल्पराज क० ८९।१)।

शुद्धसमुच्चयकल्प (?सर्वकल्पसमुच्चय, क० ७९।७)।

ये सभी वज्रयानके प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, इसलिये वज्रपर्वतनिकाय और वज्रयान एक ही हैं। तिब्बतीय ग्रन्थोंमें लिखा है कि, वज्रयानका धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन बुद्धने श्रीधान्यकटकमें किया था। इससे वज्रयानकी उत्पत्ति भी, आन्ध्रदेशमें हुई सिद्ध होती है। श्रीपर्वत और धान्यकटक, दोनों ही वर्तमान गुंटूर जिलेमें हैं; इसलिए पीछे श्रीपर्वतके वज्रयानका केन्द्र बन जानेपर वही वज्रपर्वत कहा जाने लगा। मद्य; मन्त्र, हठयोग और स्त्री[1] —ये चार ही चीजें वज्रयानके मुख्य रूप हैं।

चौथी बात (स्त्री) में तो उन्होंने जाति, कुल ही नहीं, बल्कि माता, बहनके सम्बन्ध तककी अवहेलना करनेकी शिक्षा दी है। यह बुद्धकी मूल शिक्षा से दूर तो थी ही, महायानके लिए भी इसे जल्दी हजम करना मुश्किल था। इसलिए महायानसे साधारण मन्त्र-यानमें होकर वज्रयान तक पहुँचना पड़ा।

साधारण मन्त्रयानसे कब यह ज्वालामुखी फूट पड़ा, इसके बारेमें हमें प्रत्यक्ष प्रमाण तो मिल नहीं सकता; किन्तु ऐसी बातें हैं, जिनके बल पर हम उसका आरम्भ छठी शताब्दीके आसपास मान सकते हैं—

१ गायकवाड़-ओरियंटल-सीरीज, बड़ौदासे प्रकाशित "गुह्य समाजतंत्र" में लिखा है —

"प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषा वचः
अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि॥
अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्त्वान् प्रचोदयेत्।
एषो हि सर्वबुद्धानां समयः परमशाश्वतः॥" (पृ० १२०)
"दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिध्यति।
सर्वकामोपभोगांस्तु सेवयंश्चाशु सिध्यति॥" (पृ० १३६)



१—लूइपा



२—लीलापा



३—विरूपा



४—डोम्बिपा



५—शबरपा



६—सरहपा



७—कङ्कालीपा



८—मीनपा



९—गोरक्षपा



१०—चौरंगिपा



११—वीणापा



१२—शान्तिपा



१३—तन्तिपा



१४—चमारिपा



१५—खड्गपा



१६—नागार्जुन



१७—कण्हपा



१८—कर्णरिपा



१९—थगनपा



२०—नारोपा



२१—शलिपा



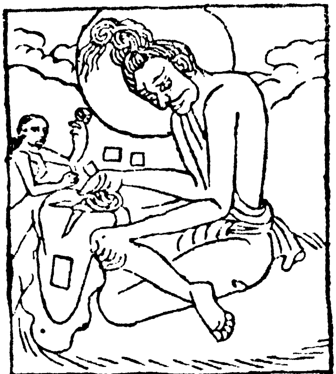
२२—तिलोपा



२३—छत्रपा



२४—भद्रपा



२५–दोखन्धिपा



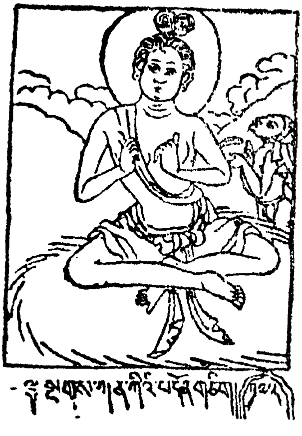
२६–अजोगिपा



२७–कालपा



२८–धोम्भिपा



२९—कंकणपा



३०—कमरिपा



३१—डेंगिपा



३२—भदेपा



८२—लक्ष्मीकरा



८३—समुदपा



८४—व्यलिपा

(१) सिंहलके "निकाय-संग्रह" में लिखा है—राजा मत-वल सेन (८४६-८६६ ई०) के समय वज्रपर्वत निकायका एक भिक्षु सिंहलमें आया और वीरांकुर (विहार) में रहने लगा। उसके प्रभावमें आकर राजाने वाजिरिय (वज्रयान) मतको स्वीकार किया। इसीसे लंकामें रत्नकूट आदि (ग्रन्थों) का

---

"विण्मूत्रशुक्ररक्तानां जुगुप्सां नैव कारयेत्।
भक्षयेत् विधिना नित्यं इदं गुह्यं त्रिवज्रजम्॥" (पृ० १३६)
"नीलोत्पलदलाकारं रजकस्य महात्मनः।
कन्यां तु साधयेत् नित्यं वज्रसत्त्व-प्रयोगतः॥" (पृ० ९४)

वज्रयानके आदि आचार्योंमें सिद्ध अनंगवज्र भी हैं। यह ८४ सिद्धोंमें से एक हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ "प्रज्ञोपायविनिश्चय-सिद्धि" (गा० ओ० सी० बड़ोदा) में लिखा है—

"प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्ति-काङ्क्षिभि॥२२॥
ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता॥२३॥
ब्राह्मणादिकुलोत्पन्नां मुद्रां वै अन्त्यजोद्भवाम्॥२४॥
जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्त्वयोगेन लघु सिध्येद्धि साधकः॥२५॥" (पृ० २२–२५)

इनके शिष्य सिद्ध राजा इन्द्रभूतिने अपने ग्रन्थ "ज्ञानसिद्धि"में लिखा है—

"घातयेत् त्रिभवोत्पन्नान् परवित्तानि हारयेत्।
कामयेत् परदारान्वै मृषावादमुदीरयेत्॥१४॥
कर्मणा येन वै सत्त्वाः कल्पकोटिशतान्यपि।
पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते॥१५॥'
भक्ष्याभक्ष्यविनिर्मुक्तो पेयापेयविवर्जितः।
गम्यागम्य-विनिर्मुक्तो भवेद् योगी समाहितः॥१८॥
चाण्डालकुलसंभूतां डोम्बिकां व विशेषतः।
जुगुप्सितकुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात्॥८२॥ (१।....)
शुक्रं वैरोचनं ख्यातं परं वज्रोदकं तथा।
स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा॥" (२।४२)

प्रचार आरम्भ हुआ। इसके बादके राजाने यद्यपि वज्रयानके खिलाफ कुछ कड़ाई[1] दिखायी तथापि वाजिरिय सिद्धान्त गोप्य थे; इसलिये वह चुपचाप बने रहे।

तिब्बतके रंगीन चित्रोंमें जिन्होंने अतिशा ( दीपंकर श्रीज्ञान ) आदि भारतीय भिक्षुओंकी शकल देखी होगी, उन्हें वहाँ उनके चीवरके भीतर एक नीले रंगकी जाकेट-सी दिखायी पड़ी होगी। "निकायसंग्रह" में इसकी उत्पत्ति विचित्र ढंगसे कही गई है—जिस समय कुमारदास (५१५-५२४ ई०) सिंहलमें राज्य कर रहे थे, उसी समय दक्षिण मधुरामें श्रीहर्ष नामक राजा शासन करता था। उस समय सम्मितीय निकायका एक दुःशील भिक्षु नीला कपड़ा पहने रातको वेश्याके पास गया। जब दिन उग आने पर वह विहार लौटा और उसके शिष्योंने वस्त्रके बारेमें पूछा, तब उसने उसके बहुतसे माहात्म्य वर्णन किये। तबसे उसके अनुयायी नीला वस्त्र पहनने लगे। उनके "नीलपट-दर्शन" में लिखा है—

"वेश्यारत्नं सुरारत्नं रत्नं देवो मनोभवः।
एतद्रत्नत्रयं वन्दे अन्यत् काचमणित्रयम् ॥"

कहते हैं, इसपर हर्षने उन्हें बहानेसे एक घरमें इकट्ठा कर जलवा दिया।

इस कथामें सभी बातें तो सच नहीं मालूम होतीं; किन्तु छठी शताब्दीमें इस सम्प्रदायकी उत्पत्ति तथा साम्मितीय निकायसे इसका सम्बन्ध कुछ ठीकसा जँचता है। हम दूसरी जगह, अपने "महायानकी उत्पत्ति" नामक लेखमें, लिख चुके हैं कि, महायानकी उत्पत्तिमें साम्मितीयोंका काफी हाथ था। इस तरह हम छठी शताब्दीको वज्रयानकी उत्पत्तिकी ऊपरी सीमा मान सकते हैं। निचली सीमा हमें ८४ सिद्धोंके कालसे मिलती है।

## २—चौरासी सिद्ध[2]

---

१ 'सद्धम्मपटिरूपानं विस्वालोके पवत्तनं
गण्हापेसि तथा रक्खं सागरन्ते समन्ततो॥' (निकाय; सं० पृ० १७)

२ इस वंशवृक्षको मैंने अधिकांश तिब्बतके स-स्क्य-विहारके पाँच प्रधान गुरुओं (१०९१-१२७९ ई०) की ग्रन्थावली "स-स्क्य-ब्कं-बुम्" के सहारे बनाया है, जो कि, चीनकी सीमाके पास "तेर्-गी" मठमें छपी है। मत्स्येन्द्र जालन्धर पादके शिष्य थे, यह प्रोफेसर पीताम्बरदत्त बड़थ्वालजीके लेखसे लिया है।

सरह आदिम सिद्ध हैं, वह पालवंशीय राजा धर्मपाल (ई० ७६८–८०९)के ज्येष्ठ समकालीन थे; उनका समय आठवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध मानना चाहिये। प्रथम कहे कारणोंसे हम वज्रयानकी उत्पत्तिको छठी शताब्दीसे पूर्व और सरह आदिके कारण आठवीं शताब्दीसे बाद भी नहीं मान सकते। सरह चौरासी सिद्धोंके आदि-पुरुष हैं, जिन्होंने लोक-भाषाकी अपनी अद्भुत कविताओं तथा विचित्र रहन-सहन और योग-क्रियाओंसे वज्रयानको एक सार्वजनीन धर्म बना दिया। इससे पूर्व वह महायानकी भाँति संस्कृतका आश्रय ले गुप्त रीतिसे फैल रहा था। सरहसे पूर्वकी एक शताब्दीको हम साधारण मन्त्रयान और वज्रयानका सन्धि-काल मान सकते हैं। आठवीं शताब्दीसे ज़ोरोंका प्रचार होने लगा। तबसे मुसलमानोंके आने तक यह बढ़ता ही गया। १२वीं शताब्दीके अन्तमें भारतके तुर्कोंके हाथमें जानेके समयसे पतन आरम्भ हुआ और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों तक यह विलुप्त तथा रूपान्तरित हो गया (बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारत में कुछ देर और रहा)। रूपान्तरित इसलिये कि, ऊपरी वंश-वृक्षमें आपको चौरासी सिद्धोंमें गोरक्षनाथ, मीननाथ और चौरंगीनाथका नाम मिलेगा। यहाँ हमने इन्हें तिब्बती ग्रन्थके आधार पर दिया है। उधर नाथपंथके ग्रन्थोंमें भी चौरासी सिद्धोंके साथ सम्बन्ध होनेकी बात दिखायी पड़ती है। इसे समझनेमें और आसानी होगी, यदि आप चौरासी सिद्धोंकी सूचीपर ध्यान देंगे।

---

कहीं-कहीं कुछ दूसरे भोटिया-(तिब्बतीय) ग्रन्थोंसे भी मदद ली गयी है।

स-स्क्य-ब्कं-बुम् 'प' में (महन्तराज फग-स्-प १२३३–१२७९ ई०की कृति) के पृष्ठ "६५ क" में सरहपादसे नारोपा तककी परम्परा इस प्रकार दी हुई है—(महाब्राह्मण) सरह, (नागार्जुन), (शबरपा), लूयिपा, दारिकपा, (वज्रघण्टापा), (कूर्मपाद), जालन्धरपा, (कण्हचर्यपा) गुह्यपा, (विजयपा), तेलोपा, नारोपा।

कोष्टकके भीतरके नाम मैंने भोटियासे अनुवाद कर दिये हैं।

| नाम | जाति | देश | समकालीन राजा या सिद्ध |
|---|---|---|---|
| १ लूइपा | कायस्थ | (मगध) | राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०) |
| २ लीलापा | | | सरह (६) से तीसरी पीढ़ी |
| ३ विरूपा | | मगध (देवपालका देश) | राजा देवपाल (८०९-४९ ई०) |
| ४ डोम्बिपा | क्षत्रिय | (मगध) | लूइपा (१) के शिष्य |
| ५ शबरपा | " | विक्रमशिला | [सरह (६) के शिष्य, लूइपाके गुरु] |
| ६ सरहपा | ब्राह्मण | (नालन्दा) | राजा धर्मपाल (७६९-८०९ई०) |
| ७ कंकालीपा[1] | शूद्र | मगध[3] | |
| ८ मीनपा | मछुआ | कामरूप.... | जालन्धरपाद (४६)के शिष्य गोरक्षपाके गुरु मत्स्यन्द्रके पिता, देवपाल[2] (८०८-४९) ई०) |
| ९ गोरक्षपा | | | |
| १० चोरंगिपा | राजकुमार | मगध | गोरक्षपा(९)के गुरुभाई |
| ११ वीणापा | राजकुमार | गौड़ (विहार) | कण्हपा (१९)के शिष्य, भद्रपाके शिष्य |

१ कोंकलिपा, कंकलिपा, कंकरिपा पृ० २४७। २ "चतुराशीति-सिद्ध-प्रवृत्ति" तन्जूर ८६।१ *Cordier* ३ पूर्व में राज्ञी नगर।

| नाम | जाति | देश | समकालीन राजा या सिद्ध |
|---|---|---|---|
| १२ शान्तिपा[1] | ब्राह्मण | मगध | महीपाल ९७४-१०२६ |
| १३ तन्तिपा | तँतवा | सोंधो नगर | जालन्धर (४६) के शिष्य |
| १४ चमारिपा | चर्मकार | विष्णुनगर (पूर्वदेश) | |
| १५ खड्गपा | शूद्र | मगध | चर्पटी (५४) के शिष्य |
| १६ नागार्जुन | ब्राह्मण | काञ्ची | सरह (६) के शिष्य |
| १७ कण्हपा (चर्यपा) | कायस्थ | सोमपुरी[2] | देवपाल (८०९-४९ ई०) |
| १८ कर्णरिपा (आर्यदेव)[4] | | (नालन्दा) | नागार्जुन (१६) के शिष्य |
| १९ थगनपा | शूद्र | पूर्व-भारत | शान्तिपा (१२) के गुरु |
| २० नारोपा[3] | ब्राह्मण | मगध........... | (महीपाल ९७४-१०२६ ई०) |
| २१ शलिपा[4] (शीलपा) | शूद्र | विघसुर | |
| २२ तिलोपा (तिल्लोपा) | ब्राह्मण | भिगुनगर | नारोपा (२०) के गुरु |
| २३ छत्रपा | शूद्र | संधोनगर | |
| २४ भद्रपा | ब्राह्मण | मणिधर[5] | सरहपा (६) से तीसरी पीढ़ी |

---

१ रत्नाकर शान्ति (विक्रमशिला)  २ पहाड़पुर पू० पाकिस्तान।  ३ देहान्त १०३९ ई०।
४ सम्भवतः श्रृगालीपाद ("बौद्ध गान ओ दोहा") भी यही हैं।
५ सम्भवतः बघेलखण्डका मैहर।

| नाम | जाति | देश | समकालीन राजा या सिद्ध |
| --- | --- | --- | --- |
| २५ दोखंधि (द्विखंडि)पा | | गंधपुर | |
| २६ अजोगिपा | गृहपति | सालिपुत्र | |
| २७ कालपा | | राजपुर.......... | अवधूतिपा (१०वीं शताब्दी) |
| २८ धोम्भिपा | धोबी | सालिपुत्र | की तीसरी पीढ़ी |
| २९ कंकणपा | राजकुमार | विष्णुनगर | |
| ३० कमरि (कंबल)पा | | उड़ीसा | घंटापा (५२)के शिष्य |
| ३१ डेंगिपा | ब्राह्मण | उड़ीसा(सालिपुत्र) | लूइपा (१)के शिष्य |
| ३२ भदेपा | | श्रावस्ती | कण्हपा (१७)के शिष्य |
| ३३ तंधे (तंते)पा[1] | शूद्र | कौशाम्बी | |
| ३४ कुकुरिपा | ब्राह्मण | कपिल (वस्तु) | मीनपा(८)के गुरु |
| ३५ कुचि[2] (कुसूलि)पा | शूद्र | करि | |
| ३६ धर्मपा | ब्राह्मण | विक्रम(शिला) देश | कण्हपा(१७) और जालन्धरपाके शिष्य |
| ३७ महिपा (महिलात) | शूद्र | मगध | कण्हपा(१७)के शिष्य |
| ३८ अचिंतिपा | लकड़हारा | धनिरूप (?) | |

---

१ सम्भवतः टंटन (बौ० गा० दो०)

२ सम्भवतः गुंजरीपा का मैहर

| नाम | जाति | देश | समकालीन राजा या सिद्ध |
|---|---|---|---|
| ३९ भलह(भँव)पा | क्षत्रिय | धञ्जुर (देश) | |
| ४० नलिनपा | | सालिपुर | |
| ४१ भुसुकुपा | राजकुमार | नालन्दा | देवपाल (८०९-४९ ई०) |
| ४२ इन्द्रभूति | राजा | लंकापुर | अनंगवज्र (८१) और कंबलपा (३०)के शिष्य |
| ४३ मेकोपा | वणिक् | भंगलदेश[1] | |
| ४४ कुठालि (कुद्दालि)पा | | रामेश्वर | शान्तिपा (१२)के शिष्य |
| ४५ कर्मार (कम्परि)पा | लोहार | सालिपुत्र | अवधूतिके शिष्य |
| ४६ जालन्धरपा[2] | ब्राह्मण | नगर भो.......... | कण्हपा (१७) और मत्स्येंद्रके गुरु |
| ४७ राहुलपा | शूद्र | कामरूप | सरह (६)से तीसरी पीढ़ी |
| ४८ घर्वरि (घर्भरि)पा | | बोधिनगर | विरूपा (३)से चौथी पीढ़ी |
| ४९ धोकरिपा | शूद्र | सालिपुत्र | |
| ५० मेदिनीपा[3] | | लाखपुय (?) | लीलापा (२)से चौथी पीढ़ी |
| ५१ पंकजपा | ब्राह्मण | | नागार्जुन (१६)के शिष्य |

---

१ वर्तमान भागलपुर जिला। २ जालधारक। ३ सम्भवतः हालीपा भी कहते हैं।

| नाम | जाति | देश | समकालीन राजा या सिद्ध |
|---|---|---|---|
| ५२ (वज्र) घंटापा | क्षत्रिय | वारेन्द्र[1] | देवपाल (८०९-४९ ई०) |
| ५३ जोगीपा (अजोगिपा) | डोम | (उडन्तपुरी) | शबपा (५)के शिष्य |
| ५४ चेलुकपा | शूद्र | भंगलपुर | अवधूति (मैत्री)पाके शिष्य |
| ५५ गुंडरिपा (गोरुर)पा | चिड़ीमार[2] | डिसुनगर | लीलापा (२)के शिष्य |
| ५६ लुचिकपा | ब्राह्मण | भंगलदेश | |
| ५७ निर्गुणपा | शूद्र | पूर्व देश | |
| ५८ जयानन्त | ब्राह्मण | भगलपुर | |
| ५९ चर्पटी (पचरी)पा | कहार[3] | चम्पा | मीनपा (८)के गुरु |
| ६० चम्पकपा | | राजकुमार (?) | |
| ६१ भिखनपा | शूद्र | सालिपुत्र | |
| ६२ भलिपा | कृष्णघृतवणिक्[4] | सतपुरी | |
| ६३ कुमरिपा | | जोमनश्रीदेश (?) | |
| ६४ चवरि (जवरि अजपालि)पा | | | कण्हपा (१७)की तीसरी पीढ़ी |
| ६५ मणिभद्रा (योगिनी) | गृहदासी | मगध | कुकुरिपाकी शिष्या |
| ६६ मेखलापा (योगिनी) | गृहपतिकन्या | अगचेनगर | कण्हपा (१७)की शिष्या |
| ६७ कनखलापा (योगिनी) | | देवीकोट | कण्हपा (१७)की शिष्या |

१ चतुर शीतिसिद्धप्रवृत्ति (तन्जूर ८६।१)में नालन्दा लिखा है। २ व्य-प (भोटियामें)।
३ खर्-ब छोड्-व बहँगी बेचनेवाला, भार बेचनेवाला। ४ मर्-नग्-छोङ-पा, तेली।

| नाम | जाति | देश | समकालीन राजा या सिद्ध |
|---|---|---|---|
| ६८ कलकलपा | शूद्र | भिरलिरनगर (?) | |
| ६९ कंताली (कंथाली)पा | दर्जी | मणिधर (मैहर) | कण्हपा (१७) के शिष्य |
| ७० धहुलि[1] (धहुरि)पा | शूद्र | धेकरदेश (?) | |
| ७१ उधर्लि (उधरि)पा | वैश्य | देवीकोट | कर्णरिपा (१८)के शिष्य |
| ७२ कपाल (कमल)पा | शूद्र | राजपुरी | |
| ७३ किलपा | राजकुमार | प्रहर (?सहर) | |
| ७४ सागरपा | राजा | कांची | |
| ७५ सर्वभक्षपा | शूद्र | महर (सहर) | शवरी (२, छोटे सरह) और भूसुक (४१) का शिष्य |
| ७६ नागबोधिपा | ब्राह्मण | पश्चिम भारत | नागार्जुन (१६)के शिष्य |
| ७७ दारिकपा | राजा | उड़ीसा (सालिपुत्र) | लूइपा (१)के शिष्य |
| ७८ पुतुलिपा | शूद्र | भंगलदेश | |
| ७९ पनह (उपानह)पा | चमार | सन्धो नगर | |
| ८० कोकालिपा | राजकुमार | चम्पारन | |
| ८१ अनंगपा | शूद्र | गौड़ | डोम्बिपा (४) तीसरी पीढ़ी |
| ८२ लक्ष्मीकरा(योगिनी) | राजकुमारी | सम्भलनगर[2] | राजा इन्द्रभूतिकी बहन |
| ८३ समुदपा | | सर्वंडिदेश[3] | |
| ८४ भलि (व्यालि)पा | ब्राह्मण | अपत्रदेश(?) | |

१ सम्भवतः दवडोपा (चर्यागीति)। २ सम्भलपुर (विहार)। ३ सर्वार (गोरखपुर, वस्ती जिले)।

चौरासी सिद्धोंकी गणनामें यद्यपि पहला नम्बर लूइपाका है; तथापि वह चौरासी सिद्धोंका आदिम पुरुष नहीं था वह ऊपर दिये वंश-वृक्षसे मालूम होगा। यद्यपि इस वंश-वृक्षमें सिर्फ ५० से कुछ अधिक सिद्ध आये हैं; तथापि छूटे हुओंमें सरहके वंशसे पृथक्का कोई नहीं मालूम होता; इसलिये सरह ही चौरासी सिद्धोंके प्रथम पुरुष हैं। चौरासी सिद्धोंमें सरह, शवर, लूइ, दारिक, वज्रघण्टा (या घण्टा) जालंधर, कण्हपा और शान्तिका खास स्थान है। वज्रयानके इतने भारी प्रचार और प्रभावका अधिकांश श्रेय इन्हींको है। डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्यने[1] सरहका समय ६३३ ई० निश्चित किया है। भोटिया-ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि, (१)[2] बुद्धज्ञान जो सरहके सहपाठी और शिष्य थे, दर्शनमें हरिभद्रके भी शिष्य थे। हरिभद्र शान्तरक्षितके शिष्य थे, जिनका देहान्त ८४० ई० के करीब तिब्बतमें हुआ था। (२) वहींसे यह भी मालूम होता है कि बुद्धज्ञान और हरिभद्र महाराज धर्मपाल[3] (७६९–८०९)के समकालीन[4] थे। (३) सरहके शिष्य शबरपा लूइपाके गुरु थे। लूइपा महाराज धर्मपालके[5] कायस्थ (=लेखक) थे।

शान्तरक्षितका जन्म ७४० के करीब, विक्रमशिलाके पास. सहोर[6]-राजवंशमें हुआ। फलतः हम सरहपाको महाराज धर्मपाल (७६९–८०९) का समकालीन मान लें, तो सभी बातें ठीक हो जाती हैं। इस प्रकार चौरासी सिद्धोंका आरम्भ हम आठवीं शताब्दीके अन्त (८००ई०) मान सकते हैं। अन्तिम सिद्ध कालपाद (२७) चेलूकपा (५४) के शिष्य थे। एक छोटे कालपाद भी हुए हैं, यदि यह वह नहीं हैं, तो इन्हींको चौरासी सिद्धोंमें लिया जा सकता है। चेलुकपा अवधूतिपा या मैत्रीपाके शिष्य थे। यह वही मैत्रीपा हैं, जो दीपंकर श्रीज्ञानके विद्यागुरु

१ विहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीका जर्नल, खण्ड १४, भाग ३, पृष्ठ ३४९।

२ स-स्क्य ब्कं-ऽबुम् फ्, पृष्ठ २१२ खं—२१७ क।

३ अध्यापक दिनेशचन्द्र मतानुसार ७४४-८०० ई०।

४ स-स्क्य ब्कं-ऽबुम् फ्, पृष्ठ २१२ ख।

५ स-स्क्य-ब्कं-ऽबुम् फ्- पृष्ठ २४३ क।

६ वर्तमान सबोर पर्गना (भागलपुर)।

थे और ग्यारहवीं शताब्दीके आरम्भमें वर्त्तमान थे। इस प्रकार अन्तिम सिद्धका समय ग्यारहवीं शताब्दीके अन्तसे पूर्व होगा। अतएव चौरासी सिद्धोंका युग—७५०–११७५ ई० मानना ठीक जान पड़ता है। इसी समय सिद्धोंकी चौरासी संख्या पूरी हो गयी थी।[1]

उक्त समयमें ही चौरासी संख्या पूरी हो जानेका एक और प्रमाण मिलता है। बारहवीं शताब्दीके अन्तमें मित्रयोगी या जगन्मित्रानन्द एक बड़े सिद्ध हो

---

१ वज्रयानकी ऐतिहासिक खोज भोटिया-(तिब्बती) साहित्यकी सहायताके बिना अपूर्ण रहेगी; किन्तु, भोटिया-साहित्यका उपयोग करनेमें कुछ बातोंका ध्यान रखना जरूरी है; नहीं तो, भारी गलती होनेका डर है। पहली बात तो यह है कि, इस प्रकारकी सामग्रीमें पद्मसंभवसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाएँ बहुत ही भ्रमपूर्ण हैं। भोटके निग्-मा-पा सम्प्रदायने भोटमें एक अलौकिक बुद्ध खड़ा करनेके खयालसे इस अद्भुतकर्मा पुरुषकी सृष्टि की। ज्यादा से-ज्यादा इसकी ऐतिहासिकताके बारेमें इतना ही कह सकते हैं कि, शान्तरक्षितकी मण्डलीके भिक्षुओंमें पद्मसंभव नामका एक साधारण भिक्षु भी था। जैसे महायानने पाली-सूत्रोंके अल्प प्रसिद्ध सुभूतिको सारी प्रज्ञापारमिताओंका उपदेष्टा बनाकर सारिपुत्र और मौद्गल्यायनसे भी अधिक महत्त्वशाली बना डाला, वैसे ही निग्-मा-पाने पद्मसंभवके लिये किया। दूसरी बात ध्यान देनेकी यह है कि, भोटमें भारतीय बौद्धधर्मके इतिहासकी सामग्री दो प्रकारकी है। एक तो उस समयकी, जब कि, भारतमें बौद्धधर्म जीवित था और उस समय भारतीय विद्वान् तिब्बतमें धर्म-प्रचारार्थ तथा तिब्बतीय विद्यार्थी भारतमें अध्ययनार्थ आया-जाया करते थे। दूसरी वह, जब कि, भारतसे बौद्धधर्म नष्ट हो चुका था और तिब्बतीय ग्रन्थकार नेपाल या भारतमें आकर, अथवा भोटमें यहाँके आदमियोंको पाकर, सुन-सुनाकर लिखते गये। इन दो प्रकारकी सामग्रियोंमें प्रथम प्रकारकी सामग्री ही अधिक प्रामाणिक है। इस सामग्रीके संग्रह करनेके समयको तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है—

(१) सम्राट् ठि-स्रोङ-ल्दे-ब्चन्से सम्राट् रल्-पा-चन् तक (७१९—९०० ई०)।

गये हैं। इनकी २० के करीब पुस्तकें भोटिया-भाषामें अनूदित हुई हैं, जिसमें "पदरत्नमाला" तथा "योगीस्वचित्त-ग्रंथकोषदेश" हिन्दी कविताएँ मालूम होती हैं। इन्हींके ग्रन्थोंमें "चन्द्रराज-लेख" भी है। इनके दुभाषियोंमें थे, ग्नुब्-निवासी छुल्-ख्रिम्स् और ख्रो-फु-निवासी ब्यम्स्-पई-पल्। ख्रो-फू-ब्यम्स्-पई-पल्की प्रार्थनापर यह ११९७ ई० में नेपालसे तिब्बत गये[1] और वहाँ अठारह मास रहे। यह ख्रो-फु-लोचवा (=दुभाषिया) वही है, जो विक्रमशिला-विहारके महम्मद-बिन्-बख्तियार द्वारा नष्ट किये जानेपर वहाँके पीठ-स्थविर शाक्य-श्रीभद्रको ११९९ में भोट ले गया। मित्रयोगीसे तिब्बतमें प्रसिद्ध थे। इनके "चन्द्रराज-लेख"से मालूम होता है कि, वह किसी राजाके लिये लिखा गया है; और, यह भी अनुमान हो रहा था, वह बारहवीं शताब्दीके अन्तमें उत्तरप्रदेश

---

**(२) अतिशा और उनके अनुयायियोंका समय (१०४२-१११७ ई०)।**

**(३) स-स्क्य-विहारकी प्रधानता और बु-स्तोन्का समय (११४१-१३६४ ई०)।**

बस्तोन्के बाद भारतसे बौद्धधर्म नष्ट हो जानेके कारण, फिर भोटको सजीव बौद्ध भारतसे सम्बन्ध जोड़नेका अवसर नहीं मिला। प्रथम कालमें ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम मिलती है, जो मिलती भी है, उसे निग्-मा-पा (प्राचीनपंथी) सम्प्रदायने इतना गड़बड़ कर दिया है कि, उसका उपयोग बहुत ही सावधानीसे करना पड़ेगा। दूसरे कालमें डोम्-तोन् आदि रचित दीपंकरकी जीवनी एवं कई और ऐतिहासिक ग्रन्थ बड़े कामके हैं। तृतीय कालकी सामग्री बहुत ही प्रामाणिक तथा प्रचुर प्रमाणमें मिलती है। इसके मुख्य ग्रन्थ हैं स-स्क्यविहारके पाँच प्रधान महन्त-राजाओंकी कृतियाँ '(स-स्क्य-ब्कं-बुम्) और बु-स्तोन् (१२९०–१३८४ ई०) तथा उनके शिष्योंकी ग्रन्थमाला (बु-स्तोन्-यब-स्रस्-ग्सुं-बुम्)। डुक्-पा-पद्मा-दकर्-पो (जन्म १५२६ ई०), लामा तारनाथ (जन्म १५७४ ई०) तथा वैसे ही दूसरे कितने ही लेखकोंकी कृतियाँ कुछ तो भोटकी पुरानी सामग्रीपर अवलम्बित हैं और कुछ सुनी-सुनाई बातोंपर। इसलिये इनका उपयोग करते वक्त बहुत सावधानीकी अवश्यकता है।

१ जर्नल एसियाटिक सोसाइटी (बंगाल) १८८९, जिल्द ५८, पृष्ठ१।

या बिहारका कोई राजा रहा होगा। अब अनुमानकी जरूरत ही नहीं है। इसी समयके बोधगयाके एक शिलालेखमें[1] इनका और गहड़वार राजा जयचन्द (११७१-९४ ई०)का जिक्र इन शब्दोंमें आया है—

"अस्ति त्रिलोकी सुकृतप्रसूतः संत्रातुमामन्त्रितसर्वभूतः।
सम्बुद्धसिद्धान्वयधुर्य्य भूतः[2] श्रीमित्रनामा परमावधूतः ॥४॥

हिंस्राः हिंसामशेषाः क्रुधमधिकरुषस्त्रस्नवस्त्रासमाशु
व्याधूयोदस्तहस्तप्रणयपरतया विश्वविश्वासभूमेः।
चेतः संप्रीयमाणं मधुरतरदृशा श्लेषपीयूषपातै-
स्तिर्यञ्चःसूचयन्ति च्युतमलपटलं यस्य मैत्रीषु चित्तम्। ॥५॥

उदितसकल भूमीमण्डलैश्वर्य-सिद्धिः
स्वयमपिकिमपीच्छन्नच्छधैर्यस्य शिष्यः।
अभवदभयभाजः श्रद्धया बन्धुरात्मा
नृपशतकृतसेवः श्रीजयच्चन्द्रदेवः ॥(१०)

श्रीमन्महाबोधिपदस्य शास्त्रग्रामादिकं मग्नमशेषमेव।
काशीशदीक्षागुरुरुद्दधार यः शासनं शासनकर्णधारः ॥(१२)
सत्राणि तिसृणां चासामंगणेषु निरंगणः।
सोऽयं श्रीमज्जगन्मित्रः शाश्वतीकृत्य कृत्स्नवित् ॥(१४)

...वेदनयनेन्दु-निष्ठया संख्ययांकपरिपाटिलक्षिते।
विक्रमांकनरनाथवत्सरे ज्येष्ठमासि युगपद् व्यदीधपत् ॥"(१५)

इसमें मित्र और जगन्मित्र, दोनों ही नाम आये हैं। काशीश्वर जयच्चन्द्र-देवका उन्हें दीक्षा-गुरु कहा है और साथ ही बुद्धधर्म (=शासन) का कर्णधार

---

१ इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता; मार्च १९२९, पृष्ठ १४-३०)। लेख संवत् १२३१ (सन् ११७४ ई०) का है।

२ जगन्मित्रानंदको सिद्धोंके वंशका धुरंधर कहा गया है।

भी। सिद्धोंके सारे गुण इनमें थे; तो भी इनका नाम चौरासी सिद्धोंमें न आना बतलाता है कि, इनके पहले ही चौरासी संख्या पूरी हो चुकी थी।[1]

---

१ (१) बौद्धधर्ममें अन्त तकका विचार-विकास। (२) बौद्धधर्मके भारतसे लोपका कारण। (३) भारतमें, आम तौरसे, विहारमें विशेष तौरसे तथा गया जिलेमें बहुत ही अधिकतासे जो बौद्ध-मूर्तियाँ मिलती हैं, उनका परिचय तथा बौद्धमूर्ति-विद्या। (४) नाथपंथ, कबीर, नानक आदि संतमत संबंधी विचारके स्रोतका मूल। (५) कौलधर्म, वाममार्ग, भैरवी आदिके विकास का इतिहास। (६) भारतमें हठयोग, स्वरोदय, त्राटक (Hypnotism), भूतावेश (Spiritualism) का क्रम विकास (७) १२ वीं शताब्दीमें भारतीयों-की राजनीतिक पराजयका कारण। (८) पालवंशका इतिहास (विशेष तौरसे) गहडवार आदि कितने ही राजवंशोंका इतिहास (आंशिक तौरसे)। (९) हिन्दी-भाषाके आदि कवि और उनकी कविता।

—यह और कितने ही और भी विषय हैं, जिनके लिये वज्रयानके इतिहास-का अध्ययन बहुत ही महत्वपूर्ण है।

# १०. हिन्दी (अपभ्रंश) के प्राचीनतम कवि और कविताएँ

## सिद्धयुग (७५०-१२०० ई०)

सिद्ध लोगोंने उस समय लोकभाषामें कविता शुरू की, जिस समय शताब्दियों-से भारतके सभी धर्मवाले किसी-न-किसी मुर्दा भाषा द्वारा अपने धर्मका प्रचार कर रहे थे, और इसी कारण उनके धर्मके जाननेवाले बहुत थोड़े हुआ करते थे। सिद्धोंके ऐसा करनेके कारण थे—वह धर्म, आचार, दर्शन आदि सभी विषयों-में एक क्रान्तिकारी विचार रखते थे। वह सभी अच्छी-बुरी रूढ़ियोंको उखाड़ फेंकना चाहते थे; यद्यपि जहाँतक मिथ्या-विश्वासका सम्बन्ध था, उसमें वह कई गुनी वृद्धि करनेवाले थे। अपने वज्रयानकी जनतापर विजय पानेके लिये उन्होंने भाषाकी कविताका सहारा लिया। आदिसिद्ध सरहपादसे ही हम देखते हैं कि, सिद्ध बननेकेलिये भाषा (अपभ्रंश)का कवि होना आवश्यक बात थी। सिद्धोंने भाषामें कविता करके यद्यपि अपने विचारोंको जनताके समझने लायक बना दिया; तथापि डर था कि, विरोधी उनके आचार-विरोधी कर्म-कलापका खुलेआम विरोधकर कहीं जनतामें घृणाका भाव न पैदा कर दें; इसीलिये वह एक तो विशेष-योग्यता-प्राप्त व्यक्तियोंको ही उन्हें सुननेका अवसर देते थे, दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे, जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार, दोनोंमें लग जाये। इस भाषाको पुराने लोगोंने "सन्ध्याभाषा" कहा है; और, आजकल उसे "निर्गुण," "रहस्यवाद," या "छायावाद" कह सकते हैं। गुप्त रक्खे जानेके ही कारण हमें "प्राकृत-पैंगल" जैसे ग्रन्थोंमें इन काव्योंका कोई उद्धरण नहीं मिलता।

चौरासी सिद्धोंका काल ७५०-११७५ ई० है; किन्तु सिद्ध उसके बाद भी होते रहे हैं; इसलिये सिद्धकाल उससे बादतक भी रहा है; तोभी भाषाके खयालसे हम उसे महाराज जयचन्द्रके गुरु मित्रयोगी (१२००)के साथ समाप्त

करते हैं। रामानन्द, कबीर (जन्म १३९९ ई०, मृ० १४४८); नानक (जन्म १४६८ ई०), दादू (जन्म १५४४ ई०) आदिसे राधा-स्वामी दयालतक सभी सन्त इन्हीं चौरासी सिद्धोंकी टकसालके सिक्के थे। रामानन्दकी कविताएँ दुर्लभ हैं। उन्होंने तथा उनके शिष्य कबीरने चौदहवीं शताब्दीके अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दीके आरम्भमें अपनी कविताएँ कीं। यदि बारहवीं शताब्दीके अन्तसे चौदहवीं शताब्दीके अन्तका कविता-प्रवाह जोड़ा जा सके, तो सिद्ध और सन्त-कविता-प्रवाहके एक होनेमें आपत्ति नहीं हो सकती। यह जोड़नेवाली शृंखला नाथपन्थकी कविताएँ हैं। हम कबीर-सम्बन्धी कहावतोंमें गोरखनाथ और कबीरका विवाद अकसर सुनते हैं। महाराज देवपाल (८०९-८४९ ई०)के समकालीन सिद्ध गोरखनाथ पन्द्रहवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें कबीरसे विवाद करने नहीं आ सकते। वस्तुतः वहाँ हमें गोरखनाथकी जगह उनके नाथपन्थको लेना चाहिये।

मुसलमानोंके प्रहार और अपनी भीतरी निर्बलताओंके कारण बौद्धधर्म विलीन होने लगा। उससे शिक्षा ग्रहण कर आत्मरक्षार्थ नाथपन्थ धीरे-धीरे अनीश्वरवादीसे ईश्वरवादी हो गया। कबीरके समय वही एक ऐसा पन्थ था, जिसकी वाणियों और सत्संगोंका प्रचार सर्वसाधारणमें अधिक था। जिस प्रकार बड़ोदा, इन्दौर, कोल्हापुर तथा कुछ पहले झाँसी और तंजोरतक फैले छोटे-छोटे मराठा-राज्य एक भूतपूर्व विशाल मराठा-साम्राज्यका साक्ष्य देते हैं, उसी प्रकार आज भी काबुल, पंजाब, उत्तरप्रदेश ,बिहार, बंगाल और महाराष्ट्रतक फैली नाथपन्थकी गद्दियाँ नाथपन्थके विशाल विस्तारको बतलाती हैं। यह विस्तार वस्तुतः उन्हें अपने चौरासी सिद्धोंसे पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिला था। नाथपन्थके परिवर्तनके साथ शेष बौद्ध ब्राह्मण-धर्ममें लौटे।

"नाथपन्थ" चौरासी सिद्धोंसे ही निकला है। इसके लिये यहाँ कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा—विशेषतः जब कि, बारहवींसे चौदहवीं शताब्दीतककी हिन्दी-कविताओंके लिए हमें अधिकतर नाथ-घरानेकी ओर ही नजर दौड़ानी पड़ती है। "गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह"में[१] "चतुरशीतिसिद्ध" शब्दके साथ निम्न

---

१ "गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह", सरस्वतीभवन-टेक्स्ट-सीरीज, बनारस—
"नागार्जुनो जडभरतो हरिश्चन्द्रस्तृतीयकः।

सिद्धोंका नाम मार्ग-प्रवर्तकके तौरपर लिखा गया है—नागार्जुन (१६), गोरक्ष (९), चर्पट (५९), कन्थाधारी (६९), जालन्धर (४६), आदिनाथ =जालन्धरपा, सि०४६), चर्या (कण्हपा) (१७) ।[1] इससे चौरासी सिद्धों और नाथपन्थके सम्बन्धमें सन्देहकी कोई गुंजायश नहीं रह जाती। विचारोंमें यद्यपि अब नाथपन्थ अनीश्वरवाद छोड़कर ईश्वरवादी हो गया है; तथापि अब भी उसकी वाणियोंमें छान-बीन करनेपर निर्वाण, शून्यवाद और वज्रयानका बीज मिलेगा। नाथपन्थी महाराष्ट्रीय ज्ञानेश्वरने अपनी परम्परा इस प्रकार दी है—

आदिनाथ,
मत्स्येन्द्रनाथ,
गोरखनाथ,
गहनीनाथ,
निवृत्तिनाथ,
ज्ञानेश्वर।

---

सत्यनाथो भीमनाथो गोरक्षश्चर्पटस्तथा ॥
अवद्यश्चैव वैराग्यः कन्थाधारी जलन्धरः।
मार्गप्रवर्त्तका ह्येते तद्वच्च मलयार्जुनः ॥" (पृष्ठ १९)।

"एवं श्रीगुवरादिनाथः। मत्स्येन्द्रनाथः। तत्पुत्र उदयनाथः। दण्डनाथः, सत्यनाथः, सन्तोषनाथः, कूर्मनाथः, भवनाजिः। तस्य श्रीगोरक्षनाथ :.......॥" (पृष्ठ ४०)।

"चत्वारो युगनाथास्तु लोकानामभिगुप्तये।
मित्रोशोड्डीश षष्ठीशचर्याख्याः।......" (पृष्ठ ४३)।
"चतुरशीतिसिद्धानां पूर्वादीनां दिशां न्यसेत्।...।
नवनाथस्थितिं चैव सिद्धागमेन कारयेत्।
गोरक्षनाथो वसेत् पूर्वे...जलन्धरो वसेन्नित्यमुत्तरापथमाश्रितः।...
नागार्जुनो महानाथो....।" (पृष्ठ ४४)।

१ कण्हपाको भोटियामें स्प्योद्-पा-पा (चो-पा-पा=चर्यापा) भी कहते हैं। (स-स्क्य-क-बुम्, ज ३४९ क)।

इनमें आदिनाथ जालन्धरपा ही हैं, जैसा कि, जालन्धरपादके ग्रन्थ "विमुक्त-मञ्जरी"[१]के भोटिया-अनुवादसे मालूम होता है। इस परम्परामें बीचके पुरुषोंको छोड़ दिया गया है; क्योंकि गोरखनाथ (९वीं शताब्दी) और ज्ञानेश्वर (१४वीं शताब्दी)के बीचमें सिर्फ दो ही पीढ़ियाँ नहीं हो सकतीं। मैंने अन्यत्र सरहके वंश-वृक्षमें चर्पटीसे शान्तिगुप्ततकका भाग, १६वीं शताब्दीके भोटिया-ग्रन्थ "रत्नाकर जोपमकथा"से[२] दिया है (इस ग्रन्थके आरम्भका एक पृष्ठ तथा अन्तके भी कितनेही पृष्ठ गायब हैं)। वज्रयानके सम्बन्धमें भोटिया-भाषामें जो सामग्री उपलभ्य है, वह बहुतही प्रचुर परिमाणमें है; और, उसका अधिकांश शताब्दियोंके हेर-फेरसे बचा रहनेसे बहुत प्रामाणिक है। इसीलिये गोरखनाथ मत्स्येंद्रनाथके काल-निर्णयमें उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भोटिया-ग्रन्थोंकी बातोंकी पुष्टि, कभी-कभी बड़े विचित्र रूपसे होती देखी जाती है। उक्त "रत्नाकरजोपमकथा" ग्रन्थमें लिखा है—

"मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ, ये दोनों भारतकी पूर्व दिशावाले कामरूप (देश)के मछुवे थे......(वहाँ) लौहित्य-नदी है, जिसे आजकल भोटमें 'चङ-पो' कहते हैं।....(मत्स्येन्द्र) मछलीके पेटमें १२ वर्ष रहे। फिर आचार्य चर्पटीके पास गये।....दोनों ही सिद्ध हो गये।....बाप (हुआ) सिद्ध मीनपा और बेटा सिद्ध मछिन्द्रपा।"

'तन्त्रालोक'की टीकामें इसकी पुष्टि हमें इस श्लोकसे मिलती है—

"भैरव्या भैरवात् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने।
कामरूपे महापीठे मच्छेन्द्रेण महात्मना।"[३]

'नाथपन्थ'के चौरासी सिद्धोंका उत्तराधिकारी सिद्धहो जानेपर फिर कबीर-

---

१ देखिये Cordier का *Catalogue du fonds Tibetain, troisieme partie*, पृष्ठ ११२, *Vol. LXXIII 49.*

२ रिन्-पो-छेइ-ऽब्यगुङ स्तुङस्-ल्त-बु-गतम्।

३ (त्रिवेन्द्रम्-संस्कृत-सीरीज़, पृष्ठ २४, २५, *Indian Historical Quarterly, March 1930* में उद्धृत)

से सम्बन्ध जोड़नेमें दिक्कत नहीं रहती। कबीर स्वयं चौरासी सिद्धोंको भूले न थे, तभी तो उन्होंने कहा है—

**"धरती अरु असमान बिच, दोई तूंबडा अबध।**
**षट दर्शन संसे पड़्या, अरु चौरासी सिध॥"[१]**

यहाँ चौरासी सिद्धोंसे विरोध प्रकट करनेसे कबीर उनकी टकसालके न थे—ऐसा समझनेकी आवश्यकता नहीं। वस्तुतः रामानन्द, कबीरने सिद्धोंके ही निर्गुण, योग और विचित्र ढंगको अपनाकर नाथवंशके राज्यपर धावा किया[२] और शताब्दियोंके संघर्षके बाद वह विजयी हुए। यदि आप भक्तमालके भक्तोंके व्यवसाय, कुल, रहन-सहनको चौरासी सिद्धोंसे मिलावें, तो यह विचार-सादृश्य भली भाँति प्रकट हो जायगा।

सिद्धोंकी कविताकी भाषा आठवींसे बारहवीं शताब्दीकी अपभ्रंश है; इसीलिये उसका आपसमें भी भेद होना स्वाभाविक है। फिर नवीं शताब्दीके कण्हपाकी २०वीं शताब्दीकी भाषासे कितना फर्क होगा, इसके लिए तो कहना ही क्या! आखिरी सिद्धके १०० वर्ष बाद, सन् १३०० ई० में, राणा हम्मीर सिंह चित्तौड़की गद्दीपर बैठे। हिन्दुओंकी कुछ परम्परागत कमजोरियोंको छोड़कर वह एक आदर्श क्षत्रिय वीर थे। उनके सम्बन्धकी कुछ कविताएँ "प्राकृत-पैङ्गल"में उद्धृत हैं (इसका कवि सम्भवतः "जज्जल" था, जो कि, हम्मीरका सेनापति भी था)।

**"पअ[३] भरु दर भरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ।**
**कमठ पिट्ठ टरपरिअ[४] मेरु मंदर सिर-कंपिअ॥**
**कोह चलिअ हम्मीर वीर गअ-जूह[५] सँजुत्ते।**
**किअउ कट्ठ आकंद[६] मुच्छि [७]म्लेच्छहके पुत्ते॥९२॥**

---

**१ कबीरग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ५४**

**२ चंदनकी कुटकी भली, नाँ बबूर अमराँऊ।**
**बैंश्नौंकी छपरी भली, नाँ साषतका बड़गाँव॥**
**(कबीर ग्रं०, पृ० ५२)। यहाँ "साषत" या शाक्तसे मतलब जिस सम्प्रदायसे था, उसमें नाथपन्थ उस समय प्रमुख था।**

**३ पद। ४ डगमगाये। ५ गजयूथ। ६ आक्रंदन। ७ म्लेच्छोंके।**

"पिधउ[1] दिढ़ सण्णाह[2] बाह-उप्पर पक्खर[3] दइ।
बन्धु समदि[4] रण धसउ सामि हम्मीर वअण[5] लइ।
उड्डल णह-पह[6] भमउ[7] खग्ग[8] रिउ[9] सीसहि डारउ।
पक्खर[10] पक्खर ठेल्लि पेल्लि पब्बअ[11] उप्फालउ[12]॥
हम्मीर कज्जु जजल्ल भणइ कोहाणल[13] मुह मह जलउ।
सुलतान सीस करवाल दइ, तेज्जि कलेवर दिअ[14] चलेउ॥१०७॥[15]

इसके पहलेकी एक कविता लीजिये, जो सम्भवतः काशिराज जयचन्द के लिए लिखी गई मालूम होती है[16]—

"जे किज्जिअ-धाला[17] जिण्णु णिवाला[18]
भोट्टन्ता[19] पिट्टंत[20] चले।
भंजाविअ[21] चीणा दप्पहि[22] हीणा।
लोहाबल हाकंद[23] पले।
ओड्डा[24] उड्डाविअ[25] कित्ती[26] पाविअ[27]
मोलिअ[28] मालव[29] राअ बले।
तेलंगा भग्गिअ पुणवि ण[30] लग्गिअ,
कासीराआ[31] जखण[32] चले॥" (पृ० १९८)

तेरहवीं शताब्दीके मध्यमें लिखे गये एक भोटियाग्रन्थमें[33] उद्धृत कुछ हिन्दी-

१ पैन्ह्यो, पहना। २ कवच। ३ कवच। ४ समक्षकर। ५ वचन। ६ नभपथ। ७ भ्रमयो, घुमा। ८ खड्ग। ९ रिपु। १० पकड़। ११ पर्वत। १२ उपारा, उखाड़ा। १३ क्रोधानल। १४ दिव, स्वर्ग। १५ "प्राकृत-पैङ्गल", बंगाल ए० एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित (पृष्ठ १८०)। १६ "प्राकृत-पैङ्गल", पृष्ठ ३१८। १७ वर्गबद्ध। १८ जीता। १९ नेपालको। २० तिब्बत। २१ भग्न किया। २२ दर्पमें। २३ आक्रन्दन, रोना-पीटना। २४ उड़ीसावासी। २५ उड़ा दिया, उजाड़ दिया। २६ कीर्त्ति। २७ पाया। २८ परास्त किया। २९ मालव राजकी सेनाको। ३० पुनरपि न, फिर नहीं। ३१ काशिराज। ३२ जिस समय।

३३ स-स्क्य-ब्कं-बुम्, प, पृष्ठ २८४ ख; फग्स्-पा (१२३३-१२७९ ई०) विरचित।

शब्दोंको देखिये—इन्द (इन्द्र), जम (यम), जक्ख (यक्ष), बाउ (वायु), रक्ख (रक्ष), चन्द (चन्द्र), सुज्ज (सूर्य), माइ (माता), बप्प (बाप)।

इन उदाहरणोंसे समझमें आ जायगा कि, हिन्दीकी आदिम कविताकी भाषाका आजकलकी भाषासे काफी भेद होना स्वाभाविक है।

जिन कवियोंकी कविताओंको मैं यहाँ प्राचीनतम हिन्दी (अपभ्रंश) की कविता कहकर उद्धृत करने जा रहा हूँ, उन्हें बँगालके दिग्गज ऐतिहासिक बँगला की कविता कहते हैं। इसके बारेमें इसी पुस्तकमें मुद्रित दूसरे लेख(९)में आ गया है और यहाँ भी जो कवियोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, वह काफी उत्तर है। सर्व-पुरातन सिद्ध सरहपाद नालन्दासे सम्बन्ध रखते थे; इसलिये उनकी भाषाको मगही होनी चाहिये। अन्य सिद्धोंने भी इसी भाषाको कविताकी भाषा बनाया। चौरासी सिद्ध नालन्दा और विक्रमशिलासे सम्बन्ध रखते थे। जबतक नालन्दा, विक्रमशिलाको बँगाल[1] में नहीं ले जाया जाता, तबतक सिद्धोंकी भाषाभी बँगला नहीं हो सकती। रही भाषाकी समानताकी बात; वह तो मगही और मैथिलीसे और अधिक है। वस्तुतः अतीत कालके भीतर हम जितना ही अधिक घुसते जायँगे समानता उतनी ही अधिक बढ़ती जायेगी; क्योंकि, मगही, ओड़िया, बँगला, आसामी, मैथिली—सभी मागधीकी सन्तानें हैं।

अपभ्रंशके कवियोंके संग्रह "हिन्दी काव्यधारा" के देखनेसे मालूम होगा, कि एक ही भाषाको मुल्तान, मान्यखेट, कान्यकुब्ज, नालंदाके कवि इस्तेमाल करते थे। यह भाषा तत्कालीन कनौजी या मध्यदेशीय थी।

१. **सरहपा (सिद्ध ६)**—इनके दूसरे नाम राहुलभद्र और सरोजवज्र भी हैं। पूर्व दिशामें राज्ञी (?) नामक नगरमें एक ब्राह्मण-वंशमें इनका जन्म हुआ था। भिक्षु होकर यह एक अच्छे पण्डित हुए। नालन्दामें कितने ही वर्षों-

---

१ "*Thus the time of the earliest Doha in Bengali goes back to the middle of the seventh century when Saraha flourished and Bengal may be justly proud of the antiquity of her literature.*" Dr. B. Bhattacharya, (*J. B. O. R. S. LXXXLI*, I, p. 247).

तक इन्होंने वास किया। पीछे इनका ध्यान मन्त्र-तन्त्रकी ओर आकृष्ट हुआ और एक वाण (शर = सर) बनानेवालेकी कन्याको महामुद्रा[1] बनाकर किसी अरण्यमें वास करने लगे। वहाँ यह भी शर (वाण) बनाया करते थे; इसीलिए इनका नाम सरह पड़ गया। श्रीपर्वत[2] में भी यह बहुधा रहा करते थे। सम्भव है, इनकी मन्त्रोंकी ओर प्रथम प्रवृत्ति वहीं हुई हो। शबरपाद (५) इनके प्रधान शिष्य थे। कोई तान्त्रिक नागार्जुन भी इनके शिष्य थे। भोटिया तन्-जूरमें इनके ३२ ग्रन्थोंका अनुवाद मिलता है, जो सभी वज्रयानपर हैं। इनमें एक "बुद्धकपाल-तन्त्र" की पञ्जिका "ज्ञानवती" भी है। इनके निम्न काव्य-ग्रंथ अपभ्रंश[3]से भोटियामें अनुवादित हुए हैं—

१. क,ख दोहा (त०[4] ४७।७)।
२. क-ख दोहा-टिप्पण (त० ४७।८)।
३. कायकोष-अमृतवज्रगीति (त० ४७।९)।
४. चित्तकोष-अजवज्रगीति (त० १७।११)।
५. डाकिनी-वज्र-गुह्यगीति (त० ४८।१०६)।
६. दोहा-कोष-उपदेश-गीति (त० ४७।५)।
७. दोहाकोषगीति (त० ४६।९)।
८. दोहाकोषगीति। तत्त्वोपदेशशिखर—, (त० ४७।१७)।
९. दोहा-कोष-गीतिका। भावनादृष्टि-चर्याफल—, (त० ४८।५)।
१०. दोहाकोष। वसन्ततिलक—, (त० ४८।११)।
११. दोहाकोष-चर्यागीति। (त० ४७।४)।
१२. दोहाकोष-महामुद्रोपदेश। (त० ४७।१३)।

---

१ वज्रयानीय योगकी सहचरी योगिनी अथवा हेप्नाटिज्मका माध्यम।

२ नहल्लल-बड्ड (नागार्जुनीकोंडा, जिला गुंटूर)।

३ ११वीं का मूल और बाकीका हिन्दी अनुवाद तिब्बतीके साथ मैंने "सरहपा-के दोहाकोश"के नामसे संपादित किया है।

४ त-से मतलब तन्जूरके तन्त्र-खण्डसे है। विशेषके लिए देखिये Cordier का *Catalogue du fonde Tibetain*; द्वितीय और तृतीय खण्ड।

१३. द्वादशोपदेश-गाथा (त० ४७।१५)।
१४. महामुद्रोपदेशवज्रगुह्यगीति। (त० ४८।१००)।
१५. वाक्-कोषरुचिरस्वरवज्रगीति। (त० ४७।१०)।
१६. सरहगीतिका (त० ४८।१४, १५)।

इनकी कुछ कविताओंका नमूना लीजिए—

[1]"जह मन पवन न सञ्चरइ, रवि शशि नाह पवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥"
"पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ
देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ"
"अमणागमण ण तेन विखण्डिअ।
तोवि णिलज्ज भणइ हउं पण्डिअ"
"जो भवु सो निवा[?ब्वाण] खलु,
भेवु न मण्णहु पण्ण।"
"एकसभावे विरहिअ, णिम्मलमइ पडिवण्ण॥"
"घोरे न्धारें चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करेइ।
परममहासुह एखुकणे, दुरिअ अशेष हरेइ॥"
"जीवतन्ह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु उपएसें विमलमइ, सो पर धण्णा कोइ॥"
इनके कुछ गीति-पद्य—

राग देशाख (३२)

"नाद न विन्दु न रवि न शशि-मण्डल॥
चिअराअ सहावे मूकल॥ध्रु०॥
उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक।
निअहि बोहिमा जाहु रे लांक॥ध्रु०॥
हाथेरे काङ्काण मा लोउ दापण।
अपणे अपा बुझतु निअ-मण॥ध्रु०॥

१ "दोहाकोष चर्यागीति", देखो मेरा "सरहपाके दोहाकोश"।

पार उआरे सोइ गजिइ।
दुज्जण सांगे अवसरि जाइ॥ध्रु०॥
वाम दाहिण जो खाल विखला।
सरह भणइ बपा उजुवाट भाइला॥ध्रु०॥"[1]

राग भैरवी (३८)

'काअ णावड़ि खण्टि मण केडुआल।
सद्गुरु वअणे धर पतवाल ॥ध्रु०॥
चीअ थिर करि धहुरे नाही।
अन उपाये पार ण जाई ॥ध्रु०॥
नौवाही नौका टागुअ गुणे।
मेलि मेल सहजें जाउ ण आणें ॥ध्रु०॥
वाट अभअ खाण्टबि बलआ।
भव उलोलें वअबि बोलिआ॥ध्रु०॥
कुल लइ खरे सोन्ते उजाअ।
सरह[2] भणइ गणें पमाएँ॥ध्रु०॥ ॥३८॥

---

१ "बौद्धगान-उ-दोहा" "चर्याचर्यविनिश्चय" ("चर्या-गीति" नाम है)। पाठ बहुत अशुद्ध है। यहाँ कहीं मात्राके ह्रस्व-दीर्घ करनेसे, कहीं संयुक्त वर्णोंके घटाने-बढ़ानेसे तथा कहीं एकाध अक्षर जोड़ देनेसे छन्दो-भंग दूर हो जायगा। जैसे पहली पंक्तिमें "रवि न शशि"के स्थानपर रवि-शशि; "चिअ-राअ"पर स्थानपर "चोअ-राअ"; "कान्काण"के स्थानपर कंकण; "आपा"के स्थान पर अप्पा।

२ सरहपाद संस्कृतके भी कवि थे।
"या सा संसारचक्रं विरचयति मनःसन्नियोगात्महेतोः,
सा धीर्यस्य प्रसादाद्दिशति निजभुवं स्वामिनो निष्प्रपञ्च(म्)।
तच्च प्रत्यात्मवेद्यं समुदयति सुखं कल्पनाजालमुक्तम्,
कुर्यात् तस्याङ्घ्रियुग्मं शिरसि सविनयं सद्गुरोः सर्वकाल (म्)॥"
("चर्याचर्यविनिश्चय," पृष्ठ ३)

२. शबरपा (सिद्ध ५)—यह सरहपादके शिष्य थे। गौडेश्वर महाराज धर्मपाल (७६९–८०९ ई०)के कायस्थ (लेखक) लूइपा इन्हींके शिष्य थे। नागार्जुनको भी इनका गुरु कहा गया है, जो शून्यवादके आचार्य नागार्जुन नहीं हो सकते। यह अक्सर श्रीपर्वतमें भी रहा करते थे। जान पड़ता है, शबरों या कोल-भीलों की भाँति रहन-सहन रखनेके कारण इन्हें शबरपाद कहा जाने लगा। तन्-जूरमें इनके अनुवादित ग्रन्थोंकी संख्या २६ है; (जो सभी छोटे-छोटे हैं); पीछे, दसवीं शताब्दीमें, भी एक शबरपा हुए थे जो मैत्रीपा (अवधूतीपा)के गुरु थे। उनकी भी पुस्तकें इन्हींमें शामिल हैं। इनकी कविताएँ ये हैं—

"चित्तगुह्यगम्भीरार्थ-गीति" (त० ४८।१०८)।
महामुद्रावज्रगीति (त० ४७।२९)।
शून्यतादृष्टि (त० ४८।३६)।
षडंगयोग[1] (त० ४।२२)।
सहजशंवरस्वाधिष्ठान[1] (त० १३।५)।
सहजोपदेश स्वाधिष्ठान[1] (त० १३।४)।
चर्या-गीतोंमें इनके दो गीत मिलते हैं।

(राग बलाड्डि २८)

"ऊँच ऊँचा पावत तँहि बसइ सबरी बाली बालं।
मोरंगि पीच्छ परहिण सबरी गिवत गुञ्जरी माली।।ध्रु०।।
उमत सबरो पागल शबरो मा कर गुली गुहाडा,
तोहौरि णिअ घरिणी णामे सहज सुन्दारी।।ध्रु०।।
णाणा त वर मोलिल रे गअणत लागेली डाली।
एकेली सबरी ए वण हिण्डइ कर्णकुण्डलवज्रधारी।।ध्रु०।।
तिअ धाउ खाट पडिला सबरो महासुखे सेजि छाइली।
सबरो भुजंग णइरामणि दारी पेह्म राति पोहाइली।।ध्रु०।।
हिअ ताँबोला महासुहे कापूर खाइ।
सून निरामणि कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाइ।।ध्रु०।।

---

१ ये ग्रन्थ संस्कृतमें थे या बीमें, इसमें सन्देह है।

गुरुवाक पुञ्जआ बिन्ध णिअ मणे वाणं।
एके शर-सन्धाने बिन्धह-बिन्धह परम णिवाणें ॥ध्रु०॥
उमत सबरो गरुआ रोषे।
गिरिवर-सिहर-संधि पइसन्ते सबरो लोड़िब कइसें॥२८॥"

राम रामक्री (५०)

"गअणत गअणत तइला वाड़ही हेञ्चे कुराडी।
कण्ठे नैरामणि बालि जागन्ते उपाड़ी॥ध्रु०॥
छाड़ छाड़ माआ मोहा विषमे दुन्दोली।
महासुहे विलसन्ति शबरो लइआ सुणमे हेली॥ध्रु०॥
हेरि ये मेरि तइला बाडी खसमे समतुला।
षुकड़ए सेरे कपासु फुटिला॥ध्रु०॥
तइला वाड़िर पासेंर जोह्णा वाडी ताएला।
फिटेलि अन्धारि रे अकाश फुलिआ॥ध्रु०॥
कुङ्गुरि ना पाकेला रे शबराशबरि मातेला।
अणुदिण शबरो किम्पि न चेवइ महासुहें भेला॥ध्रु०॥
चारिवासे भाइलारें दिआं चञ्चाली।
तँहि तोलि शबरो हकएला कान्दश सगुण शिआली॥ध्रु०॥
मारिल भव-मतारे दह-दिहे दिध लिवली।
हे रसे सबरो निरेवण भइला फिटिलि षबराली"॥ध्रु०॥

३. कर्णरीपा या आर्यदेव (सिद्ध १८)—यह शून्यवादके आचार्य नागार्जुनके शिष्य आर्यदेव न थे। इनके गुरु वज्रयानी सिद्ध नागार्जुन थे, जो कि, सरहपादके शिष्य थे। भिक्षु बनकर नालन्द-बिहार गये। तन्-जूरके दर्शन-विभागमें आर्यदेवके ९ ग्रन्थों और तन्त्र-विभागमें २६ ग्रन्थोंका अनुवाद है, जिनमें दर्शनके नौ ग्रन्थ तो पुराने माध्यमिक आर्यदेवके हैं; किन्तु तन्त्रके प्रायः सभी ग्रन्थ इन्हींके हैं। इनमें अपभ्रंशमें सिर्फ "निर्विकल्प प्रकरण" (त० ४७।२०) ही मालूम होता है। इनकी एक कविताका नमूना लीजिये—

राग पटमञ्जरी (३१)

"जहि मण इन्दिअ (प)वण हो णठा।
ण जाणमि अपा कँहि गइ पइठा ॥ध्रु०॥
अकट क णा दम लि बाजअ।
आजदेव णिरासे राजइ ॥ध्रु०॥
चान्दरे चान्दकान्ति जिम पतिभासअ।
चिअ विकरणे तहि टलि पइसइ ॥ध्रु०॥
छाड़िअ भय घिण लोआचार।
चाहन्ते चाहन्ते सुण विआर ॥
आजदेवँ सअल विहरिउ।
भय घिण दुर णिवारिउ ॥ध्रु०॥"

४. लूइपाद (सिद्ध १७)—पहले राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)के लेखक (=कायस्थ) थे। एक समय जब महाराज धर्मपाल अपने राज्यके प्रदेश वारेन्द्रमें थे, तब सिद्ध शबरपाद भी विचरते हुए वहाँ जा निकले। एक दिन शबरपाद राजाके महलमें भिक्षाके लिए गये। उसी समय लूइपासे उनकी भेंट हुई। वह बहुत ही प्रभावित हुए और विरक्त हो शबरपादके शिष्य बन गये। संख्यामें चौरासी सिद्धोंमें इनका नाम प्रथम होना ही बतलाता है कि, यह कितना प्रभाव रखते थे। इनके प्रधान शिष्योंमें सिद्ध दारिकपा और सिद्ध डेंगीपा थे, जो दोनों ही पूर्वाश्रममें क्रमशः उड़ीसाके राजा और मन्त्री थे[1]। इन्होंने पुरानी अपभ्रंशमें[2] बहुत-सी कविताएँ की थीं। तन्-जूरमें इनके सात अनुवादित ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न पाँच अपभ्रंशमें थे—

---

१ स-स्क्य-ब्कं-बुम्, ज, पृष्ठ २४२ख—२४५ख।

२ डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य इनकी कविताके विषयमें कहते हैं—"*These songs written by a Bengali in the soil of Bengal, may appropriately be called Bengali*" भोटिया-ग्रन्थोंमें बंगल या भंगल या भगल मिलता है, जिस नामसे कि, भोटिया लोग विक्रम-शिलावाले प्रदेशको पुकारते थे और जिसका चिन्ह भागलपुरके नाममें अब भी मौजूद है।

अभिसमयविभंग (त० १३।१८)।
तत्त्वस्वभावदोहाकोष (त० ४८।२)।
बुद्धोदय (त० ४७।४१; ७३।६२)।
भगवदभिसमय (त० १२।८)।
लूइपाद-गीतिका (त० ४८।२७)।

राग पटमंजरी (१)

"काआ तरुवर पञ्च वि डाल
चञ्चल चीए पइठो काल
दिट करिअ महासुह परिमाण
लुइ भणइ गु पूच्छिअ जाण॥ध्रु०॥
सअल स(मा)हिअ काहि करिअइ
सुख दुखेतें निचित मरिआइ॥ध्रु०॥
एड़िएउ छान्दक बान्ध करणक पाटेर आस
सुनु पाख भिति लाहु रे पास॥ध्रु०॥
भणइ लुइ आम्हे साणे दिठा
धमण-चमण वेणि पाण्डि वइण॥ध्रु०॥"

राग पटमंजरी (२९)

भाव न होइ अभाव ण जाइ,
आइस संबोहें को पतिआइ ॥ध्रु०॥
लूइ भणइ बट दुलक्ख विणाणा,
तिअ धाए विलसइ उह लागे णा ॥ध्रु०॥
जाहेर बान-चिन्ह, रुव ण जाणी,
सो कइसे आगम बेएँ वखाणी ॥ध्रु०॥
काहेरे किषभणि मइ दिवि पिरिच्छा,
उदक चान्द जिमि साच न मिच्छा ॥ध्रु०॥
लूइ भणइ भाइव कीस्,
जालइ अच्छमता हेर उह ण दिस् ॥ध्रु०॥

५. भुसुकु (सिद्ध ४१)—नालन्दाके पासके प्रदेशमें, एक क्षत्रिय-वंशमें, पैदा हुए थे, भिक्षु बनकर नालन्दामें रहने लगे। उस समय नालन्दाके राजा (गौड़ेश्वर) देवपाल (ई० ८०९–८४९) थे। कहते हैं, भुसुकुका नाम शान्ति-देव भी था। इनकी विचित्र रहन-सहनको देखकर राजा देवपालने एक बार 'भूसुकु' कह दिया और तभीसे इनका नाम भूसुकु पड़ गया! शान्तिदेवके दर्शन-सम्बन्धी छ ग्रन्थ तन्-जूरमें मिलते हैं और तन्त्रपर तीन। भूसुकुके नामसे दो ग्रन्थ हैं, जिनमें एक "चक्रसंवरतन्त्र"की टीका है। इनकी "सहजगीति" (त० ४८।१) भोटिया-भाषामें मिलती है।

राग कामोद (२७)

"अधराति भर कमल विकसउ,
बतिस जोइणी तसु अंग उह् णसिउ ।।ध्रु०।।
चालिउअ षषहर मागे अवधूइ,
रअणहु षहजे कहेइ ।।ध्रु०।।
चालिअ षषहर गउ णिवाणें,
कमलिनि कमल बहइ पणालें, ।।ध्रु०।।
विरमानन्द बिलक्षण सुध,
जो एथु बूझइ सो एथु बुध ।।ध्रु०।।
भूसुकु भणइ मइ बूझिअ मेलें,
सहजानन्द महासुह लोलें ।।ध्रु०।।

राग मल्लारी (४९)

"बाज णाव पाड़ी पँउआ खालें वाहिउ,
अदअबंगाले[१] क्लेश लुड़िउ ।।ध्रु०।।

---

१ डाक्टर भट्टाचार्यने लिखा है—"*The Pag—Sam-Jon-Zan it is said that Santideva was a native of Saurashtra, but I am inclined to think that he belonged to Bengal. It is evident from his song.*" "आज भुसु बंगाली" (*ibid.*) गीतमें बंगाली शब्द खास तान्त्रिक परिभाषाके अर्थमें व्यवहृत हुआ है; जैसा

आजि भूसु बंगाली भइली,
णिअ घरिणीं चण्डाली लेली ॥ध्रु०॥
डहि जो पञ्चघाट णइ दिबि संज्ञा णठा,
ण जानमि चिअ मोर कहिँ गइ पइठा ॥ध्रु०॥
सोण तरुअ मोर किम्पि ण थाकिउ,
निअ परिवारे महासुहे थाकिउ ॥ध्रु०॥
चउकोड़ि भण्डार मोर लइआ सेस,
जीवन्ते मइलें नाहि विशेष ॥ध्रु०॥"

६. वीणापा (सिद्ध १२)—गौड़देशमें[1] क्षत्रियवंशमें इनका जन्म हुआ था। इनके गुरुका नाम भद्रपा (सि० २४) था। वीणा बजाकर यह अपने पदोंको गाया करते थे; इसीलिये इनका नाम वीणापा पड़ गया। तन्-जूरमें इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं—१. गुह्याभिषेक-प्रक्रिया (त० २१।५०)। २. महाभिषेकत्रिक्रम (त० २१।५१)। ३. वज्रडाकिनीनिष्पन्नक्रम (त० ४८।५३)।

इसमें तीसरा ग्रन्थ उसी बेठनमें है, जिसमें अपभ्रंशकी कविताओंके दूसरे अनुवाद हैं; इसलिए मालूम पड़ता है, यह भी उसीमें रहा है। "चर्यागीति"[2] में इनका एक गीत इस प्रकार है—

---

कि, डाक्टर भट्टाचार्यके पिता प्रातःस्मरणीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीने अपने इसी ग्रन्थकी भूमिका (पृष्ठ १२) में लिखा है—"सहज-मते तीनटि पथ आछे, अवधूती, चाण्डाली डोम्बी वा बँगाली। अवधूती ते द्वैतज्ञान थाके, चाण्डालीते द्वैतज्ञान आछे....बलिलेउ हय, किन्तु डोम्बीते केवल अद्वैत....एइ बार तुमि सत्य सत्यइ बंगाली हइले अर्थात् पूर्ण हइले।" और, यदि शब्दपर दौड़ना है, तब तो भूसुकु आज बंगाली हुए, मानो पहले न थे। फिर "भइली" शब्द बँगलामें कहाँ व्यवहृत होता है ? किन्तु वह काशीसे मगह तक आज भी बहुत प्रचलित है।

१ पालवंशीय राजा गौड़ेश्वर कहे जाते थे। उनकी राजधानी पटना जिलेका बिहारशरीफ स्थान थी। नालन्दाके पास होनेके कारण भोटिया-ग्रन्थोंमें अक्सर उन्हें नालन्दाका राजा भी कहा गया है।

२ "बौद्धगान ओ दोहा", पृष्ठ ३०

राग पटमञ्जरी (१७)

सुज लाउ ससि लागेलि तान्ती,
अणहा दाण्डी वाकि किअत अवधूती ॥ध्रु०॥
बाजइ अलो सहि हेरुअवीणा,
सुन तान्ति धनि विलसइ रुणा ॥ध्रु०॥
आलि कालि बेणि सारि सुणेआ,
गअवर समरस सान्धि गुणिआ ॥ध्रु०॥
जबे करहा करहक लेपि चिउ,
बतिश तान्ति धनि एसल बिआपिउ ॥ध्रु०॥
नाचन्ति वाजिल गान्ति देवी,
बुद्ध नाटक विसमा होइ ॥ध्रु०॥"

७. विरूपा (सिद्ध ३)—महाराज देवपाल (८०९-४९ ई०) के देश "त्रिउर" (?) में इनका जन्म हुआ था। भिक्षु बनकर नालन्दा-विहारमें पढ़ने लगे और वहाँके अच्छे पण्डितोंमें हो गये। इन्होंने देवीकोट और श्रीपर्वत आदि सिद्ध स्थानोंकी यात्राकी। श्रीपर्वतमें इन्हें सिद्ध नामबोधि मिले। यह उनके शिष्य हो गये। पीछे नालन्दामें आकर जब इन्होंने देखा कि, विहारमें मद्य, स्त्री आदि सहजचर्याके लिए अत्यावश्यक वस्तुओंका व्यवहार नहीं किया जा सकता, तब वहाँसे गंगाके घाटपर चले गये। वहाँसे। फिर उड़ीसा गये। इनके शिष्योंमें डोम्बिपा (सि० ४) और कण्हपा थे। यमारितन्त्रके यह ऋषि थे। तन्-जूरमें इनके तन्त्र-सम्बन्धी अठारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न मगही हिन्दीमें थे—अमृतसिद्धि (त० ४७।२७)। दोहकोष '(त० ४७।२४)। दोहाकोषगीति-कर्मचण्डालिका (त० ४८।४)। मार्गफलान्वितावबादक (त० ४७।२५)। विरूपगीतिका (त० ४८।२९)। विरूपवज्रगीतिका (त० ४८।१६)। विरूपपदचतुरशीति (त० ४७।२३)। सुनिष्प्रपञ्चतत्त्वोपदेश (त० ४३।१००)।

राग गबड़ा (३)

"एक से शुण्डिनि दुइ घरे सान्धअ,
चीअण बाकलअ बारुणी बान्धअ ॥ध्रु०॥

**सहजे थिर करी वारुणी सान्धे,**
**जें अजरामर होइ दिट कान्ध ॥ध्रु०॥**
**दशमि दुआरत चिह्न देखइआ,**
**आइल गराहक अपणे बहिआ ॥ध्रु०॥**
**चउशठी घड़िये देट पसारा,**
**पइठेल गराहक नाहि निसारा ॥ध्रु०॥**
**एक स डुली सरुइ नाल,**
**भणन्ति विरुआ थिर करि चाल" ॥ध्रु०॥**

८. **दारिकपा** (सि० ७७)—यह "ओड़िसा"के[1] राजा थे। जब सिद्ध लूइपा उड़ीसा गये, तब यह और इनके ब्राह्मण मन्त्री, जिनका नाम पीछे डेंगीपा (डेंकीपा) पड़ा, राज्य छोड़कर उनके शिष्य बन गये। गुरुने आज्ञा दी कि, सिद्धि-प्राप्तिके लिये तुम कांचीपुरीमें जाकर दारिका (=वेश्या)की सेवा करो। कई वर्षों तक यह उसकी सेवा करते रहे; इसीसे सिद्ध होनेपर इनका नाम दारिकपा पड़ गया। सहज-योगिनी चिन्ता इनकी शिष्या थीं; और, प्रसिद्ध सिद्ध वज्रघण्टापाद (५२) या घंटापा इनके प्रधान शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमेंसे निम्न प्राचीन अपभ्रंशके मालूम होते हैं—१. ओड्डियान-विनिर्गत-महागुह्यतत्त्वोपदेश (त० ४६।६)। २. तथतादृष्टि (त० ४८।४८)। ३. सप्तमसिद्धान्त (त० ४६।४६)।

**राग बराड़ा (३४)**

**"सुनकरुणरि अभिन वारें काअ-वाक्-चिअ,**
**विलसइ दारिक गअणत पारिमकुलें ॥ध्रु०॥**
**अलक्ष-लख-चित्ता महासुहे,**
**विलसइ दारिक० ॥ध्रु०॥**
**किन्तो मन्ते किन्तो तन्ते किन्तो रे झाण बखाने,**
**अपइ ठानमहासुहलीणे दुलख परम निवाणें ॥ध्रु०॥**

---

१ **स-स्क्य-क्कं-बुम्, ज, पृष्ठ २४४ख से २४५ ख०। डा० विनयतोष भट्टाचार्यने लिखा है**—"*Luipa belonged to an earlier age*

दुखें सुखें एकु करिआ भुञ्जइ इन्दीजानी,
स्वपरापर न चेवइ दारिक सअलानुत्तर माणी ॥ध्रु०॥
राआ राआ राआरे अवर राअ मोहेरा बाधा,
लुइ-पाअ-पए दारिक द्वादशभुअणें लधा" ॥ध्रु०॥

९. डोम्भिपा (सिद्ध ४)—मगधदेशमें क्षत्रिय-वंशमें पैदा हुए। वीणपा और विरूपा, दोनों ही इनके गुरु थे। लामा तारानाथने लिखा है कि, यह विरूपाके दस वर्ष बाद तथा वज्रघंटापाके दस वर्ष पूर्व सिद्ध हुए। यह हेवज्र-तन्त्रके अनुयायी थे। सिद्ध कण्हपा (१७) इनके भी शिष्य थे। तन्-जूरमें २१ ग्रन्थ डोम्भिपादके नामसे मिलते हैं; किन्तु पीछे भी एक डोम्भिपा हुए हैं; इसलिए कौन ग्रन्थ किसका है, यह कहना कठिन है। इनके निम्न ग्रन्थ अपभ्रंशमें थे—अक्षरद्विकोपदेश (त० ४८।६४)। डोम्बिगीतिका (त० ४८।२८)। नादीबिंदुद्वारे योगचर्या (त० ४८।६३)।

राग देशाख (१०)

"नगर बाहिरिरे डोम्बि तोहोरि कुड़िया,
छइछोइ याइ को बाह्म नाड़िआ ॥ध्रु०॥
आलो डोम्बि तोए सम करिबे म सांग,
निघिण काह्ण कापलि जोइ लाग ॥ध्रु०॥
एकसो पदमा चौषट्ठी,
तहिं चड़ि नाचअ डोम्बी बापुड़ी ॥ध्रु०॥
हालो डोम्बि तो पुछमि सदभावे,
अइसास जासि डोम्बि काहरि नावें ॥ध्रु०॥

*and as such any close connection between the two is hardly admissible. Lui was reputed to be the first Siddhacharya, and that may be the reason why Darikapa reverentially mentions his name."* लेकिन तिब्बतके सभी ग्रन्थ एक मतसे दारिकपाको लुइपाका शिष्य कहते हैं। चौरासी सिद्धोंकी सूचीमें संख्याक्रम काल-क्रमसे नहीं है, यह अलग दिये वंश-वृक्ष और नाम-सूचीसे स्पष्ट हो जायगा।

तान्ति विकणअ डोम्बी अवर ना चंगता,
तोहोर अन्तरे छाड़िनड़ एट्टा ॥ध्रु०॥
तु लो डोम्बी हाउँ कपाली,
तोहोर अन्तरे मोए घलिलि होड़ेरि माली ॥ध्रु०॥
सरवस भाञ्जीअ डोम्बी खाअ मोलाण,
मारमि डोम्बी लेमि पराण" ॥ध्रु०॥

राग धनसी (१४)

"गंगा जउना माझे रे बहइ नाई,
तहिं बुड़िली मातंगि पोइआ लीले पार करेइ ॥ध्रु०॥
वाहतु डोम्बी वाहलो डोम्बी बाटत भइल उछारा,
सद्गुरु पाअ पए जाइब पुणु जिणउरा ॥ध्रु०॥
पाञ्च केडुआल पड़न्ते मांगे पिटत काच्छी बान्धी,
गअणदुखोलें सिञ्चहु पाणी न पइसइ सान्धि ॥ध्रु०॥
चन्द सूज्ज दुइ चका सिठिसंहार पुलिन्दा,
वाम दहिण दुइ माग न रेवइ बाहतु छन्दा ॥ध्रु०॥
कवडी न लेइ बोडी न लेइ सुच्छड़े पार करेइ,
जे रथे चड़िला वाहवाण जाइ कुलें कुल बुड़इ" ॥ध्रु०॥

भिक्षावृत्तिमें[1] इनका यह दोहा मिलता है—

"भुञ्जइ मअण सहावर कमइ सो सइअल।
मोअ ओ धर्म करण्डिया, मारउ काम सहाउ।
अच्छउ अक्ख जे पुनइ, सो संसार-विमुक्क।
ब्रह्म महेसर णारायणा, सक्ल असुद्ध सहाव ॥"

१०. **कम्बलपाद** (सिद्ध ३०)—ओडिविश (उड़ीसा) में, राजवंशमें, इनका जन्म हुआ। भिक्षु होकर त्रिपिटकके पण्डित बने। पीछे सिद्ध वज्र घंटापा (५२) के सत्संगमें पड़ उनके शिष्य हो गये। इनके गुरु सिद्धाचार्य वज्रघंटापाद

---

१ तन्-जूर (त० २१।१६)। ल्हासाके मुरु-विहारकी हस्तलिखित प्रति-का पाठ।

या घंटापाद उड़ीसामें कई वर्ष रहे और उनके ही कारण उड़ीसामें वज्रयानका बहुत प्रचार हुआ। सिद्ध राजा इन्द्रभूमि इनके शिष्य थे। कम्बलपाद बौद्ध दर्शनके भी पण्डित थे। प्रज्ञापारमिता-दर्शनपर इनके चार ग्रन्थ भोटियामें मिलते हैं। इनके तन्त्र-ग्रन्थोंकी संख्या ग्यारह है, जिनमें अपभ्रंशमें थे—असम्बन्ध-दृष्टि (त० ४८।३८)। असम्बन्ध-सर्गदृष्टि (त० ४८।३९)। कम्बल-गीतिका (त० ४८।३०)।

### राग देवकी (८)

"सोने भरिती करुणा नावी,
रूपा थोइ महिके ठावी ॥ध्रु०॥
वाहतु कामलि गअण उवेसें,
गेली जाम बहु काइसें ॥ध्रु०॥
खुन्टि उपाड़ी मेलिलि काच्छि,
वाहतु कामलि सद्गुरु पुच्छि ॥ध्रु०॥
मांगत चन्हिते चउदिस चाहअ,
केडु आल नहि कें कि बाहबके पारअ ॥ध्रु०॥
वामदाहिण चापो मिलि मिलि मागा,
वाटत मिलिल महासुह संगा ॥ध्रु०॥"

११: **जालन्धरपाद** (सिद्ध ४६)—नगर-भोग (नगरकोट, कांगड़ा) देशमें, ब्राह्मणकुलमें इनका जन्म हुआ था। पीछे एक अच्छे पण्डित भिक्षु बने। घंटा-पादके शिष्य सिद्ध कूर्मपादकी संगतिमें आकर यह उनके शिष्य हो गये। मत्स्येन्द्र-नाथ, कण्हपा और तंतिपा इनके शिष्योंमें थे। भोटिया-ग्रन्थोंमें इन्हें आदिनाथ भी कहा गया है। नाथपन्थकी परम्परामें भी आदिनाथमेंसे इन्हींसे मतलब है। इस प्रकार चौरासी सिद्धोंमें जालन्धरपादकी परम्परा अब भी भारतमें कायम है। गोरक्षनाथ इनके शिष्य मत्स्येन्द्रके शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके सात ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न अपभ्रंशके हैं—विमुक्तमंजरी-गीत (त० ७३।४९)। हुंकार-चित्त-बिंदु-भावनाक्रम (त० ४८।७२)।

राग निवेद, ताल माठ, (७६)[1]

"अलय निरंजन अद्वय अनु
पद्म गगन कमरंजे साधना,
शून्यता विरासित राय श्री चिय,
देव पान-बिन्दु समय जो दिता ॥ध्रु०॥
नमामि निरालम्ब निरक्षर,
स्वभाव हेतु स्फुरन संप्रापिता,
सरद-चन्द्रसमय तेज प्रकासित
जरज-चन्द्र समय व्यापिता ॥ध्रु०॥
खडग योगाम्बर सादिरे चक्रर्वात
मेरुमंडल भर्मलिता,
निर्म्मल हृदयारे चक्रर्वात ध्याविते
अहितिसिक्षंजत्र मय साधना ॥ध्रु०॥
आनंद परमानंद बिरमा
चतुरानंद जे संभवा,
परमा विरमा मांझे रे न छादिरे,
महासुख सुगत संप्रद प्रापिता ॥ध्रु०॥
हे वज्रकार चक्र श्रीचक्रसंवर,
अनन्त कोटि सिद्ध पारंगता,
श्री हतवदियाने पूर्ण गिरि,
जालन्धरि प्रभु महा सुख-जातहुँ ॥ध्रु०॥

१२. कुक्कुरिपा (सिद्ध ३४)—कपिल (वस्तु) वाले देशमें एक ब्राह्मण-कुलमें इनका जन्म हुआ था। मीनपा (८) के गुरु चर्पटीपा इनके भी गुरु थे। इनकी शिष्या मणिभद्रा चौरासी सिद्धोंमेंसे ,एक (६५) है। पद्मवज्र भी इनके ही शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके १६ ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्नलिखित हिन्दीके

---

१ मैंने यह पाठ नेपालके बौद्धोंमें आज भी प्रचलित चर्यागीति (चचो) पुस्तकसे लिया है। भाषा बिल्कुल ही बिगड़ी हुई है।

मालूम होते हैं—तत्व-सुख-भावनानुसारियोगभावनोपदेश (त० ४८।६५)। स्रवपरिच्छेदन (त० ४८।६६)।

राग गवड़ा (२)

"दुलि दुहि पिटा धरण न जाइ,
रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ॥
आंगन घरपण सुन भो विआती,
कानेट चौरि निल अधराती ॥ध्रु०॥
ससुरा निद गेल बहुड़ी जागअ,
कानेट चोरे निल का गइ मागअ॥ध्रु०॥
दिवसइ बहुड़ी काड़इ डरे भाअ,
राति भइले कामरु जाअ॥ध्रु०॥
अइसन चर्या कुक्करी-पाएँ गाइड़,
कोड़ि मज्झें एकुड़ि अहिं सनाइड़॥ध्रु०॥

राग पटमञ्जरी (२०)

"हाँउ निवासी खमण भतारे,
मोहोर विगोआ कहण न जाइ॥ध्रु०॥
फेटलिउ गो माए अन्त उड़ि चाहि,
जा एथु बाहाम सो एथु नाहि ॥ध्रु०॥
पहिल विआण मोर वासन पूड़,
नाड़ि विआरन्ते सेव वापूड़ा॥ध्रु०॥
जाण जौबण मोर भइलेसि पूरा,
मूल नखलि बाप संघारा॥ध्रु०॥
भणथि कुक्कुरीपाए भव थिरा,
जो एथु बुझएँ सो एथु वीरा॥ध्रु०॥"
"हले सहि विअ सिअ अमल पबाहिउ वज्जें।
अलललल हो महासुहेण आरोहिउ नृत्ये।

रविकिरणेण पफुल्लिअ अमलु महासुहेण।
(अल) आरोहिउ नृत्यें।।"[1]

१३. गुण्डरीपाद (सिद्ध ५५)—डिमुनगर देशमें कर्मकार (लोहार)के कुलमें पैदा हुए थे। पीछे सिद्ध लीलापा (२) के शिष्य हो गये। इनके शिष्य धर्मपादके शिष्य सिद्ध हालिपाद (५०) थे। तन्-जूरमें इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। चर्यागीतोंमें इनकी यह गीति मिलती है—

राग अरु (४)

"तिअड्डा चापी जोइनि दे अंकवाली,
कमलकुशिलघाण्ट करहुँ विआली।।ध्रु०।।
जोइनि तँइ बिनु खनहिँ न जीवमि,
तो मुइ चुम्बि कमल-रस पीवमि।।ध्रु०।।
खेंपहु जोइनि लेप न जाय,
मणि कूले बहिआ ओड़िआणे समाअ।।ध्रु०।।
सासु घरेँ घालि कोञ्चा ताल,
चान्द-सुजवेणि पखा फाल।।ध्रु०।।
भइइ गुंडरी अह्मे कुन्दुरे वीरा,
नरअ नारी मझेँ उभिल चीरा।।ध्रु०।।"

१४. मीनपा (सिद्ध ८)—कामरूप(आसाम) देशमें एक मछवेके कुलमें इनका जन्म हुआ था। इन्हींके पुत्र मत्स्येन्द्र थे, जिनके शिष्य गोरखनाथ हुए। पहले लौहित्य (ब्रह्मपुत्र)-नदीमें मछली मारते और ध्यानमार्गपर चलते थे। पीछे चर्पटीपाद (५९)के शिष्यहो गये। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "बाह्यान्तर-बोधिचित्तबन्धोपदेश") (त० ४८।५०) मिलता है, जो अपभ्रंशमें था। चर्यागीति (पृष्ठ ३८)की टीकामें परदर्शन कहकर इनका एक पद उद्धृत किया गया है—

---

१ साधनमाला, (गायकवाड़-ओरियंटल सीरीज, बड़ोदा) पृष्ठ४६६, ४६७।

"कहन्ति गुरु परमार्थेर बाट,
कर्मकुरंग समाधिक पाट।
कमल विकसिल कहिह ण जमरा,
कमलमधु पिविबि धोके न भमरा।"

१५. कण्हपा (सिद्ध १७)—कर्णाटक-देशमें[1] ब्राह्मणकुलमें इनका जन्म हुआ था; इसीलिए इनको कर्णपा भी कहते हैं। शरीरका रंग काला होनेसे कृष्णपा या कण्हपा कहते थे। महाराज देवपाल (८०९–८४९ ई०) के समयमें यह एक पण्डित भिक्षु थे और कितने ही दिनों तक सोमपुरी-विहार (पहाड़पुर, जि० राजशाही)में रहते थे। पीछे यह सिद्ध जालन्धर-पादके शिष्य हो गये। चौरासी सिद्धोंमें कवित्व और विद्या, दोनोंकी दृष्टिसे यह सबसे बड़े सिद्धोंमेंसे हैं। इनके अपने सातसे अधिक शिष्य, चौरासी सिद्धोंमें गिने गये हैं, जिनमें कनखला (६७) और मेखला (३६); दो योगनियाँ भी हैं। धर्मपा (३६) कन्तलिपा (६९), महीपा (३७), उधलिपा (७१), भदेपा (३२) शिष्य और जवरिपा (६४) या अजपालिपा प्रशिष्य थे। उस समय सिद्धोंका गढ़ बिहार-प्रदेश था। इन्होंने अपनी भाषा-कविताएँ अपभ्रंशमें की हैं। तन्-जूरमें दर्शनपर छ और तन्त्रपर इनके ७४ ग्रन्थ मिलते हैं। पीछे भी एक कृष्णपाद हुए थे; इसलिये इस सूचीमें कुछ उनके ग्रन्थोंका भी होना सम्भव है। दर्शन-ग्रन्थोंमें इन्होंने शान्तिदेवके "बोधिचर्यावतार"पर "बोधिचर्यावतार-दुरवबोधपद-निर्णय" नामक टीका लिखी है। इनके निम्न कविता-ग्रन्थ अपभ्रंशमें थे, जिनके भोटिया-अनुवाद तन्-जूरमें मिलते हैं—

---

१ स-स्क्य-ब्कं-बुम्, ज, २६५ क—"युल्-ग्यं-गर् कर्ण-र स्क्येस्-पस्-न्स्, कर्ण-ब्शेस् क्यङ ब्य।···र्ञान्-रिङ-पस् (लम्बे कानवाले होनेसे) क्यङ कर्ण-प-सेर्। ख-दोग् नग्-पस् कृष्ण-प शेस्-ब्य व।" डाक्टर भट्टाचार्यंने लिखा है—"*Written in his own vernacular which was probably Uria, and showed great affinty towards the old Bengali. language.*""

१. कान्हपाद-गीतिका (त० ४८।१७)।
२. महाढुण्ढन-मूल (त० ८५।३०)।
३. वसन्ततिलक (त० १२।३०)।
४. असम्बन्ध-दृष्टि (त० ४८।४७)।
५. वज्रगीति (त० ४७।३३)।
६. दोहाकोष[1] (त० ४७।४४)।

"बौद्धगान ओ दोहा"में इनका दोहाकोष संस्कृतटीका-सहित छपा है, जिसमें बत्तीस दोहे हैं। इनके दोहोंका नमूना देखिये—

"आगम-बेअ-पुराणे, पण्डित मान वहंति।
पक्क सिरिफल अलिअ जिम, वाहेरित भ्रमयन्ति॥२॥"

"अह ण गमइ उह ण जाइ,
वेणि-रहिअ तसु निच्चल पाइ।
भणइ कह्ण मन कहबि न फुट्टइ,
निच्चल पवन घरिणि घर बत्तइ"॥१३॥

"एक्क ण किज्जइ मन्त ण तन्त,
णिअ घरणि लइ केलि करन्त।
णिअघर घरिणी जाव ण मज्जइ,
ताव कि पंचवर्ण विहरिज्जइ॥२८॥"

"जिमि लोण विलिज्जई पाणिएहि,
तिम घरणी लइ चित्त।
सम-रस जइ तक्खणे,
जइ पुणु ते सम णित्त॥३२॥"

इनकी वज्रगीतिकाका नमूना देखिये—

'कोल्लअ[2] रे ठिअ बोल्ल, मुम्मुणि रे कक्कोल॥
घन किपीटह बज्जइ, करुणे किअइ णरोला।

---

१ तन्-जूर (त० २।१०); स-स्क्यं ब्कं-बुम्, पृ० ३६८ ख; फ १२८ क।
२ आजकल नेपालमें व्यवहृत चर्यागीत (च-चो)का पाठ इस प्रकार है—

तहि पल खज्जइ, गाढ़ें मअ णा पिज्जइ।
हले कलिञ्जर पणिअइ, दुन्दुर वज्जिअइ।
चउसम कत्थुरि सिल्हा, कप्पुर लाइअइ।
मालइ घाण-सालि अइ, तहिं भलु खाइअइ।
पेंखण खेट करन्त, शुद्धाशुद्ध ण मणिअइ।
निरंशु अंग चडावि अइ, तहिं जस राव पणिअइ।"
मलअजे कुन्दुरु, वापइ, डिण्डिम तहिम्न वञ्जि अइ ॥

कण्हपाके कुछ गीत देखिये—

राग पट मञ्जरी (११)

"नाड़ि शक्ति दिट धरिअ खट्टे,
अनहा डम वाजए वीरनादे ॥
काह्ण कापाली योगी पइठ अचारे,
देह नअरी विहरए एकारें ॥ध्रु०॥
आलि कालि घण्टा नेउर चरणे,
रवि-शशी-कुण्डल किउ आभरणे ॥ध्रु०॥
राग-देश-मोह लाइअ छार,
परम मोख लवए मुत्तिहार ॥ध्रु०॥

---

"कोलायि रे थिय बोला, मुमुनिरे कंकोला।
घनकिया थीं होयि वज्रपि, करुणे कियायि न लोरा ॥ध्रु०॥
मलयजकुंदुरु वजायिले डिंडिम तहि ना वाजयि।
तहि भरु खाज गाध्या मय ना पीवयियि ॥
हले कालिजर पंनयायि दुंदुरु वजरयायि।
चवु सम कस्तुरि सिल्हा, कर्पुर लावनयायि ॥
गल या जइ धनसोलिजरे, तहि भ खाज न यायी।
प्रेषु ह क्षेत्र करते सोधा सुद्ध न मूनयि।
निलसुह अंग चवावयि, तरि जस रा पनयायी" ॥१६॥

मारिअ शासु नणन्द घरे शाली,
माअ मारिआ काह्ण भइअ कबाली ॥ध्रु०॥

राग पट मञ्जरी (३६)

"सुण वाह तथता पहारी,
मोहभण्डार लुइ सभला अहारी ॥ध्रु०॥
घुमइ ण चेवइ सपरविभागा,
सहज निदालु काह्णिला लांगा ॥ध्रु०॥
चेअण ण वेअन भर निद गेला,
सअल सुफल करि सुहे सुतेला ॥ध्रु०॥
स्वपणे मइ देखिल तिभुवण सुण,
घोरिअ अवणा गमण विहुल ॥ध्रु०॥
शाथि करिब जालन्धरि पात्र,
पाखि ण राहअ मोरि पाण्डिआ चादे ॥ध्रु०॥"

१६. तन्तिपा (सिद्ध १३)—मालव-देशके अवन्तिनगर (उज्जैन) में कोरी (तन्तुवाय, तँतवा) के घर इनका जन्म हुआ था। घरमें रहते ही इनका मन सिद्धचर्याकी ओर लगा। जालन्धरपादका दर्शन कर उनके शिष्य हो गये। पीछे कण्हपासे भी उपदेश लिया। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "चतुर्योग-भावना" (त० ४८।५४) मिलता है, जो अपभ्रंशमें लिखा गया था। इनकी कोई कविता मूल भाषामें नहीं मिलती; किन्तु यदि 'चर्यागीति" के ढेण्ढनपाद" को तन्तिपाद मान लिया जाय; क्योंकि इस नाम का कोई सिद्धाचार्य नहीं है, तो यह गीत उनका हो सकता है।

राग पटमञ्जरी (३३)

"टालत मोर घर नाहि पड़वेषी।
हाड़ीत भात नाँहि निति आवेशी ॥ध्रु०॥
वेंगसंसार बड़हिल जाअ,
दुहिल दुधु कि वेण्टे यामाय ॥
बलद बिआएल गविआ बाँझे।
पिटा दुहिए ए तिना साँझे ॥

जो सो बुधी सो धनि बुधी।
जो चो चोर सोइ साधी॥
निते निते षिआला षिहे षम जुझअ,
ढेण्ढण पाएर गीत बिरले बूझ अ॥"

१७. मही (महिल) पा (सिद्ध ३७)—मगध-देशमें शूद्रकुलमें, इनका जन्म हुआ था। गृहस्थ होते भी इन्हें सत्संगकी बड़ी चाह थी। पीछे कण्हपाके शिष्य हो गये। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "वायुतत्त्वदोहा—गीतिका" (त० ८४।१०) मिलता है, जो पुरानी मगही में था। "चर्यागीति" में महीधरपादका एक गीत मिलता है, (यह महीपा और महीधरपाद एक ही मालूम होते हैं)।

राग भैरवी (१६)

"तिनि एँ पाटें लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ,
ता सुनि मार भयंकर रे सअ मण्डल सएल भाजइ॥ध्रु०॥
मातेल चीअ-गअन्दा धावइ।
निरन्तर गअणन्त तुसें घोलइ॥ध्रु०॥
पाप पुण्य वेणि तिड़िअ सिकल मोड़िअ खम्भाठाणा,
गअण टाकलि लागिरे चित्ता पइठ णिवाना॥ध्रु०॥
महारस पाने मातेल रे तिहुअन सएल उएखी,
पञ्च विषय रे नायकरे विपख को बी न देखी॥ध्रु०॥
खररविकिरणसन्तापेरे गअणांगण गइ पइठा,
भणन्ति महित्ता मइ एथु बुड़न्ते किम्पि न दिठा॥ध्रु०॥"

१८. भादेपा (सिद्ध ३२)—श्रावस्तीमें[1] चित्रकार (ल्ह-ब्रिस्=देव-लेखक)-कुलमें इनका जन्म हुआ था। पीछे सिद्ध कण्हपाके शिष्य हुए। तन्-जूरमें इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता; किन्तु "चर्यागीति" में इनकी यह गीति मिलती है।

राग मल्लारी (३५)

"एतकाल हाँउ अच्छिलें स्वमोहें।
एवें मइ बुझिल सदगुरुबोहे॥ध्रु०॥

१ सहेट-महेट (जि० गोंडा, उत्तरप्रदेश)।

एवें चिअराअ मकुं णठा।
गण समुदे टलिआ पइठा॥ध्रु०॥
पेखमि दहदिह सव्वंइ शून।
चिअ विहुन्ने पाप न पुण्ण॥ध्रु०॥
वाजुले दिल मोहकखु भणिआ,
मइ अहारिल गअणत पणियाँ॥ध्रु०॥
भादे भणइ अभागे लइआ।
चिअराअ मइ अहार कएला"॥ध्रु०॥

१९. **कंकणपाद** (सिद्ध २९)—विष्णुनगर (? बिहार) राजवंशमें इनका जन्म हुआ था। कंबलपादके परिवारके सिद्ध थे। तन्-जूरमें इनका एक ग्रन्थ "चर्यादोहाकोषगीतिका" (त० ४८।७) मिलता है। "चर्यागीति" में इनकी यह गीति मिलती है।

राग मल्लारी (४४)

"सुने सुन मिलिआ जबें,
सअलधाम उइआ तबे॥ध्रु०॥
आच्छु हुँ चउखण संबोही,
माझ निरोह अणुअर बोही॥ध्रु०॥
विंदु-णाद णहिँ ए पइठा,
अण चाहन्ते आण विणठा॥ध्रु०॥
जथाँ आइलेंसि तथा जान,
मासं, थाकी सअल विहाण॥ध्रु०॥
भणई कंकण कलएल सादें,
सव्वं विच्छरिल तथतानादें॥ध्रु०॥

२०. **जयानन्त (जयनन्दी) पाद** (सिद्ध ५८)—भंगल (भागलपुर) देशके राजाके मन्त्री थे। जन्म ब्राह्मण-वंशमें हुआ था। तन्-जूरमें जया-नन्तके "तर्कमुद्गर-कारिका" (ल० २४।६) और "मध्यमकावतारटीका" (ल० २५) दो ग्रन्थ मिलते हैं; किन्तु यह कश्मीरी जयानन्त थे। इनके गुरु-शिष्य के सम्बन्ध-में भी नहीं मालूम हुआ है। "चर्यागीति" में इनकी यह गीति मिलती है—

राग शवरी (४६)

"पेख सुअणे अदश जइसा,
अन्तराले मोह तइसा ॥ध्रु०॥
मोह-विमुक्का जइ माणा,
तबें तूटइ अवणा-गमणा ॥ध्रु०॥
नौ दाटइ नौ तिमइ न च्छिजइ,
पेख मोअ मोहे बलि बलि बाझइ ॥ध्रु०॥
छाअ माआ काअ समाणा,
वेणि पाखें सोइ विणा ॥ध्रु०॥
चिअ तथतास्वभावे षोहिअ,
भणइ जअनन्दि फुडअण ण होइ ॥ध्रु०॥"

२१. तिलोपा (सिद्ध २२)—भगुनगर (? विहार) में इनका जन्म हुआ था। "स-स्क्य-ब्कं-बुम्" (ज, २४५ क) में इनको राजवंशिक कहा गया है। भिक्षु-नाम प्रज्ञाभद्र था; किन्तु सिद्धचर्यामें यह तिल कूटा करते थे; इसीलिए नाम तिलोपा पड़ गया। गुह्यपाके शिष्य और कण्हपाके प्रशिष्य विजयपाद (या अन्तरपाद) इनके गुरु थे। विक्रमशिलाके महापण्डित और सिद्धाचार्य नारोपा इनके प्रमुख शिष्य थे। तन्-जूरमें इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न अपभ्रंश थे—१ अन्तर्बाह्यविषय–निवृत्तिभावनाक्रम (त० ४८।८८)। २. करुणाभावनाधिष्ठान (त० ४८।५९) ३. दोहाकोष (त० ४७।२२)। ४. महामुद्रोपदेश (त० ४७।२६)। "चर्यागीति" (पृष्ठ ६२) की टीका में इनका निम्नलिखित दोहा उद्धृत हुआ है, जो संभवतः इनके दोहाकोष का है—

"ससंवेअन तन्तफल, तिलोपाए भणन्ति।
जो मण गोअर गोइया, सो परमथे न होन्ति॥"

२२. नाड (नारो) पा (सिद्ध २०)—इनके पिता कश्मीरी ब्राह्मण थे और किसी कामसे मगधमें प्रवास करते थे। वहीं नाडपादका जन्म हुआ। भिक्षु होकर नालन्दामें पढ़ने लगे। असाधारण मेधावी होने से, सभी विद्याओं-में पारंगत हो, महाविद्वान् हो गये। पीछे विक्रमशिला-विहारमें पूर्व द्वारके महापण्डित बनाये गये। इतना होनेपर भी यह पण्डिताईसे सन्तुष्ट न थे।

अन्तमें सिद्ध तिलोपाके विष्णुनगरमें आनकी खबर पाकर वहाँ गये और उनसे दीक्षा ली। शान्तिपाद (सि० १२) दीपकंर श्रीज्ञान आदिके यह गुरु थे। भोटका मर-वा[1] लोचवा भी इन्हींका शिष्य था। नारोपाका देहान्त १०३९ ई० में हुआ था। तन्-जूरमें इनके तेईस ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न अपभ्रंश थे—१. नाडपण्डितगीतिका (त० ४८।२६)। २. वज्रगीति (त० ४७।३०, ३१)। नाडपादके नामकी कोई मूल गीति नहीं मिलती तो भी "चर्या-गीति" में ताडकपादकी एक गीति मिलती है। यह ताडकपाद नाडकपाद ही मालूम होते हैं। नामका सादृश्य भी है और ताडक नामका कोई सिद्धाचार्य नहीं देखा जाता। गीतिका नमूना देखिये।

राग कामोद (३७)

"अपणे नाँहि सो काहेरि शंका,
ता महामुदेरी गेलि कंथा॥ध्रु०॥
अनुभव सहज मा भोलरे जोई,
चोकोट्टि विमुका जइसो तइसो होइ॥ध्रु०॥
जइसनें अछिले स तइछन अच्छ।
सहज पिथक जोइ भान्ति माहो वास॥ध्रु०॥
वाण्डकुरु सन्तारे जाणी।
वाक्पथातीत काँहि बखानी॥ध्रु०॥
भणइ ताड़क एथु नाँहि अवकाश।
जो बुझइ ता गलें गलपास॥ध्रु०॥

२३. शान्तिपा (रत्नाकरशान्ति) (सिद्ध १२)—मगधके एक शहर में, ब्राह्मणकुलमें इनका जन्म हुआ था। पीछे उडन्तपुरी (बिहार-शरीफ) के विहारमें सर्वास्तिवाद-सम्प्रदायमें प्रव्रजित हुए। श्रावक (हीनयान) त्रिपिटक तथा अन्यान्य ग्रन्थोंको समाप्त कर विक्रम-शिलामें महापण्डित जितारिके पास

१ तिब्बतके सर्वोत्तम कवि और सिद्ध जे-चुन् मि-ला रे-पा (दीक्षा १०७६ ई०; सिद्धिप्राप्ति १०९२ ई०; मृत्यु ११२२ ई०;) के यह गुरु थे, जिनको आज भी तिब्बतका बच्चा-बच्चा जानता है।

चले गये। वहीं सिद्ध नाडपादके भी सत्संगमें आये। विद्या समाप्त कर कुछ दिन सोमपुरी-विहारके स्थविर (महन्त) रहे। फिर मालवा चले गये और उधर ही सात वर्षों तक योगाभ्यासमें रहे। जिस वक्त यह लौटकर भंगल देश-में, विक्रम-शिला पहुँचे, उस समय सिंहल राजदूतने अपने राजाका आग्रह-पूर्वक निमंत्रण इनके सामने रखा। स्वीकृति कर यह सिंहलकी ओर चल पड़े। रामेश्वरके पास इन्हें एक साथी मिला, जो पीछे सिद्ध होकर कुठालिपा (सि० ४४) के नामसे प्रसिद्ध हुआ। सिंहलमें जाकर इन्होंने ६ वर्ष धर्म-प्रचार किया। लौटकर घूमते-घामते जब विक्रम-शिला पहुँचे, तब महाराज महीपाल (९७४–१०२६) की प्रार्थना स्वीकार कर पूर्वद्वारके पण्डित बने। सिद्धोंमें ऐसा जबरदस्त पण्डित कोई नहीं हुआ। इन्हें "कलिकाल-सर्वज्ञ" भी कहा गया है। १०० वर्षसे अधिककी आयुमें इन्होंने शरीर छोड़ा। तन्-जूरमें दर्शन-विषय पर इनके नौ से अधिक ग्रन्थ हैं। इन्होंने छन्दःशास्त्र पर "छन्दोरत्नाकर" ग्रन्थ लिखा है। तन्त्र पर इनके २३ ग्रन्थ मिलते हैं। जिनमें सुख-दुःख द्वयपरित्यागदृष्टि (४८।३७) अपभ्रंशमें था। "चर्यागीति"में इनके निम्न दो गीत मिलते हैं।—

राग रामक्री (१५)

"सअ सम्बेअण सरुअ विआरें,
ते अलक्खलक्खण न जाइ।
जे जे उजूवाटे गेला अनावाटा भइला सोई ॥ध्रु०॥
कुलें कुल मा होइरे मूढ़ा उजूवाटे संसारा,
वाल भिण एकु वाकु ण भूलह राजपथ कण्टारा ॥ध्रु०॥
माआमोहासमुदारे अन्त न बुझसि थाहा,
अगे नाव न भेला दीअस भन्ति न पुच्छसि नाहा ॥ध्रु०॥
सुनापान्तर उह न दिसइ भान्ति न वाससि जान्ते।
एषा अट महासिद्धि सिज्झए उजूवाट जाअन्ते ॥ध्रु०॥
वाम दाहिण दो वाटा च्छाडी,
शान्ति बुलथेउ संकेलिउ।

घाटनगुमाखड़तड़ि नो होइ,
आखि बुजिअ बाट जाइउ ॥ध्रु०॥"

राग शीवरी (२६)

"तुला धुणि धुणि आँसुरे आँसु,
आँसु धुणि धुणि णिरवर सेसु ॥ध्रु०॥
तउषे हेरुअ ण पाविअइ,
सान्ति भणइ किण सभावि अइ ॥ध्रु०॥
तुला धुणि धुणि सुने अहारिउ,
पुन लइआँ अपना चटारिउ ॥ध्रु०॥
बहल बट दुइ मार न दिशअ,
शान्ति भणइ वालाग न पइसअ ॥ध्रु०॥
काज न कारण जएहु जअति,
सँएँ सँवेअण बोलथि सान्ति ॥ध्रु०॥"

भोटिया-ग्रन्थ-संग्रह तन्-जूरमें और भी बहुतसे भाषाकाव्यग्रन्थ अनुवादित हैं, जिनमें कुछको छोड़कर सभी अपभ्रंशके हैं। इनमें कुछ ग्रन्थोंके अब भी दो देशोंसे मिलानेकी आशा है। एक तो नेपालसे, जहाँसे कि, महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्रीको बौद्ध-गान और दोहे मिले थे; और, दूसरे भोट (तिब्बत) से। सिद्धोंकी कितनी ही कविताएँ भोटके स-स्क्य-मठमें अनुवादित हुई थीं। यह मठ अबतक सुरक्षित है और आज भी इसके पुस्तकागारमें तालपत्रकी पुस्तकें राजकीय मुहरके अन्दर बन्द हैं। हो सकता है कि, किसी समय इस कोषके खुलने पर कुछ ग्रन्थ मिल सकें। भोटमें और भी जहाँ-तहाँ कभी-कभी कोई-कोई पुराने भारतीय ग्रन्थ मिल जाते हैं। लेखक जिस समय तिब्बतमें था, उस समय टशील्हुन्पोंमें शलुके लामाने भारतीय लामा जान कर एक ताल-पोथी प्रदानकी थी। पुस्तकका नाम "वज्रडाकतन्त्र" है और इसका अनुवाद भोटिया-कंजूरमें वैशाली (बसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर) के कायस्थ पण्डित गयाधरने, ग्यारहवीं शताब्दीके मध्यमें, किया था। कई कारणों से मालूम होता है कि, यह अनुवादकी मूल प्रति है।

यहाँ तन्-जूरमें अनुवादित कुछ अपभ्रंश काव्यों और उनके कर्ताओंकी सूची दी जाती है

| कविनाम | ग्रन्थनाम | तन्-जूरमें[1] |
|---|---|---|
| २४. अचिन्त | तीर्थिका चण्डालिका | त० ४८।६७ |
| २५. अज्ञात कवि | गीतिका | त० ४८।२०, २३, २४ |
| | डाकिनीतनुगीति | त० ४८।१११ |
| | योगिनीप्रसरगीतिका | त० ४८।३२ |
| | वज्रगीति | त० ४७।३२ |
| | ,, | त० ८५।२० |
| | ,, सिद्धयोगि- | त० ४८।१०९ |
| २६. [2]अद्वयवज्र (मैत्रीपा) | अबोध-बोधक | त० ४७।३९ |
| | गुरुमैत्रीगीतिका | त० ४८।१३ |
| | चतुर्मुद्रोपदेश | त० ४७।३७ |
| | चित्तमात्रदृष्टि | त० ४८।४५ |
| | दोहानिधितत्त्वोपोदेश | त० ४६।३३ |
| | वज्रगीतिका। चतुर्– | त० ४८।१२ |
| २७. अयो (अजो) गिपा (सिद्ध २६)[3] | चित्तसम्प्रदायव्यवस्थान | त० ४८।६१ |
| | वायुस्थान-रोग-परीक्षण | त० ४८।८१ |
| | विषनिर्वहण-भावनाक्रम | त० ४८।९५ |

---

१ यह पता Cordier के सूचीपत्रकी दूसरी-तीसरी जिल्दोंके तन्त्र-टीका-विभागका है।

२ इनका नाम अवधूतीपा भी है; यह दीपंकर श्रीज्ञान (जन्म ई० ९८२-१०५४ मृ०)के गुरु थे।

३ तिब्बती ग्रन्थोंमें अनुवाद-ग्रन्थकी मूल भाषाके लिए सिर्फ भारतीय भाषा लिखा रहता है, संस्कृत और भाषाका फर्क नहीं किया जाता। दोहा, गीति, दृष्टिशब्दवाले नाम तो भाषा-ग्रन्थोंके हैं; किन्तु यहाँ उन ग्रन्थोंको भी भाषामें गिना गया है, जो कि, भाषा-ग्रन्थोंके वेष्टन (४८, ४७)में हैं या सिद्धोंसे सम्बन्ध रखते हैं।

| कविनाम | ग्रन्थनाम | तन्-ज्यूरमें |
|---|---|---|
| २८. इन्द्रभूतिपा (सि० ४२) | तत्त्वाष्टक-दृष्टि | त० ४८।४२ |
| २९. कंकालमेखला (सि० ६६।६७ | सनातनावर्तत्रयमुखागम | त० ४८।८९ |
| ३०. कंकालिपाद (सि० ७) | सहजानन्तस्वभाव | त० ४८।९० |
| ३१. कमरिया (सि० ४५) | सोमसूर्यबन्धनोपाय | त० ४८।७१ |
| ३२. किलपाद (सि० ७३) | दोहाचर्यागीतिकादृष्टि | त० ४८।३५ |
| ३३. कुद्दालिपाद (सि० ४४) | अचिन्त्यक्रमोपदेश | त० ४६।१३ |
| | चित्ततत्त्वोपदेश | त० ४८।८२ |
| | सर्वदेवतानिष्पन्नक्रममार्ग | त० ४८।७० |
| ३४. कुरुकुल्ला (?) | महामुद्राभिगीति | त० ४८।९९ |
| ३५. केरलिपा | तत्त्वसिद्धि | त० ४७।३; ८५।१५ |
| ३६. कोकलिपा (सि० ८०) | आयुः परीक्षा | त० ४८।९४ |
| ३७. गयाधर (कायस्थ पण्डित) | ज्ञानोदयोपदेश | त० १३।६५ |
| ३८. गोरक्षपा (सि० ९) | वायुतत्त्वभावनोपदेश | त० ४८।५१ |
| ३९. घंटापा (सि० ५२) | आलिकालिमन्त्रज्ञान | त० ४८।७८ |
| ४०. चमरिया (सि० १४) | प्रज्ञोपायविनिश्चयसमुदय | त० ४८।५५ |
| ४१. चम्पकपा (सि० ६०) | आत्मपरिज्ञानदृष्ट्युपदेश | त० ४८।८६ |
| ४२. चर्पटीपा (सि० ५९) | चतुर्भूतभवाभिवासनाक्रम | त० ४८।८५ |
| ४३. चेलुकपाद (सि० ५४) | षडंगयोगोपदेश | त० ४।२१ |
| ४४. चोरंगीपा (सि० १०) | वायुतत्त्वभावनोपदेश | त० ४८।५२ |
| ४५. छत्रपा (सि० २३) | शून्यताकरुणादृष्टि | त० ४८।४० |
| ४६. जगन्मित्रानन्द (मित्रयोगी)[1] | पदरत्नमाला | त० ८४।९ |
| | बन्धविमुक्त्युपदेश | त० ४८।१२६ |
| | योगिस्वचित्तग्रन्थिविमोचकोपदेश | त० ४८।१२८ |

१ गहड़वार महाराज जयचन्द्रके गुरु थे। देखिये "मन्त्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध"।

| कविनाम | ग्रन्थनाम | | तन्-जूरमें |
|---|---|---|---|
| ४७. थगनपा (सि० १९) | दोहाकोषतत्त्व-गीतिका | त० | ४८।६ |
| ४८. दीपंकर श्रीज्ञान[1] | चर्यागीत | त० | १३।४४ |
| | धर्मगीतिका | त० | ४८।३४ |
| | धर्मधातुदर्शनगीति | त० | ४७।४७ |
| | वज्रासनवज्रगीति | त० | १३।४७ |
| ४९. दृष्टिज्ञान (?) | गीतिका | त० | ४८।१९ |
| | वज्रगीतिका | त० | ४८।१८ |
| ५०. दोखंधिपा (सि० २५) | चतुरक्षरोपदेश | त० | ८२।१७ |
| | महायानावतार | त० | ४८।६० |
| ५१. धर्मपा (सि० ३६) | कालिभावनामार्ग | त० | ४८।७९ |
| | सुगतदृष्टिगीतिका | त० | ४८।९ |
| | हुंकारचिन्तविन्दुभावनाक्रम | त० | ४८।७४ |
| ५२. धहुलि(—दउड़ि) पा [सि० ४०] | शोकदृष्टि | त० | ४८।४४ |
| ५३. धंतन | चित्तरत्नदृष्टि। | त० | ४८।४१ |
| ५४. धोकरिपा (सि० ४९) | प्रकृति-सिद्धि | त० | ४८।७५ |
| ५५. नलिनपाद (सि० ४०) | धातुवाद | त० | ४८।६८ |
| ५६. नागबोधि (सि० ७६) | आदियोगभावना | त० | ४८।९१ |
| ५७. नागार्जुन (सि० १६) | नागार्जुनगीतिका | त० | ४८।३३ |
| | स्वसिध्युपदेश | त० | ४८।५६ |
| ५८. निर्गुणपा (सि० ५७) | शरीरनाडिका-बिन्दुसमता | त० | ४८।४ |

---

१ वैशाली (बसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर)के रहनेवाले तथा अवधूतिपाके शिष्य थे। दीपंकरके कालमें यह भी भोट गये और वहाँ बहुतसे ग्रन्थोंका भोटिया-भाषामें अनुवाद कर कई वर्षों बाद तीन सौ तोला सोनेकी बिदाईके साथ भारत लौटे थे।

| | कविनाम | ग्रन्थनाम | | तन्-जूरमें |
|---|---|---|---|---|
| ५९. | निष्कलंकवज्र | बन्धविमुक्तिशास्त्र[1] | त० | ४८।१२३ |
| ६०. | नीलकण्ठ | अद्वयनाडिकाभावनाक्रम | त० | ४८।९६ |
| ६१. | पंकज (सि० ५१) | अनुत्तरसर्वशुद्धिक्रम | त० | ४८।७७ |
| | | स्थानमार्गफलमहामुद्राभावना | त० | ४८।६९ |
| ६२. | पनहपा (सि० ७९) | चर्यादृष्टअनुत्पन्नतत्त्वभावना | त० | ४८।९६ |
| ६३. | परमस्वामी (नृसिंह)[2] | दोहाचित्तगुह्य | त० | ४८।७३ |
| | | महामुद्रारत्नाभिगीत्युपदेश | त० | ४८।१०५ |
| | | वज्रडाकिनीगीति | त० | ४८।१० |
| | | सकलसिद्धवज्रगीति | त० | ४८।११३ |
| ६४. | पुतलीपा (सि० ७८) | बोधिचित्तवायुचरणभावनोपप्य | त० | ४८।९२ |
| ६५. | महासुखतावज्र (शान्तिगुप्त) | महासुखतागीतिका[3] | त० | ४८।३१ |
| | | योगगीता | त० | ८६।८९ |
| ६६. | मेकोपा (सि० ४३) | चित्तचैतन्यशमनोपाय | त० | ४८।६९ |
| ६७. | मेदिनीपा (सि० ५०) | सहजाम्नाय | त० | ४८।७६ |
| ६८. | राहुलभद्र (सि० ४७) | अचिन्त्यपरिभावना | त० | ४८।७३ |
| ६९. | ललित (वज्र) | महामुद्रारत्नगीति | त० | ४८।११२ |

१ भारतीय ग्रन्थोंका भोटिया-अनुवाद पण्डित और लोचवा ( = भोटिया दुभाषिया) मिलकर किया करते थे। इस ग्रन्थके अनुवादमेंमें जगन्मित्रानन्द पण्डित थे।

२ यह भारतीय सिद्ध पण्डित थे। १०९१ ई० में भोट, ११०० ई० में चीन, १११२ ई० में अन्तिम बार भोटमें गये। भोटियामें इन्हें फादम्-पा ( = सत्पिता) भी कहते हैं। इनका देहान्त १११७ ई० में हुआ।

३ इसका अनुवाद गुजरातके पण्डित पूर्णवज्र और लामा तारानाथने मिलकर किया। ग्रन्थकर्ता शान्तिगुप्त हुमायूँ और अकबरके समकालीन थे। इनका जन्म दक्षिण-देशके जलमण्डल (?) देशमें हुआ था।—"रत्नाकरजोपमकथा"।

| कविनाम | ग्रन्थनाम | | तन्-जूरमें |
|---|---|---|---|
| ७०. लीलावज्र (सि० २) | विकल्पपरिहारगीति | त० | ४८।३ |
| ७१. लुचिकपा (सि० ५६) | चण्डालिकाबिन्दुप्रस्फुरण | त० | ४८।८३ |
| ७२. वज्रपाणि[1] | वज्रपद | त० | ४६।४१ |
| ७३. वैरोचनवज्र | वीरवैरोचनगीतिका | त० | ४८।२५ |
| ७४. शाक्यश्रीभद्र[2] | चित्तरत्न-विशोधन-मार्गफल | त० | ४८।१२५ |
| | वज्रपदगर्भसंग्रह | त० | ५।३ |
| | विशुद्धदर्शनचर्योपदेश | त० | ४८।१२४ |
| ७५. शृगालपाद (सि० २७?) | रत्नमाला | त० | ४८।५८ |
| ७६. सर्वभक्ष (सि० ७५) | करुणाचार्यकपालदृष्टि | त० | ४८।४६ |
| ७७. सवरभद्र | वज्रगीतावबाद | त० | ४४।२१ |
| ७८. सहजयोगिनीचिन्ता | व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि | त० | ४६।७ |
| ७९. सागर (सि० ७४) | आलिकालिमहायोगभावना | त० | ४८।८० |
| ८०. समुद्र (सि० ८३) | सूक्ष्मयोग | त० | ४८।९७ |
| ८१. सुखवज्र | मूलप्रकृतिस्थभावना | त० | ४७।३६ |

१ दीपंकर श्रीज्ञानके पीछे (१०६५ ई० में) यह तिब्बत गये और वहाँ बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद किया।

२ शाक्यश्रीभद्र (जन्म ११२६ ई०) विक्रम-शिलाके अन्तिम प्रधान स्थविर थे। महम्मद-बिन्-बख्तियार द्वारा विक्रमशिलाके नष्ट किये जानेपर यह जगत्ताला चले गये और वहीं तीन वर्ष रहे। वहाँसे विचरते नेपाल गये। वहींसे ख्रो-लोचवा (१२०३ ई० में) इन्हें तिब्बत ले गया। स-स्क्य-विहारका लामा इनका भिक्षु-शिष्य बना। बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद एवं धर्म-प्रचार कर सन् १२१२ ई० में यह अपनी जन्मभूमि कश्मीर लौट गये। वहीं १२२४ ई० में इनका देहान्त हुआ।

# ११. बौद्ध नैयायिक

## (१) मैथिल नैयायिक

न्याय-शास्त्र और वाद-विवादसे बहुत सम्बन्ध है। यदि बौद्ध, ब्राह्मण तथा दूसरे सम्प्रदायोंका पूर्वकालमें आपसका वह विचार-संघर्ष और शास्त्रार्थ न होता रहता, तो भारतीय न्यायशास्त्रमें इतनी उन्नति न हुई होती। वाद या विचारोंके शाब्दिक संघर्षकी प्रथाके आरम्भ होते ही वादी-प्रतिवादीके भाषण आदिके नियम बनने लगते हैं। भारतमें ऐसे शास्त्रोंका उल्लेख हम सर्वप्रथम ब्राह्मण-ग्रन्थोंके उपनिषद्-भागमें पाते हैं।

वेदका संहिताभाग मंत्र और ऋचाओंके रूपमें होनेसे, वहाँ भिन्न-भिन्न ऋषियोंके विवादोंका वैसा उल्लेख नहीं हो सकता, तो भी वशिष्ठ और विश्वामित्रका आरम्भिक विवाद ही इसका कारण हो सकता है, जो कि वशिष्ठके वंशज, विश्वामित्र और उनकी संतानके बनाए ऋग्वेदके भागको पढ़ना निषिद्ध समझते थे और वही बात विश्वामित्रके वंशज वशिष्ठसे सम्बन्ध रखनेवाले मंत्र-भागके साथ करते थे। ये बतलाते हैं कि, मंत्रकाल और उसकी क्रीडा-भूमि सप्त-सिन्धु (पंजाब)में भी किसी प्रकारके वाद हुआ करते होंगे।

कितनी ही शताब्दियों तक आर्य लोगोंमें यज्ञ और कर्मकाण्डोंकी प्रधानता रही, युक्ति और तर्ककी श्रुतिके सामने चलती न थी। उस समय भी कुछ लोग स्वतंत्र विचार रखते थे। और उनका कर्मकाण्डियोंके साथ विचार-संघर्ष होता था, इसी विचार-संघर्षका मुख्य फल हम उपनिषद्के रूपमें पाते हैं। उपनिषद्-कालमें तो नियमानुसार परिषदें थीं, जहाँ बड़े-बड़े विद्वान् विवाद करते थे। इन परिषदोंके स्थापक राजा होते थे, और बादमें विजय पानेवालेको उनकी ओर से उपहार भी मिलता था। विदेहों (तिर्हुत) की परिषद्में इसी प्रकार याज्ञवल्क्य को हम विजयी होते हुए पाते हैं और जनक उन्हें हजार गौवें प्रदान करते हैं।

सप्तसिन्धुसे इस वादप्रथाको तिर्हुत तक पहुँचनेमें उसे पंचाल (अन्तर्वेद और रुहेलखंड) और फिर काशी देश (बनारस, जौनपुर, मिर्जापुर, आजमगढ़के जिले) से होकर आना पड़ा था। इस प्रकार प्राचीन ढँगकी तर्क-प्रणाली सबसे पीछे तिर्हुतमें पहुँचती है। (यद्यपि आजकल मिथिलाको तिर्हुतका पर्यायवाची शब्द मानते हैं, जैसेकि काशीका बनारसको, किन्तु प्राचीन समयमें 'मिथिला' एक नगरी थी, जो विदेह देशकी राजधानी थी। उसी तरह काशी देशका नाम था, नगरका नहीं; नगर तो वाराणसी थी, जिसका ही बिगड़ा रूप बनारस है।)

यद्यपि तिर्हुतमें वादप्रथा वैदिक युगके अन्तमें (६०० ईसा पूर्वके आस-पास) पहुँची, किन्तु आगे कुछ परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हुईं कि भारतीय न्यायशास्त्रके निर्माणमें तिर्हुतने प्रधान भाग लिया। वस्तुतः, बौद्ध न्यायशास्त्रके जन्म एवं विकासकी भूमि यदि मगध है, तो ब्राह्मण-न्यायके बारेमें वही श्रेय तिर्हुतको प्राप्त है।

अक्षपाद, वात्स्यायन, और उद्योतकरकी जन्म-भूमि और कार्यभूमि तिर्हुत थी, यद्यपि इसका कोई इतना पुष्ट-प्रमाण नहीं मिलता। वेद तथा उसकी मान्यताओं पर प्रचण्ड प्रहार करनेमें मगध प्रधान केन्द्र था; साथ ही जब उपनिषद्के तत्त्वज्ञानकी अन्तिम निर्माणभूमि विदेहके होने पर भी ख्याल करते हैं; तो यह बात स्पष्ट ही जान पड़ने लगती है कि ब्राह्मण न्याय-शास्त्रकी जन्मभूमि गंगा के उत्तर तरफ तिर्हुत ही होना चाहिये।

"वादन्याय"की टीकामें आचार्य शान्तरक्षित (७४०–८४० ई०) ने अविद्धकर्ण, प्रीतिचंद दो नैयायिकोंके नाम उद्धृत किये हैं। जिनमें प्रथमने वात्स्यायनभाष्य पर टीका लिखी थी। ये दोनों ही ग्रंथकार वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) से पहलेके हैं किन्तु उद्योतकर भारद्वाजसे पहलेके नहीं जान पड़ते। इनकी जन्म-भूमिके बारेमें भी हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते, किन्तु प्रतिद्वंदिता-केन्द्र नालंदा होनेसे बहुत कुछ सम्भावना उनके तिर्हुत ही होनेकी होती है।

त्रिलोचन और वाचस्पति मिश्रके बाद तो ब्राह्मण-न्यायशास्त्र पर तिर्हुतका एकछत्र राज्य हो जाता है। वह उदयन और वर्द्धमान जैसे प्राचीन न्यायके आचार्योंको पैदा करता है, और गंगेश उपाध्यायके रूपमें तो उस नव्य-न्यायकी सृष्टि करता है, जो आगे चलकर इतना विद्वत्प्रिय हो जाता है कि प्राचीन

न्याय शास्त्रकी पठन-पाठन-प्रणालीको ही उठा देता है। यद्यपि नव्य-न्यायके विकासमें नवद्वीप (बंगाल)का भी हाथ है, तो भी हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०)के बादसे मिथिला (देशके अर्थमें) न्याय-शास्त्र (प्राचीन और नव्य दोनों ही)का केन्द्र बन जाती है, और हर एक कालमें भारतके श्रेष्ठ नैयायिक बननेका सौभाग्य किसी मैथिल ही को मिलता है।

## (२) बौद्ध नैयायिक

बौद्ध धर्मके संस्थापक गौतम बुद्धका जन्म ईसापूर्व ५६३ सन्‌में, और निर्वाण ४८३में हुआ था। बुद्धके उपदेशोंके संग्रहको 'त्रिपिटक' कहा जाता है। यह पाली भाषामें अब भी मिलते हैं। यह विशाल साहित्य अप्रत्यक्षरूपेण ईसा पूर्व पाँचवीं छठी (कुछ स्थानों पर तीसरी तक) शताब्दीके उत्तर भारतके परिचयमें अनमोल सहायता प्रदान करता है।

इनके देखनेसे मालूम होता है, कि उस समय 'तक्की' (तार्किक) "बीमंसी" (मीमांसक) लोगोंका बड़ा जोर था। विचार-स्वातंत्र्य उस कालकी एक बड़ी विशेषता थी। हर एक पुरुष अपने विचारोंको खुले तौरसे प्रचार कर सकता था। न उसमें राज्यकी ओरसे कोई बाधा थी और न समाज कोई रुकावट डालता था। परलोक मानने वाले ईश्वर-अनीश्वर-वादी ही नहीं, जड़वादी (उच्छेदवादी, देहके अंतके साथ जीवनका अन्त मानने वाले) तक भी अपने मतका प्रचार करते राजा-प्रजामें खूब सम्मानित होते थे। यही नहीं पायासी[1] जैसे कोसलके सामन्त-राजाको तो अपने जड़वादको छोड़नेमें लोक-लज्जाका भय खाते पाते हैं। बुद्धके समकालीन ६ आचार्योंमें मक्खली गोसाल इसी मतके मानने वाले थे। शास्त्रार्थकी प्रथा तो उस समय इतनी जबर्दस्त थी कि पुरुषोंकी तो बात ही क्या, स्त्रियाँ तक जम्बूद्वीपमें अपनी प्रतिभाकी विजय-ध्वजा फहराती-सी जम्बू-वृक्षकी शाखा लिये शास्त्रार्थ करनेके वास्ते देशमें विचरण किया करती थीं। 'त्रिपिटक" में कितन ही ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें बुद्धसे वाद करनेकी घटनाओंका उल्लेख है।

कितने ही सिंहनाद सूत्र तो इन्हीं वादोंसे सम्बन्ध रखते हैं। वहीं पहले-

---

१ दीघनिकाय, पायासिसुत्त।

पहल हमें निग्रह-स्थानकी झलक मिलती है और यद्यपि बौद्ध नैयायिक (दिङ्-नाग, धर्मकीर्ति आदि) पंचावयव वाक्यको न मान प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण-तीन ही अवयवोंको मानते हैं, किन्तु सूत्रपिटक (त्रिपिटकका एक भाग) में हम कम-से-कम उपनयका साफ प्रयोग देखते हैं। इस प्रकार ईसा पूर्व छठी शताब्दीमें चतुरवयव और निग्रहस्थानसे हम बौद्धन्यायका आरम्भ होते देखते हैं। ईसापूर्व तीसरी शताब्दीका ग्रन्थ 'कथावत्थु' (अभिधर्मपिटक) उसी प्राचीन शैली का एक वादग्रन्थ है। उसके वाद "मिलिन्दप्रश्न" में भी न्यायके कुछ पारिभाषिक शब्दोंका उल्लेख आता है और नीतिके नामसे न्यायका भी नाम आता है। 'मिलिन्दप्रश्न' के मूल रूप चाहे सागल (स्यालकोट) के यवन राजा मिनान्दरके समय (ई० पू० दूसरी शताब्दी) में आरम्भ हुआ हो, किन्तु जिस रूपमें वह हमें मिलता है, उससे वह ईस्वी पहिली दूसरी शताब्दीमें परिवर्द्धित हुआ मालूम होता है। ईस्वी चौथी शताब्दीमें चीन भाषामें उसका अनुवाद होनेसे वह पीछे नहीं लाया जा सकता।

ईसाकी पहली शताब्दीमें हम कनिष्कके समकालीन साकेतक (अयोध्याजन्मा) आर्य सुवर्णाक्षीपुत्र भदन्त अश्वघोषके रूपमें एक अद्भुत प्रतिभाशाली बौद्ध विद्वान्को पाते हैं। अश्वघोषके बुद्धचरित और कुछ टीकाओंमें तथा कुछ छोटे-छोटे अन्य ग्रन्थ तिब्बती और चीनी भाषामें अनुवादित हुए मिलते हैं। किन्तु उनके सारे ग्रन्थोंकी अनुवाद होनेकी बात तो अलग, हमें उनके बहुतसे ग्रन्थोंका नाम भी नहीं मालूम है। मध्यएसिया की बालुका भूमि से ईस्वी दूसरी शताब्दीका लिखा अश्वघोषका 'सारिपुत्रप्रकरण' नाटक मिला है। 'सौन्दरा नन्द' काव्यका चीनी या तिब्बती भाषामें अनुवाद नहीं हुआ था, किन्तु सौभाग्यसे हमें संस्कृतमें मिल गया। वादन्यायकी टीकामें आचार्य शांतरक्षितने अश्व-घोषकी एक दूसरी कृति 'राष्ट्रपाल नाटक' का जिक्र किया था। अश्वघोष महान् कवि ही न थे, बल्कि बौद्ध-दर्शनकी अपूर्वताने उन्हें ब्राह्मणधर्मसे बौद्धधर्मकी ओर खींचा था। उनके ग्रन्थोंमें यद्यपि न्यायपर कोई नहीं मिला है, किन्तु उनमें अन्य सांख्य आदि दर्शनोंका नाम ही नहीं, बल्कि विवाद रोपा गया है और उससे अनुमान होता है, कि अश्वघोषने कोई खंडनात्मक दर्शन-ग्रंथ जरूर लिखा होगा। ईसाकी दूसरी शताब्दी के अक्षपादके न्याय

सूत्रोंमें हम आत्मा, शब्द प्रमाण, सामान्य, अवयवी आदि पर बौद्धोंकी ओरसे किये आक्षेपों का उत्तर दिया जाते देखते हैं, उससे भी उसके पहले किसी ऐसे बौद्ध आचार्यका होना जरूरी मालूम होता है।

## नागार्जुन (२०० ई०)

बौद्ध न्यायपर सबसे पुराने जो ग्रन्थ मिलते हैं, नागार्जुनके ही हैं। नागार्जुनका जन्म बरार (विदर्भ) में हुआ था, किन्तु वह अधिकतर आन्ध्रदेशके धान्यकटक और श्रीपर्वत स्थानोंमें रहते थे। वह बौद्धोंके माध्यमिक दर्शन (शून्यता या सापेक्षतावाद) के आचार्य थे। उनके तीन छोटे-छोटे न्याय निबन्ध अब चीनी भाषाहीमें मिलते हैं, जिनमेंसे एक विग्रहव्यावर्त्तनी तिब्बतसे मुझे मिली। वात्स्यायन-भाष्य में कितनी ही जगहोंपर हम स्पष्ट बौद्धोंके आक्षेपोंके खंडन पाते हैं। वात्स्यायनके पूर्व किस बौद्धने ये आक्षेप किये होंगे? नागार्जुनके उक्त ग्रन्थके देखने से स्पष्ट मालूम होता, कि प्रमाण स्थापना प्रकरणमें वात्स्यायनने जिस ग्रन्थका खंडन किया है, वह नागार्जुन ही हैं। सिर्फ न्याय या प्रमाण शास्त्रपर विस्तृत ग्रन्थ लिखने वाले आचार्य दिङ्नाग हैं, इसीलिए उन्हें मध्यकालीन भारतीय तर्कशास्त्रका पिता कहा जाता है। जैसे, गंगेशोपाध्यायकी तत्त्वचिन्तामणि न्यायशास्त्रमें एक नये युगका आरम्भ करती है, जो कि अब तक चला जा रहा है, उसी प्रकार दिङ्नागका "प्रमाण समुच्चय" एक नया युग आरम्भ करता है, जो कि गंगेशके काल (१२० ई०) तक रहता है।

## वसुबन्धु (४०० ई०)

नागार्जुनके बादकी डेढ़ शताब्दियोंमें भी बौद्ध नैयायिक हुए होंगे किन्तु उनकी कृतियोंका हमें कोई पता नहीं। अन्तमें हम वसुबन्धु (४००ई०) को "वादविधि" या "वादविधान" लिखते पाते हैं। यह ग्रंथ अब तक न संस्कृत हीमें मिला है, और न इसका चीनी या तिब्बती भाषाओंमें ही अनुवाद हुआ था। किन्तु इस ग्रंथका नाम धर्मकीर्ति (६०० ई०) के 'वादन्याय' ग्रन्थमें मिलता है। "वादन्यायः परहितरतैरेष सद्भिः प्रणीतः" पर व्याख्या करते शान्तरक्षित (७४०-८४० ई०) ने लिखा है—"अयं वादन्यायमार्गः सकललोकानिबन्धनबन्धुना वादविधानादौ-आर्यवसुबन्धुना महाराजपथीकृतः। क्षुण्णश्च तदनु-महत्यां न्यायपरीक्षायां कुमतिमतमत्त मातंग-शिरःपीठपाटनपटुभिराचार्यदिङ्नाग-

पादैः।" इस वाक्यसे मालूम होता है, कि वसुबन्धुने न्यायशास्त्र पर वादविधान नामक ग्रंथ लिखा था। न्यायवर्तिककार[1] उद्योतकर भारद्वाजने भी कितनी ही जगहोंपर इस ग्रन्थका नामोल्लेख किया है, और कितनी ही जगहों पर बिना नाम दिये भी खण्डन किया है, किन्तु वहाँ व्याख्या करते वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०)ने नाम दिया है—

"यद्यपि वादविधौ साध्याभिधानं प्रतिज्ञेति प्रतिज्ञालक्षणमुक्तं तदप्युभयथा दोषान्न युक्तम्।"

"यद्यपि वादविधानटीकायां साधयतीति शब्दस्य स्वयंपरेण च तुल्यत्वात् स्वयमिति विशेषणम्।"

(न्या० वा० पृ० ११७)

पिछले उदाहरणमें 'वादविधान' नाम समानार्थक होनेसे वह 'वादविधि'के लिये ही प्रयुक्त हुआ मालूम होता है। वादविधानकी जिस टीकाका यहाँ जिक्र आया है, उसके रचयिता शायद दिङ्नाग थे। क्योंकि दिङ्नाथ वसुबन्धुके शिष्य थे। हो सकता है, जिसे शान्तरक्षितने, ऊपरके जिस उद्धरणमें "सदन महत्यां न्यायपरीक्षायां" लिखा है, वह न्यायपरीक्षा वसुबन्धुके वादविधानकी टोका हो अथवा उसीका कोई पोषक ग्रन्थ हो।

न्यायवार्तिकके निम्न उद्धरणोंमें यद्यपि वादविधिका नाम नहीं आया है, किन्तु वे वसुबन्धुके इसी प्रसिद्ध ग्रन्थके मालूम होते हैं।

" अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति।"

(पृ० ४०)

इसपर टीका करते हुए वाचस्पति मिश्रने लिखा है—

"तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वासुबन्धवं तत्प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति। अपरे पुनरिति।"

"एतेन साध्यत्वेनेप्सितः पक्ष इति प्रत्युक्तम्।"

(न्या० वा० ११६)

---

१ चौखम्भासंस्कृतसीरीज, बनारस १९१६ ई०।

इस पर वाचस्पति कहते हैं—

"अत्रापि च वसुबन्धुलक्षणे विरुद्धार्थनिराकृतग्रहणं न कर्त्तव्यम्।"

(ता० टी० पृ० २७३)

एक जगह उद्योतकरने वसुबन्धुके वादलक्षणको इस प्रकार उद्धृत किया है—

"अपरे तु स्वपरपक्षयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं वचनं वाद इति वादलक्षणं वर्णयन्ति। (न्या० वा० १५०)

यहाँ पर टीका[1] करते वाचस्पतिने पूर्वपक्षीका नाम वसुबन्धु दिया है—

"तदेवं स्वाभिमतवादलक्षणं व्याख्याय वासुबन्धवं लक्षणं दूषयितुमुपन्यस्यति। अपरे त्विति।"

(ता० टी० ३१७)

इन उद्धरणोंसे यह भी मालूम होता है कि वसुबन्धुने अपने ग्रन्थमें प्रत्यक्ष आदिके लक्षण भी लिखे थे और वह धर्मकीर्तिके वादन्यायकी भाँति सिर्फ निग्रह-स्थान ही पर नहीं था।

वसुबन्धुके एक ग्रन्थ तर्कशास्त्रको चीनी भाषामें परमार्थ (५५० ई०) ने अनुवाद किया था। तर्कशास्त्र ग्रन्थका नाम न हो, कर विषय मालूम होता है।

वसुबन्धुके समयके बारेमें बहुत मतभेद है, कितने ही पंडित उन्हें तीसरी शताब्दीमें ले जाना चाहते हैं और जापानके विद्वान् डा० तकाकुसू ५०० ई० में लाना चाहते हैं। डा० तकाकुसूने वसुबन्धुका समय निर्धारण करनेमें बहुत परिश्रम किया है, किन्तु उनके समयके माननेमें बहुतसी कठिनाइयाँ दीख पड़ती हैं।

(१) वसुबन्धुके ज्येष्ठ सहोदर असंगके ग्रन्थोंका धर्मरक्षाने चीनी भाषामें अनुवाद किया था। धर्मरक्षा ४०० ई०में चीनमें थे।

(२) वसुबन्धुके शिष्य दिङ्नागका नाम कालिदास ने "मेघदूत"के प्रसिद्ध श्लोक 'दिङ्नागानां पथि परिहरन्'में किया है। वहाँ 'दिङ्नागानां'से बौद्ध

---

१ न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका, "चौखम्भासंस्कृत सीरीज", बनारस (१९२५ ई०)।

विद्वान् दिङ्नागसे ही अभिप्राय है, इसकी पुष्टि मल्लिनाथकी टीका ही नहीं करती; बल्कि प्राचीन टीकाकार दक्षिणावर्त्तनाथ भी करते हैं। कुमारगुप्त (४१५-५५ ई०) और स्कन्दगुप्त (४५५-६७ ई०) के समकालीन कालिदाससे पूर्व दिङ्नागका होना माननेपर वसुबन्धुका समय ४०० ई० के पास हो सकता है।

(३) चीनी भाषामें अनुवादित परमार्थ-कृत वसुबन्धुकी जीवनीमें वसुबन्धुको अयोध्याके राजाका गुरु कहा है। उधर वसुबन्धुके नामसे उद्धृत एक श्लोक "सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयः चन्द्रप्रकाशो युवा" को मिलाने पर जान पड़ता है कि वसुबन्धु चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१२) के समकालीन थे।

(४) ३१९ ई० से ४९५ ई० तकका गुप्त काल उत्तरी भारतमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण समय है। इस समयकी पत्थरकी मूर्तियाँ भारतीय मूर्ति-कालके अत्यन्त सुन्दर नमूने समझी जाती हैं। अजन्ता और वाग्के कितने ही इस कालके चित्र उस समयकी चित्रकलाको उन्नतिके शिखरपर पहुँचा प्रदर्शित करते हैं। समुद्रगुप्त (३४०-३७५ ई०) के प्रयाग वाले अशोक स्तम्भपर खुदे श्लोक संगीत और काव्यके कौशलकी सूचना ही नहीं देते हैं, बल्कि कविकुलगुरु कालि-दासकी कविताएँ बतलाती हैं कि वह संस्कृत-कविताका मध्याह्न काल था समुद्रगुप्प (३४०-७५ ई०) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३८०-४१५ ई०) कुमार गुप्त (४१५-५५ ई०) और स्कन्दगुप्त (४५५-६७ ई०) जैसे पराक्रमी शासकों-को लगातार चार पीढ़ियों तक पैदा करते रहना भी उस कालकी खास महत्ताहीको प्रदर्शित नहीं करता, बल्कि यह भी बतलाता है, कि उस कालमें राष्ट्रीय प्रगति सर्वतोमुखीन थी। ऐसे समयमें दर्शन क्षेत्रमें भी कितनी ही नई विभूतियाँ जरूर हुई होंगी और वसुबन्धु और दिङ्नागको हम इन्हीं विभूतियोंमें समझते हैं। इस तरहसे भी वसुबन्धुका समय ४०० ई० ठीक जँचता है।

### दिङ्नाग (४२५ ई०)

दिङ्नाग (४२५ ई०) वसुबन्धुके शिष्य थे, यह तिब्बतकी परम्परासे मालूम होता है। तिब्बतमें इस सम्बन्धकी यह परम्पराएँ आठवीं शताब्दीमें भारतसे गई थीं, इसलिये इन्हें भारतीय परम्परा ही कहना चाहिए। यद्यपि चीनकी परम्परामें दिङ्नागको वसुबन्धुका शिष्य होना नहीं लिखा है, तोभी वहाँ इसके विरुद्ध भी कुछ नहीं पाया जाता। दिङ्नागका काल वसुबन्धु और कालिदासके बीचमें हो

सकता है, इस प्रकार उन्हें ४२५ ई० के आस-पास माना जा सकता है। दिङ्नाग का मुख्य ग्रन्थ "प्रमाणसमुच्चय" है, जो सिर्फ तिब्बती भाषाहीमें मिलता है। उसी भाषामें प्रमाणसमुच्चयपर महावैयाकरण काशिकाविवरण पञ्जिका (न्यास) के कर्त्ता जिनेन्द्रबुद्धि (७००ई०)की टीका भी अनूदित मिलती है। दिङ्नाग भारतके अद्भुत प्रतिभाशाली नैयायिकोंमें थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं।

चीनी परम्परासे मालूम होता है, कि शंकर स्वामी दिङ्नागके शिष्य थे। इसकी पुष्टि मनोरथनन्दीकी प्रमाणवार्त्तिकवृत्तिकी टिप्पणीसे होती है। तिब्बती परम्परा हमें बतलाती है कि दिङ्नागके एक शिष्य ईश्वरसेन थे, जो धर्मकीर्तिके गुरु थे। यहाँ तिब्बती परम्परामें कुछ भूल मालूम होती है, जैसाकि हम आगे बतलायेंगे। शंकर स्वामीका न्यायपर एक ग्रन्थ 'न्यायप्रवेश' मिलता है। तिब्बती परम्पराने ईश्वरसेनको धर्मकीर्ति (६०० ई०) का न्यायमें गुरु माना है, और इसमें सन्देहका कोई कारण नहीं मालूम होता, किन्तु वहीं ईश्वरसेनको दिङ्नागका शिष्य कहा गया है। आगे हम बतलायेंगे कि धर्मकीर्ति ६०० ई०के आस-पास थे। ऐसी हालतमें धर्मकीर्ति और दिङ्नागके बीचके दो सौ वर्षोंमें सिर्फ एक व्यक्ति नहीं हो सकता। अक्सर परम्परामें अप्रधान व्यक्ति छोड़ दिये जाते हैं। मालूम होता है यहाँ भी दिङ्नाग और ईश्वरसेनके बीचकी परम्परा छूट गयी है। ईश्वरसेनका कोई ग्रन्थ किसी भाषामें नहीं मिलता; किन्तु उनकी कुछ बातोंका खण्डन धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकके प्रथम परिच्छेदमें किया है। दुर्वेकमिश्र (११०० ई०)ने भी हेतुबिंदुकी धर्माकरदत्तीय टीकापर व्याख्या करते हुए ईश्वरसेनके मतको उद्धृत किया है, इससे मालूम होता है कि ईश्वरसेनने कोई ग्रन्थ लिखा था।

तिब्बती परम्परा बतलाती है, कि धर्मकीर्तिने जब ईश्वरसेनके पास दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चयको पढ़ा, तब कितने ही स्थल उनके गुरुको भी स्पष्ट न लगते थे। इसके बाद धर्मकीर्तिने स्वयं दूसरी बार उसे अपने आप पढ़ा। जब उन्होंने अपने अर्थको अपने गुरुको सुनाया, तो उन्होंने शाबाशी दी, और प्रमाणसमुच्चयके अर्थ समझनेमें धर्मकीर्तिको उन्होंने दिङ्नागके बराबर बतलाया। फिर धर्मकीर्तिने तीसरी बार पढ़ा और उन्हें उसमें त्रुटियाँ मालूम हुईं। इसीलिये धर्म-

कीर्तिने दिङ्नागके 'प्रमाणसमुच्चय' पर टीका लिखनेकी अपेक्षा वार्त्तिक (प्रमाण-वार्त्तिक) लिखा, जिसमें खंडन करनेमें स्वतंत्रता रहे।

## धर्मकीर्ति (६०० ई०)

धर्मकीर्तिका काल (६०० ई०)—चीनी पर्यटक इचिङने धर्मकीर्तिका वर्णन अपने ग्रन्थमें किया है। इसलिये धर्मकीर्ति ६७९ ई० से पहले हुए। किन्तु युन्-च्वेङने धर्मकीर्तिका नाम नहीं लिया है, इसलिये ऐतिहासिकोंका अनुमान है कि ६३५ ई०में जब युन्-च्वेङ नालंदा पहुँचे, धर्मकीर्तिकी आयु कम रही होगी इसलिये धर्मकीर्तिका काल ३३५-५० ई० माना है। लेकिन युन्-च्वेङके मतसे धर्मकीर्तिको पीछे लाना ठीक नहीं जँचता। हमारी समझमें धर्मकीर्ति युन्-च्वेङसे पहले ही नालंदामें थे, क्योंकि— (१) धर्मकीर्ति नालंदाके प्रधान आचार्य धर्मपालके शिष्य थे। युन्-च्वेङके समय (६३३ ई०) धर्मपालके शिष्य शीलभद्र नालंदाके प्रधान आचार्य थे जिनकी आयु उस समय १०६ वर्ष की थी। ऐसी अवस्थामें धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति ६३५ ई० में बच्चे नहीं हो सकते थे। धर्मकीर्ति सुदूरदक्षिण तिरुमलय (द्रविड़ देश)के प्रतिभाशाली ब्राह्मण थे। ब्राह्मण शास्त्रोंको उन्होंने खूब पढ़ा था, और पीछे बौद्ध सिद्धान्तोंको अपनी स्वतन्त्र बुद्धिके अधिक अनुकूल पा वह बौद्ध हुए थे।

इस प्रकार नालंदाके प्रधान आचार्यके शिष्य होते समय यह बच्चे नहीं हो सकते थे। नालंदाके विश्वविद्यालयमें प्रवेश पानेके लिये द्वारपण्डितोंकी कितनी कठिन परीक्षासे विद्यार्थियोंको गुजरना पड़ता था, यह हमें मालूम है; इससे भी धर्मकीर्ति काफी पढ़े-लिखे होनेपर ही प्रवेशके अधिकारी हो सकते थे। शील-भद्रके प्रधान आचार्य होनेसे पूर्व ही धर्मकीर्ति विद्या समाप्त कर चुके थ, अन्यथा छोटे होनेपर उन्हें शीलभद्रके पास भी पढ़ना पड़ता। और वैसा कोई उल्लेख नहीं है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे धर्मकीर्तिकी आयु कितनी भी कम मानते युन्-च्वेङके समय हम उसे ३०, ३५ वर्षसे कम नहीं मान सकते। फिर धर्मकीर्तिकी प्रतिभा बौद्ध दार्शनिकोंमें अद्वितीय मानी जाती है, उनके प्रतिद्वंद्वी ब्राह्मण नैयायिक भी उनकी प्रतिभाकी दाद देते हैं। ऐसा अद्भुत प्रतिभाशाली पुरुष २५ वर्षकी उम्रमें भी नालंदामें बिना ख्याति पाये नहीं रह सकता। युन्-च्वेङकी चुप्पीका कारण हो सकता है (१) युन्-च्वेङके नालंदा निवासके समयसे

पूर्व ही धर्मकीर्तिका देहान्त हो चुका था और न्यायपर अधिक अनुराग न होनके कारण धर्मकीर्तिकी कृतियों और व्यक्तित्वके प्रति उतना सम्मान भाव न होनेसे उन्होंने उनका जिक्र नहीं किया। युन्-च्वेङ न्यायके पण्डित न थे; यह तो इसीसे मालूम होता है कि उन्होंने दिङ्नागके प्रमाणसमुच्चय जैसे प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका चीनी अनुवाद न कर असंग, वसुबन्धु और शंकरस्वामीके तीन छोटे-छोटे न्याय निबन्धोंका ही अनुवाद कर संतोष कर लिया।

(२) यह कहा जा सकता है कि युन्-च्वेङकी जीवनीके सम्पादक उनके शिष्योंने जान-बूझकर धर्मकीर्तिका जिक्र नहीं आने दिया है। युन्-च्वेङ विद्वान् थे, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु कितनी ही जगहों पर जीवनी-लेखकोंने बहुत अतिशयोक्तिकी है। उदाहरणार्थ, यदि उड़ीसामें कोई अबौद्ध पण्डित बौद्धोंको शास्त्रार्थ करनेके लिए ललकारता है, और उसका सन्देश नालंदा आता है, तो नालंदा युन्-च्वेङको अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजता है। आजकलके पण्डितोंके शास्त्रार्थकी भाँति सातवीं सदीमें भी शास्त्रार्थ संस्कृतमें हुआ करते थे। आजकलकी भाँति उस समय भी वादी-प्रतिवादी खूब कठिन दार्शनिक संस्कृतका प्रयोग करते थे। संस्कृत भाषाका व्याकरण ऐसे भी जटिल है, फिर उक्त प्रकारकी संस्कृतमें शास्त्रार्थ करना आसान काम न था। युन्-च्वेङ प्रौढ़ अवस्थामें भारत आये थे। पढ़ते-पढ़ते दार्शनिक संस्कृतका समझना इनके लिये आसान हो सकता था किन्तु इतनी दक्षता प्राप्त करना संभव न था। इस जगहपर जरूर अत्युक्तिसे काम लिया गया है। ऐसी हालतमें यदि धर्मकीर्ति युन्-च्वेङके समय मौजूद थे, तो उन्हें चित्रपर चित्रित करना हानिकारक समझा गया। इसलिये उन्हें जान बूझकर वहाँ आने नहीं दिया गया। हमारी समझमें तो धर्मकीर्ति युन्-च्वेङके नालन्दा पहुँचनेसे पूर्व ही गुजर चुके थे।

धर्मकीर्तिकी शिष्य-परम्परा तिब्बती ग्रन्थोंमें इस प्रकार मिलती है—

**धर्मकीर्ति की शिष्य-परम्परा**

१. धर्मकीर्ति (६०० ई०), २. देवेन्द्रमति (६५० ई०), ३. शाक्यमति (६७५ ई०), ४. प्रज्ञाकरगुप्त (७०० ई०), ५. धर्मोत्तर (७२५ ई०), ६. यमारि (७५० ई०), ७. विनीतदेव (७७५ ई०), ८. शंकरानन्द (८०० ई०), ९. शंकु-पण्डित (११५० ई०), १०. शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०)। शाक्य श्रीभद्र

विक्रमशिला बिहार (भागलपुर)के अन्तिम प्रधान आचार्य थे। विक्रम-शिलाके तुर्कों द्वारा जलाये जानेपर १२०३ ई० में वह विभूतिचन्द्र (जगत्तला बंगाल) दानशील, संघश्री (नेपाल) आदि बौद्ध पंडितोंके साथ तिब्बत गये। शाक्य-श्रीभद्रके भोटवासी शिष्य स-स्क्यपण्-छेन् आनन्दध्वज अपने ग्रन्थमें अपने गुरुकी परम्परा देते हैं, जिसमें बंकु पण्डितको शंकरानन्दका शिष्य बतलाया गया है। यहाँ भी जान पड़ता है, बीचके कितने ही अप्रधान व्यक्तियोंको छोड़ दिया गया है। शाक्य-श्रीभद्रका काल (जन्म ११२७ ई०, मृत्यु १२२५ ई०) निश्चित है।

इनके अतिरिक्त जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०), धर्माकरदत्त (७०० ई०), कल्याणरक्षित (७०० ई०), रविगुप्त (७२५ ई०), अर्चट (८२५ ई०), शान्त-रक्षित (७४०–८४० ई०), कमलशील (८५० ई०), जिनमित्र (८५० ई०), जयानन्त (९५० ई०), कर्णकगोमी, मनोरथनन्दी, जितारि (१००० ई०), रत्नकीर्त्ति (१००० ई०) आदि कितने ही और विद्वानोंने न्यायपर अपने ग्रन्थ लिखे हैं। जिनेन्द्रबुद्धि वही हैं, जिन्होंने काशिकाविवरणपंजिका या न्यासको लिखा है। शान्तरक्षितके तत्वसंग्रह (संस्कृतमूल)के प्रकाशित हो जानेसे वह और उनके शिष्य कमलशील (तत्व संग्रह-पंजिकाकार) विद्वानोंके सामने आ चुके हैं।

# १२. मागधीका विकास*

भाषा भावका शरीर है। जिस समय एक ही देश में अनेक भाषाओंका राज्य स्थापित नहीं था, लोग अपनी उसी एक भाषामें अपने हृदयके साधारण या कोमल भावों (काव्य) को प्रकट किया करते थे। साढ़े तीन सहस्र वर्ष पूर्वके हमारे कितने ही पूर्वजोंके भाव हमें उन्हींकी भाषामें, वेदके रूपमें मिलते हैं। "छान्दस्" या वेदकी उनकी भाषा थी।

नदीके प्रवाहकी तरह भाषाका प्रवाह गतिशील है। जितनी ही भाषा बदलती गयी, उतनी ही हमारे परवर्ती पूर्वजोंको, इनकी भाषा और कृतियोंमें अधिक लोकोत्तर श्रद्धा बढ़ती गयी और आज भी वह हमारे संस्कृत-प्रेमके रूपमें मौजूद है। समय बीतनेके साथ वह इस फिक्रमें पड़े कि, कैसे हम उसको सुरक्षित और सजीव रखें। इसके लिये उन्होंने (वेद) मंत्रोंको जहाँ संहिता, पद, जटा, घन आदि नाना क्रमसे उच्चारण और कण्ठस्थ करके सुरक्षित किया; वहाँ उस भाषाकी भीतरी बनावटके लिये अपनी-अपनी शाखाके "प्रातिशाख्य" (व्याकरण) बनाये। जब बोल-चालकी भाषामें बहुत अन्तर हो चुका था, तब ईसा पूर्व छठी शताब्दीमें गौतम बुद्ध उत्पन्न हुए। कोई "भाषा" पर विशेष दया करके नहीं—बल्कि वही प्रचलित और उपयुक्त होनेसे उन्होंने लोक-भाषामें लोगोंको धर्मोपदेश किया। हाँ, जब मगध, कोसल, कुरु, अवन्ती, गन्धारके शिष्य, बुद्धके दिये उपदेशों (सूक्तों = सुत्तों) का अपनी-अपनी भाषा ( = निरुक्ति) में पाठ करने लगे, तो कुछ शिष्योंको सूक्तोंकी भाषाका फेर-बदल खटकने लगा और उन्होंने चाहा कि, उसे हजार वर्षकी पुरानी भाषामें करके सुरक्षित कर दिया जाय। बुद्धने उसे मना ही नहीं किया; बल्कि ऐसा करनेको एक अपराध करार दिया। जिस प्रकार नित्य बदलता सिक्का और तोलमान आदमी-

* "गंगा" पत्रिकामें १९३३में छपा लेख।

को खटकता तथा व्यवहारमें परेशानीका कारण होता है, वैसे ही बुद्धके निर्वाण-के तीन-चार शताब्दियों बाद, यह आये दिनकी अदल-बदल धर्मधरोंको अरुचिकर मालूम होने लगी। तब उनमेंसे कुछने तो लकीरका फकीर बन, पुरानी भाषाको (जिसे वह समझते थे कि, वह उसी रूपमें बुद्धके मुखसे निकली थी) ही अपनाये रखा और आगेसे अपनी शक्तिभर फेर-बदल न होने देनेके लिये बाँध बाँधा। दूसरोंने उसे मृत किन्तु अधिक स्थायी संस्कृतमें कर दिया। तथापि इस भाषामें पहली भाषाकी कितनी ही बातें रख छोड़ीं। तीसरे, कुछ लोग और कितनी ही शताब्दियों तक धक्के खाकर, कुछ और फेर-बदल हो जानेपर परवर्त्ती किसी भाषामें उसे सुरक्षित करने पर मजबूर हुए। पहले वाले धर्मधर सिंहलके स्थविरवाद हैं, जो मागधीकी सबसे बड़ी विशेषताएँ—"स" की जगह "श", "न" की जगह "ण" और "र" की जगह "ल" को छोड़ चुके हैं; तो भी कहते हैं, "हमारे धर्म-ग्रन्थ मूल मागधी भाषामें हैं।" हाँ, यदि उच्चारणकी विशेषता-को कोई नगण्य समझे, तो उनका कथन बहुत कुछ सच निकलेगा। सर्वास्तिवाद, महासांघिक आदिने अपने धर्म-ग्रन्थ संस्कृतमें कर दिये तथा महीशासक (आदि कुछ निकायोंने प्राकृतमें।

शताब्दियोंसे ब्राह्मण, कोसीकी भाँति मर्यादा तोड़ भागनेवाली भाषाको व्याकरणके नियमोंसे बाँध-बाँधकर रथ यी करते रहे; परन्तु उन्हें पूरी सफलता न मिली। अन्तमें जनपदोंकी सीमाएँ तोड़कर साम्राज्य स्थापित करनेवाले युगके प्रतापी शासक नन्दोंके कालमें पाणिनि[1] वह बाँध बाँधनेमें सफल हुए, जिसे तोड़नेकी शक्ति संस्कृतमें नहीं रही। तो भी इस बाँधसे संस्कृतके प्रचारमें अधिक फल तबतक नहीं हुआ, जबतक कि, ईसा पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यमें शुंगोंके

---

१ मंजुश्रीमूलकल्पने पाणिनिको नन्दके समयमें माना है देखिये ५३ पटल, पृष्ठ ६१२—

"नन्दोऽपि नृपतिः श्रीमान् पूर्वकर्मापराधतः।
विरागयामासा मन्त्रीणां नगरे पाटलाह्वये॥
.....आयुस्तस्य च वै राज्ञः षट् षष्टीवर्षातथाः।
.....तस्याप्यन्यतमः सख्यः पाणिनिर्नाम माणवः॥"

गुरु गोनर्दीय[1] पतञ्जलि अपनी कलम, ज्ञान और जबानको शुंगोंके[2] प्रभुत्वके साथ मिलाकर इसकी वकालतमें न खड़े हो गये। शुंगोंके बाद गति कभी कुछ मन्द और कभी कुछ तेज होती रही; किन्तु गुप्तोंके समयसे पाणिनि की संस्कृतको वह स्थान प्राप्त हो गया, जो उसे कभी न मिला था। वह स्थान, ईसाकी बारहवीं शताब्दीतक वैसे ही रहकर आज भी हमारे सामने कुछ कम विशाल रूपमें नहीं दिखायी पड़ता है।

यद्यपि शुंगकालमें संस्कृतके प्रबल पक्षपाती उठे। उन्होंने तथा उनके परवर्ती लोगोंने संस्कृतके पक्षमें ऐसा वायुमण्डल तैयार कर दिया कि, कीर्त्ति, मान तथा शिक्षित जनतातक पहुँचनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वान् साहित्यमें संस्कृतको ही व्यवहृत करने पर मजबूर हो गये; तथापि बोलचालकी भाषाओंने[3] चुपचाप अपने अधिकारको अपहृत नहीं होने दिया। किन्तु जहाँ संस्कृतने एक स्थायी अचल-रूप पा लिया था, वहाँ यह बेचारी प्राकृत जबतक भिड़-लड़कर अपने लिये कुछ स्थान बनाती थीं, तबतक वह स्वयं मृत्युका ग्रास हो मृतभाषा बन, अपने सबसे प्रबल शस्त्र—बोलचालकी भाषा होनेको—खो बैठतीं। उन्हें इस जद्दो-जहदका पुरस्कार यही मिलता था कि, कभी-कभी, लोग उनमें भी कुछ लिख दिया करते थे।[4]

पाणिनिके समयमें संस्कृत स्वाभाविक रूपसे बोल-चालकी भाषा न थी; तोभी उस समयकी बोल-चालकी भाषा, उससे इतनी समीप थी कि, कुछ दर्जन नियमोंके साथ उसे पाणिनीय संस्कृतमें बदला जा सकता था। पाणिनीके "भाषा" शब्दसे मतलब है इसी उच्चारणादिके परिवर्तनसे बनी कृत्रिम या "संस्कृत"

१ मालवामें, विदिशा और उज्जैनके बीच, भोपालके पासमें गोनर्द कोई स्थान था।

२ सबसे पुराने संस्कृत शिलालेख शुंगोंके समयमें मिलते हैं।

३ गुणाढ्यकी बृहत्कथा, हालकी गाथासप्तशती आदि इसके उदाहरण हैं।

४ भाषा विज्ञान का क्रम है—१. छन्दस् (१२००-६०० ई० पू०); २. पालि (६००-० ई० पू०), ३. प्राकृत (०-५५० ई०), ४. अपभ्रंश (५५०-१२०० ई०), ५. आधुनिक (१२००-.. ई०)।

भाषासे। उदीची (पंजाब), प्राची ( उत्तर प्रदेश, बिहार ) तथा व्यासनदीके उत्तर-दक्षिण किनारोंतकके रूप और स्वरतकके भेदोंको दिखलानेसे लोग सिर्फ यही नहीं कह उठते हैं—"महतीयं सूक्ष्मैक्षिकाचार्यस्य" (काशिका ४।२।७४); बल्कि साथ ही यह भी कहते हैं कि, पाणिनिके समय वह (पाणिनीय) संस्कृत बोली जाती थी; और, इसीलिए वह उनके कालको नन्दोंके समयमें न रखकर, बहुत पूर्व खींचना चाहते हैं। पाणिनिने अपने व्याकरणके लिये दो स्रोतोंसे मसाला जमा किया। (१) मन्त्र, ब्राह्मण आदि छान्दस् वाङमय, (२) कल्प, शिशुक्रन्द, यमसभ, अग्निकाश्यप आदिके वृत्तोंको लेकर बने ग्रन्थ आदि से। इनमें भी शिशुक्रन्दीय आदि ग्रन्थ संस्कृतमें थे या प्राकृतमें, इसमें सन्देह ही समझना चाहिय। सबसे बड़ा स्रोत था, उदीची और प्राचीकी उस समयकी बोल-चालकी "भाषा" का। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि, उन्होंने अपने समयतकके इस विषयमें हुए प्रयत्नों (अपिशलि, शाकटायन आदिके व्याकरणों) से भी फायदा उठाया।

पाणिनीय संस्कृतका प्रादुर्भाव यद्यपि ईसा-पूर्व चौथी शताब्दीमें हुआ; तथापि पतञ्जलिके समय अर्थात् ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यतक उसका बहुत कम प्रचार रहा। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दीसे ईसाकी तीसरी शताब्दी तक वह क्रमशः अपने क्षेत्र और प्रभावको बढ़ाती गयी; और, चौथी शताब्दीसे उच्चवर्गमें उसका एकछत्र राज्य स्थापित हुआ। प्राकृत समय तक—जब तक कि, संस्कृत और भाषाके क्रियापद और प्रत्यय भी बहुत थोड़े ही फर्कसे संस्कृत किये जा सकते थे, संस्कृतभाषामें, बहुत ही प्राञ्जल, सर्वभावसम्पन्न, प्रसाद युक्त ग्रन्थ लिखे जाते थे। जब "देशीय" (अपभ्रंश) (आधुनिक भाषाओंका प्राचीनतम रूप) का प्रादुर्भाव हुआ और संस्कृतसे अधिक फर्क पड़ गया, तब जीवित स्रोतसे वञ्चित हो संस्कृत-ग्रन्थ भाषाकी दृष्टिसे, बिल्कुल ही कृत्रिम तथा शब्द-दारिद्रयसे पूर्ण बनने लगे।

यह तो हुआ देश-कालके भेदसे न प्रभावित होनेवाली कृत्रिम या "संस्कृत" भाषाके बारेमें। अब जीवित भाषाओंके स्रोतको लें। शताब्दियोंके परिवर्तनकी छाप रखते हुए भी वेद, ब्राह्मण आदि वैदिक साहित्यकी भाषाको पाणिनिने "छन्दस्" कहा है। वह अपने समयमें एक जीवित भाषा थी। उस समय उसको

क्षेत्र अधिकतर गंगा और सिन्धुकी उपत्यकाओंतक संकुचित तथा बोलनेवालोंकी संख्या कम होनेके कारण देश-भेदसे भी भाषा-भेद कम हुआ था। पाणिनिके समयमें सिर्फ प्राची (उत्तरप्रदेश, बिहार) भाषा ही, पांचाली, कोसली और मागधीके तीन क्षेत्रोंमें विभक्त मालूम होती है। विन्ध्य-हिमालयको सबकी सामान्य सीमा मानकर,उनमेंसे कौरवी और पाञ्चाली,घग्घर (शरावती=सरस्वती) से रामगंगातक, कोसली रामगंगासे सरयू तक एवं मागधी सरयूसे कोसी तथा कर्मनाशासे कलिंग तक फैली हुई थी। इनमें कौरवी तथा उदीची (पंजाब) की भाषाओंमें अधिक समानता थी; इसलिये शक्तिशाली राज्योंका केन्द्र उदीची (सिन्धु-तट) से उठकर प्राचीमें पञ्चाल तथा कोसलमें चला आया; तो भी पाञ्चालीने स्थानीय भाषाओंमे विशेष भेद न होनेके कारण कोई विशेष स्थान न प्राप्त किया। उस समय तक तक्षशिलाका विद्या-केन्द्र बना रहना भी इसीका साधक और द्योतक है।

ईसा पूर्व चौथी शताब्दीमें जब मगधका विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ और लक्ष्मीके साथ सरस्वतीने भी मगधमें पधारकर उसे शक्ति और सभ्यताका केन्द्र बना दिया, तब अवस्था बिलकुल बदल गयी। इसमें मगधमें उत्पन्न बौद्ध, जैन जैसे महान् दार्शनिक सम्प्रदाय (जो कि, सिन्धुकी ओर तक फैलते जा रहे थे) और भी सहायक हुए। फलतः मगध, सभ्यताका केन्द्र बननेके साथ अपनी भाषाको सारे भारतमें सम्मानित करानेमें सफल हुआ। उपयुक्त प्रकारसे सम्राटों-की भाषा होनेसे मागधीने सारे भारतमें यहाँ तक सम्मान पाया कि, पीछे नाटककारोंको, राजपुत्रों तथा दूसरे कितने ही उच्च पात्रोंकी भाषा मागधी रखनेका निर्देश करना पड़ा। मागधीका प्राचीनतम उपलब्ध रूप उड़ीसा, बिहार, और उत्तर प्रदेशमें मिलने वाले सम्राट् अशोकके शिलालेख हैं। पाली (दक्षिणी, बौद्ध-त्रिपिटककी भाषा) ने यदि "श" का बायकाट तथा "र" के स्थान पर भरसक "ल" नहीं आने देने की कसम न खायी होती, तो शायद उसे ही मागधीका प्राचीनतम रूप होनेका सौभाग्य प्राप्त होता; किन्तु सिंहलके पुराने गुजराती (सौरसेनी-भाषी) शताब्दियों तक मागधीके उच्चारणको कैसे बनाये रखते? तो भी हम पालीके पुरातन सुत्तोंमें "ल", "श" की भरमार कर उसे मागधीके पास तक पहुँचा सकते हैं। उसके बाद दूसरी मागधी (प्राकृत) नाटकोंकी मागधी है।

हाँ, जैनमूल ग्रन्थोंकी भाषा भी मागधी है। किन्तु शुंगोंके समयसे ही जैन-धर्मका केन्द्र पूर्वसे पश्चिमकी ओर हटने लगा; और उज्जैन आदिकी सैर करते ईसाकी चौथी—पाँचवीं शताब्दियोंमें गुजरात पहुँच गया था, जहाँ पाँचवीं शताब्दीमें (पाली-त्रिपिटकके लेख-बद्ध होनेसे पांच सौ वर्ष बाद) जैन-ग्रन्थ लेखबद्ध हुए। जैन मागधीमें सौरसेनी, महाराष्ट्रीकी पुट पड़ जानेसे वह आधीही मागधी रह गयी थी; इसीलिये अर्द्धमागधी भी उसे कहा गया। लेकिन अशोकके बाद (ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीसे) ईसाकी पहली शताब्दी तककी मागधी (पालि) भाषाका रूप, रामगढ़ पहाड़की गुहाएँ (सरगुजा-राज्य) और बोधगया आदिके कुछ थोड़ेसे और अधिकांश आधे दर्जन शब्दों वाले लेखोंको छोड़कर और नहीं मिलता। ईसाकी दूसरी शताब्दीसे छठी शताब्दी तककी मागधी (प्राकृत) हमें नाटकोंमें मिलती है। छठी से अपभ्रंश मागधीका जमाना शुरू होता है। लेकिन पांचाली-अपभ्रंशकी[1] भाँति मागधी-अपभ्रंशमें कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। संस्कृतका बोलबाला होनेसे शिलालेखों-ताम्रलेखोंसे तो आशा ही नहीं। अपभ्रंशका समय छठीसे बारहवीं सदी तक था। इसके बाद "देशीय" (या हिन्दी) का समय शुरू होता है। यहाँ स्मरण रहे कि पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, देशीय, सभीका एक एक सन्धि-काल है, जिसमें पूर्व और परकी भाषाओंका सम्मिश्रण रहा है। प्राचीन देशीय-मागधी या "मगही" बारहवीं शताब्दीसे शुरू हो सोलहवीं शताब्दी तक रही, फिर आधुनिक मगही आई। इस प्रकार मागधीके निम्न रूप होते हैं—

| | |
|---|---|
| १. पाली | १. अशोकसे पूर्वकी मागधी ई० पू० ६००—३०० अनुपलभ्य |
| | २. अशोककी मागधी ई० पू० ३००—२०० सुलभ |
| | ३. अशोकसे पीछेकी मागधी ई० पू० २००—० ई० दुर्लभ |
| २. प्राकृत | ४. प्राकृत मागधी ई० ०—५५० ई० सुलभ |
| ३. अपभ्रंश | ५. अपभ्रंश मागधी ई० ५५०—१२०० ई० अनुपलभ्य |

१ आजकी तरह तब भी सौरसेनी पांचाली एक ही भाषा थी, जिसे ही ब्रज, कनौजी, रुहेली, बुंदेली कहते हैं।

४. भाषा { ६. मगही प्राचीन ई० १२००–१६०० ई० दुर्लभ
७. मगही आधुनिक ई० १६०० से, जीवित }

पहले बतलाया जा चुका है, कि, चौथी शताब्दीमें ही मगहीका अपना क्षेत्र सरयूसे कोसी तथा कर्मनाशासे कलिंगतक था। समय पाकर फिर भाषामें परिवर्तन होता गया। मागधी भाषा-भाषी आस-पासके प्रदेशोंमें जाकर बस गये। इस प्रकार आधुनिक उड़िया, बँगला, आसामी, मैथिली, भोजपुरी और मगही प्राचीन मागधी के ही रूप हैं। इनमें भोजपुरी, कोसली या अवधी की सीमान्त भाषा थी।

सूर, बिहारी आदिकी धार्मिक, शृंगारिक कविताओंके कारण लोग व्रज-भाषाको कविताकी भाषा समझते हैं; और सर्वत्र प्रचलित खड़ी बोलीको आधुनिक व्यवहारकी भाषा। सहस्राब्दियोंसे हिन्दुस्तान प्रदेशमें जो भाषाएँ विकसित होती रही हैं, वह भी कभी अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगी, इसका लोगोंको कुछ ख्याल भी न था। यही कारण है, जो भोजपुरी, मगही, मैथिली आदिकी ओर ध्यान नहीं गया। मैथिलीके विद्यापति कितने ही वर्षों तक बँगाली ही बने रहे। जिस समय खड़ी बोलीने पटरानी होकर कविताके सिंहासन पर भी पैर बढ़ाना चाहा, उस समय व्रजभाषाने लांग बाँध और डंडे मारकर व्रजकी होली शुरू कर दी। यह होली बहुत दिनों तक गम्भीरताके साथ होती रही; किन्तु जब कविताके दरबारमें खड़ी बोलीकी तूती बोलने लगी, तब बेचारी व्रजभाषाको यही [कहकर सन्तोष] करना पड़ा—"असली पेठा तो मेरी ही दूकान पर बनता है।" मगही, मैथिली तथा भोजपुरी आदि भाषाएँ, सती-साध्वी कुलाङ्गनाओंकी भाँति चुपचाप बैठी रहीं। आजकल तो जद्दो-जहदके बिना किसीको कुछ मिलता नहीं। इसीलिये इनकी ओर किसीने ध्यान न दिया कि इन मूक भाषाओंका भी अस्तित्व है। इधर ग्रामीण गीतोंके प्रकाशने यह बतला दिया कि, यह स्वभावसुन्दरी भी हैं।

अब सवाल यह है कि, इन भाषाओंके लिये भी कोई स्थान मिलना चाहिये या नहीं? यह न समझें कि, खड़ी बोलीको अपना राजपाट बाँटकर गद्दीसे दस्त-बरदार हो जाना चाहिये। खड़ी बोलीके कारण आज भारतका दो-तिहाई भाग एकताके घनिष्ट सूत्रमें बँध गया है। इस बीसवीं शताब्दीमें

उस एकको तोड़नेकी बात वही करेगा, जिसका समूह-शक्ति पर विश्वास नहीं है। तो फिर इनके लिये क्या होना चाहिये ? बस, वही, जो व्रजभाषाके लिये इस वक्त और भविष्यमें रहेगा। व्रजभाषाको तो कोई गुजराती बनानेका साहस नहीं रखता, फिर मैथिली और मगहीके बारेमें ऐसा क्यों ? खड़ी बोली तो मागधी-की उत्तराधिकारिणी नहीं है, साहित्यिक क्षेत्रमें उसकी उत्तराधिकारिणी तो बँगला ही है। लेकिन यहाँ पूछना है, अधिकार भी तो सापेक्ष शब्द है— मगही, मैथिली, उड़िया, आसामी—इन चारोंको खड़ी करनेपर सर्वप्रथम किसको हक मिलना चाहिये ? मगहीको ही न ? यदि बँगला कहे कि, मैं पुरानी मगहीकी पुत्री हूँ, सो ठीक है; लेकिन यही बँगला पुरानी मगहीका नाम मिटा-कर उसे पुरानी बँगला कहने लगे, तो उसे मगहीसे ही लोहा नहीं लेना पड़ेगा; बल्कि उड़िया आदिको भी अपनी ज्येष्ठ भगिनीकी सहायता करने पर बाध्य होना पड़ेगा। यद्यपि मगहीमें आज अखबार नहीं निकलते, लेख नहीं लिखे जाते, लेकिन आध करोड़ बोलने वाले उसके घरमें ही जिन्दा हैं। यदि कहें, उसमें हमें उज्र नहीं; लेकिन मगहीको हिन्दी कैसे कहेंगे ? हिन्दी तो पच्छाहीं भाषा है, उसका मगहीसे क्या सम्बन्ध ? उत्तर यह है कि, हिन्दी शब्द सिर्फ खड़ी बोलीके ही लिये कोई व्यवहार नहीं करता। व्रजभाषा और अवधीके हिन्दी न होनेका किसीने आग्रह नहीं किया। व्रजभाषा और अवधी भी तो खड़ी बोलीसे, मगहीकी तरह भिन्न हैं। हम पुरानी मगहीको खड़ी बोली नहीं कहते, हम उसे प्राचीन हिन्दी कहते हैं; जैसे व्रजभाषा और अवधीको।

हिन्दी क्या है, पहले इसे आपको समझना चाहिये। सूबा हिन्दुस्तान (हिमालय पहाड़ तथा पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, तेलगू, ओड़िया, बँगला भाषाओं के प्रदेशोंसे घिरे प्रदेश) की आठवीं शताब्दीके बादकी भाषाओंको हिन्दी कहते हैं। इसके पुराने रूपको प्राचीन मगही, मैथिली, व्रजभाषा आदि कहते हैं; और, आजकलके रूप (आधुनिक हिन्दी) को सार्वदेशिक और स्थानीय, दो भागोंमें विभक्त कर आधुनिक सार्वदेशिक हिन्दीको खड़ी बोली (जिसे ही फारसी-लिपि तथा अरबी-फारसी शब्दोंकी भरमार पर उर्दू कहते हैं) तथा आजकल भिन्न-भिन्न स्थानों पर बोली जाने वाली मगही, मैथिली, भोजपुरी, बनारसी, अवधी, कन्नौजी, व्रजमण्डली आदि आधुनिक स्थानीय हिन्दी-भाषाएँ हैं।

# १३. मातृ भाषाओंके बृहत् संग्रहकी आवश्यकता

परिवर्तनका अटल नियम जैसे संसारकी सभी वस्तुओंपर अधिकार रखता है, वैसे ही भाषा पर भी। लेकिन यह परिवर्तन हमेशा कार्य-कारण सम्बन्ध लिये हुए काम करता है, जिससे अपरवर्ती वस्तु (कार्य) पूर्ववर्ती वस्तु (कारण) से बहुत सादृश्य रखती है। यही कारण है कि, बाज वक्त हम वस्तुओंकी परिवर्तन-शीलताके विषयमें सन्देहयुक्त हो जाते हैं। इस कार्य-कारण-सहित परिवर्तनका अच्छा उदाहरण हमारा अपना शरीर है। एक ही आदमीके १, २०, ४०,५० और ६० वर्षकी अवस्थाओंके चित्र आप उठा लीजिये; सादृश्य और परिवर्तन आपको स्पष्ट मालूम होंगे। मनुष्यके भीतरी (आत्मिक) परिवर्तनको देखना हो, तो किसी चिन्तनशील पुरुषकी चौदह से पचास वर्षकी उम्र तककी डायरियाँ पढ़ डालिये। मनुष्यके इस आत्मिक और बाह्य परिवर्तनकी भाँति ही मनुष्यकी भाषाओं में परिवर्तन होता जा रहा है। किसी जीवित भाषाके कितने ही छोटे-छोटे परिवर्तन तो कोई भी पचास वर्षका समझदार पुरुष आसानीसे बता सकता है। लेकिन सहस्राब्दियोंके परिवर्तनोंके सामने यह परिवर्तन नगण्य है। उस समय तो इतना परिवर्तन हो गया रहता है कि, पहचानना भी असम्भव-सा हो जाता है। उदाहरणार्थ आधुनिक मगही (मागधी) को लीजिये। इसके आजकलके तथा अठारह सौ वर्ष पूर्व और बाईस सौ वर्ष पूर्वके रूपको लीजिये। कितना आमूल परिवर्तन मालूम होगा। चाहे वह परिवर्तन कितना ही आमूल हो, तोभी इसपर सादृश्यका नियम लागू रहता है। यदि हमें हर शताब्दीकी भाषाओंका नमूना मिल जाय तो इनकी परस्पर समीपता हमें वैसे ही मालूम होगी, जैसे सौ मील जानेवाले यात्रीके लिये पहले कदमसे दूसरे कदमका फासला। दरअसल भाषा-प्रवाहको भीतो एक यात्रीकी ही भाँति सहस्राब्दियोंका सफर करना पड़ा है। इन्हीं परिवर्तनके नियमोंको भाषातत्व कहा जाता है।

भाषा मनुष्यके अन्दर और बाहरके भावोंके प्रकाशन करनेका प्रधान

साधन है। इसीलिये इसमें मनुष्यकी अपनी आकृति झलकती है। ऋग्वेदके शब्दोंको सामयिक पेशों तथा गार्हस्थ, धार्मिक, सामरिक, खान-पान आदि विभागों में संग्रह कर डालिये; आपको मालूम हो जायगा कि, ऋग्वेदीय मनुष्य समाजका क्या रूप था। यद्यपि इस प्रकारके साहित्यमें समाजके अंगोंका रूप चित्रित नहीं होता, इसलिये इसमें शक नहीं कि, यह चित्र पूर्ण न होगा।

भाषा मनुष्यके समझनेका साधन है, इसमें तो किसीको विवाद नहीं हो सकता। मानव-तत्त्व (*Anthropology*) भी मनुष्यके समझनेका साधन है। आजकल तो इन दोनों साधनोंका परस्पर अवरोधी परिणाम देखकर और भी विद्वानोंका विश्वास इनपर बढ़ चला है। भारतकी आर्य तथा द्रविड़-जातियोंकी भाषाओंमें जैसी अपनी विशेषताएँ हैं, वैसे ही इनकी नासामितियोंमें भी। जहाँ दोनों जातियों कम सम्मिश्रण हुआ है, वहाँ हम भाषा और नासामितियोंका भी वैसा ही सम्मिश्रण देखते हैं। उदाहरणार्थ कन्नड और तेलगू—दो द्रविड़-जातियोंको ले लीजिये। इनकी भाषाओंमें आपको संस्कृतके शब्दोंकी बहुलता मिलेगी; और, नासामिति भी आपको उसी परिमाणमें इनमें आर्य और द्रविड़-नासाओंका मिश्रण बतलायेगी। आर्य-भारतसे मालाबारका सीधा सम्बन्ध नहीं है, बीचमें कन्नड तथा दूसरी जातियाँ आ जाती हैं, तो भी मलयालम् भाषामें आपको कन्नड और तेलगूकी अपेक्षा भी अधिक संस्कृत-शब्द मिलेंगे। मालाबारियों की नासामितिमें आर्यनासाओंका बहुत अधिक प्रभाव देखकर पहले-पहल मानव-तत्त्वशास्त्रियोंको भी बड़ा आश्चर्य हुआ; किन्तु आश्चर्यकी कोई बात नहीं। मालाबारमें तो ब्राह्मण (प्रवासी आर्य) आजतक भी नायर-स्त्रियोंके साथ, बिना रोक-टोक सम्बन्ध रखते हैं। हजारों वर्षोंसे नम्बूदरी ब्राह्मणोंके छोटे भाई इस नासामितिको बदलनेमें ही नियुक्त हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त कथनसे पाठकोंको मालूम हो जायगा कि, भाषाओं-का परिवर्तन अपने अन्दर खास रहस्य रखता है। इसके रहस्यके उद्घाटनके लिये मनुष्य वैसे ही व्यग्र है, जैसे गौरी-शंकर-शिखर, ध्रुव-प्रदेश, भूगर्भ आदि-की जिज्ञासामें। इस रहस्यके खुलनेसे मनुष्यके इतिहासपर भी बहुत प्रकाश पड़ता है। भाषा-सम्बन्धी-अन्वेषणने ही तो यूरोप, ईरान तथा उत्तरी भारतकी भाषाओंका एकवंशीय होना सिद्ध किया। इसीने तो बिलोचिस्तानके बहुई

तथा मद्रासके द्राविड़ोंका एक होना बतलाया। इसीने तिब्बती और बर्मा-वालोंका एक खान्दान सिद्ध किया।

लोकभाषाओंके ऊपर यूरोपकी सभ्य जातियोंने बहुत परिश्रम किया है। इंगलैंडने *English Dialect Society* (इंगलिश लोक भाषा सभा) कायम की थी, जिसने उपर्युक्त सामग्री संग्रह करने में बड़ी सहायता की: इसने *East Yorkshire, East Norfolk, Vale of Gloucester, Midland, West Reading of Yorkshire, West Devonshire, Derbyshire* आदि खास इंगलैंडके ही छोटे-छोटे भागोंके सम्बन्धमें बहुत खोज की। स्काच और वेल्स भाषाओंपर भी वहाँ बहुत परिश्रम किया गया। स्थानीय भाषाओंके व्याकरण और कोष तैयार किये गये हैं। उदाहरणार्थ—

1. W. Barnes, *A Grammar and Glossary of the Dorset dialect, with the hi:tory outspreading and bearing of South English English.* 2. L L. Bonaparte, *On the Dialects of Monmouthshire, Hertfordshire, Worcestershire, Gloucestershire, Berkshire* ...... ...3. E. Kruisigas, *A Grammar of the Dialect of West Somerset descriptive and historical.* 4. B. A. Mackenzie, *The early London Dialect.* 5. J. Wright, *The English Dialect Grammar.* 6. J. Wright *The English Dialect Dictionary.*

अन्य विषयोंकी भाँति फ्रांसने इस विषयमें भी बहुत काम किया है। वहाँ स्थानीय भाषाओंके कितने ही एटलस बने हैं; बहुतसे व्याकरण और कोष लिखे गये हैं; कहावतों और कहानियोंका भी संग्रह किया गया है। *Ch. Brunean* न वालों, शम्पेन्वा, लोरेनकी स्थानीय भाषाओंकी सीमा-निर्धारण करनेपर ही *La limite des dialects Wallon, Champenois et Lorrain on Ardennee*) पुस्तक लिखी है। १८५२–५३ में Escallier ने स्थानीय भाषाओं-के सम्बन्धमें अपनी पुस्तक *Remerpoe sur le patois* (स्थानीय भाषाओं पर टिप्पणी); *Letters snr eb patois* लिखी थी। *Ch de Tourtoulon*

ने *Des dialectes de leur classification et de leur delimitation geographique* लिखी। १९०३–१९१२ में, १९२० चित्रों सहित कई खण्डोंमें *Atlas linguistique de la France* छपा, जिसका मूल्य प्रायः १५० रु० है। दो वर्ष बाद *Atlas linguistique de la corse,* एक सहस्र चित्रोंके साथ, प्रकाशित हुआ। नार्मण्डी भाषाका अलग ही *Atlas dialectologique de Normandie* है। इसी प्रकार और भी कितने ही एटलस छपे हैं। Wallon, Doubs, Bearn, Ardenne, Vinzellhs, Blonay आदिकी स्थानीय भाषाओंपर तो कितने ही अलग-अलग व्याकरण और शब्द-कोष लिखे गये हैं।

जर्मनी, रूसी आदि भाषाओंके सम्बन्धमें यही बात है। यहाँ एक बात और भी स्मरण रखनी चाहिये। फ्रांस और इंगलैंडकी वह भाषाएँ वस्तुतः स्थानीय उपभाषाओंसी हैं, यदि उनके प्रचारके प्रदेश बोलनेवालों तथा सर्वमान्य इंगलिश या फ्रेंचसे उनके भेदपर ध्यान दिया जाय। किन्तु हिन्दीकी स्थानीय भाषाओंमें कुछ तो परिस्थितिके ही फेरमें पड़कर स्थानीय भाषाएँ रह गयीं; अन्यथा मैथिली, व्रजभाषा तथा राजस्थानीको एक स्वतन्त्र भाषा बननेकी उतनी ही योग्यता है, जितनी गुजराती और बँगलाको। जिन बोलियोंका साहित्यिक भाषासे सम्बन्ध नहीं है; वह मनुष्यकी अवश्यकताओंके अनुसार उन भाषाओंने भी विचार प्रकट करनेमें बराबर उन्नति की है। अबतक इनको अलग रहकर अपने अस्तित्वको कायम्म रखने तथा वृद्धि करनेका मौका रहा है; किन्तु अब वह समय आ पहुँचा है, जब कि, इनकी अवस्था संकटापन्न हो गई है।

अन्य बातोंके अतिरिक्त दो बातें और हैं, जिनके लिये इन भाषाओंके संग्रहकी बड़ी भारी अवश्यकता है। पहली बात तो यह है कि, खड़ी हिन्दीके सार्वत्रिक व्यवहार और उसीके द्वारा शिक्षा-प्रचार होनेके कारण शिक्षित समाज खड़ीबोलीमें ही लिखने-बोलने लगा है। जो लिख-बोल नहीं सकते, वे भी उसे संस्कृति और भद्रताका चिह्न समझ बिना संकोच उसके शब्दों और मुहाविरोंको अपना रहे हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप उनकी मातृ भाषा बिगड़ती जा रही है। इसकी सत्यताके लिये आप पटनाकी मगही और कायस्थोंकी भोजपुरीको लेकर देख सकते हैं। जिस तरह यह परिवर्तन हो रहा है, उससे तो यदि यह भाषाएँ नष्ट

न हो जायँ, तो कम-से-कम थोड़े ही समयमें इनके इतना बिगड़ जानेका डर तो जरूर है, जिससे कि, इनका वैज्ञानिक मूल्य बहुत कम रह जाय और आनेवाली पीढ़ियाँ मानव-तत्त्वकी इस महत्त्वपूर्ण कड़ीको खो देनेका इलजाम हमपर लगावें।

दूसरी बात यह है कि, खड़ीबोली यद्यपि मूलतः कुरुदेशके[1] आसपासकी भाषा है, तो भी वहाँकी भाषाकी प्रामाणिकताको स्वीकार नहीं किया गया है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि, घरू काम-काज, जीवनकी साधारण अवस्था-ओंके उपयोगके शब्दोंकी, हिन्दीमें, बड़ी कमी है। कभी-कभी कोई-कोई हिम्मत-वाले लेखक, ऐसे समय किसी स्थानीय भाषाके शब्दका प्रयोग कर देते हैं।; लोग स्थानीयताका दोष लगाते हैं; और, उस शब्दके प्रचारमें रुकावट होती है। लोग यह भी खयाल करते रहते हैं कि, शायद ये शब्द हमारी ही स्थानीय भाषामें हों; यद्यपि बहुतसे शब्दोंको, एक ही रूपमें, पटना और अम्बालामें प्रचलित पाया जाता है। यदि हम स्थानीय भाषाओंके शब्द आदि संग्रह कर सकें, तो जहाँ हम उनका एक सुरक्षित भाण्डार रख देंगे, वहाँ भिन्न-भिन्न स्थानीय भाषाओंसे कितने ही सर्वसाधारण शब्दोंको भी जमा कर पायेंगे, जिनको खड़ीबोलीमें लेनेमें फिर हिचकिचाहट न रहेगी; और, इस प्रकार, खड़ीबोलीका एक बड़ा दोष दूर हो जायगा। इस वक्त खड़ीबोलीमें इन कामोंके पूरा करनेका एक मात्र साधन संस्कृत है, जिसके कारण ही बाज वक्त लेखकोंको अनावश्यक संस्कृत भरनेका दोषभागी बनना पड़ता है। यदि हमने इन भाषाओंको बिगड़ने या नष्ट होने दिया, तो इसका परिणाम यही नहीं होगा कि, हमें अपनी भाषाकी अवश्यकताओंको अस्वाभाविक रूपसे पूर्ण करना पड़ेगा; बल्कि वेद, ब्राह्मणसे लेकर, पाली, प्राकृतके ग्रन्थोंतकमें प्रयुक्त होनेवाले उन कितनेही शब्दोंके परम्परासे चले आये अर्थोंको भी भूल जायँगे, जिनका प्रयोग आजकल केवल इन्हीं भाषाओंमें पाया जाता है।

उपर्युक्त कथनसे स्थानीय (मातृ) भाषाओंको लेखबद्ध करके सुरक्षित कर देनेकी कितनी अवश्यकता है, यह स्पष्ट है। इस विषयमें ग्रियर्सनकी भाषा सर्वे (*Linguistic Survey of India*) ने बहुत अच्छा काम किया।

१ सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, उत्तर बुलन्दशहर और बिजनौर जिला तथा हरियाना।

शब्द-कोष, व्याकरण तथा कहानियोंपर भी उसमें लिखा गया है; तोभी वहाँ भाषाओंके सम्बन्धका स्थूल चित्रही वांञ्छित था, उनका लक्ष्य सारी भाषाको सुरक्षित कर देनेका नहीं था और न साहित्यिक हिन्दीके कोषको पूर्ण करनेका ही ख्याल था। इसलिये वह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है। हमें अपनी अवश्यकताके लिये चाहिये हर एक भाषाकी हजारों (१) कहानियाँ, (२) कहावतें, (३) गीत, (४) शिल्प और व्यवसाय-सम्बन्धी शब्द तथा उन्हींपर अवलम्बित (५) विस्तृत कोष और (६) व्याकरण। कहानियोंमें हमें सजीव भाषा मिलेगी। अर्थहीन, किन्तु भाषामें ओज पैदा करनेवाले निपातोंका व्यवहार, हमें वहीं मालूम हो सकेगा। भाषामें भाव-चित्रणकी शक्तिका भी परिचय उन्हींसे मिलेगा। इसके अतिरिक्त इतिहास, मानस-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदिकी दृष्टिमें महत्व-पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्तिके बारेमें तो कहना ही क्या है। कुछ हदतक इन बातोंकी पूर्ति गीतोंसे होगी; किन्तु गीत अपना दूसरा ही महत्त्व रखते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानोंमें कृषि, वर्षा, नक्षत्रों, तारों आदिके सम्बन्धमें तथा दूसरी शिक्षाओंसे भरी कितनी ही गद्य-पद्य-मयी कहावतें प्रचलित हैं। इन कहावतोंमें बाज वक्त मनुष्यके शताब्दियोंके अनुभवका सार बन्द रहता है। यह भी समय पाकर नष्ट होती जा रही हैं। पुराने लोगोंमें अब भी ऐसे आदमी मिलेंगे, जिन्हें यह कहावतें सैकड़ों की संख्यामें याद हैं। इनके बलपर वह वर्ष के भिन्न-भिन्न मासों में नक्षत्र देखकर रात्रिके घंटों और कृषि-वर्षाके समयका निश्चय कर लिया करते थे किन्तु यान्त्रिक साधनोंकी सुलभतासे अब लोगों की प्रवृत्ति उधरसे उदासीन होती जा रही है; इसलिये इनके सर्वथा ही विस्मृत हो जानेकी सम्भावना है।

शिल्प-व्यवसाय-सम्बन्धी संग्रहकी तो सबसे अधिक अवश्यकता है; क्योंकि इस विषयपर तो कुछ भी नहीं किया गया है। खड़ी हिन्दीमें इस विषयके शब्दोंकी बड़ी कमी है। इस अपूर्णताके कारण कभी-कभी हमारे उपन्यास-लेखकोंको समाजका अधूरा चित्रही खींचनेपर मजबूर होना पड़ता है। मल्लाहको ही ले लीजिये। क्या उसको अपने काममें नाव, पतवार, पाल—इन तीन ही शब्दोंका व्यवहार करना पड़ता है? नावके सिर, पूँछ, पेट, वारी, पतवार आदिकी नाना किस्मोंके बारेमें तो कहना ही क्या; खोजनेपर आपको नावोंके ऊपरकी ओर, नीचेकी ओर, जल्दी या तिरछी चलने, चक्कर काटने तथा

रस्सीपर चलने आदिके लिये भी कितने ही शब्द मिलेंगे। और, फिर, समुद्रकी नावोंके बारेमें तो कहना ही क्या है। वह तो एक पूरा संसार है, जिसके ज्ञान और आनन्दसे वञ्चित रहना या परोपजीवी होना हमारे लिये अच्छी बात नहीं है (हिन्दी-स्थानीय भाषाओंकी सीमा समुद्रसे नहीं मिलती, यह सही है; किन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि, स्थानीय भाषाएँ, गुजराती, मराठी, बँगला, ओड़ियातकके साथ बाज वक्त गजबकी समानता रखती हैं)। यह तो सिर्फ मल्लाही व्यवसायकी बात हुई। अब इसमें आप उन सैकड़ों व्यवसायोंको जोड़ लीजिये, जिनमेंसे कुछके नाम आगे दिये जायँगे। तब इस बातके महत्त्वको आप उपेक्षाकी दृष्टिसे न देख सकेंगे। जब हमारे पास कहानियों, कहावतों, गीतों और व्यवसाय-सम्बन्धी शब्दोंका पूरा एक भाण्डार जमा हो जायगा, तब उससे उस स्थानीय भाषाका एक अच्छा व्याकरण और कोष तैयार किया जा सकेगा।

अब हमें विचार करना है कि, यह काम कहाँतक साध्य है; और, इसे किस प्रकार करना चाहिये। साध्य होनेके विषयमें तो इतना ही कहना है कि, जो बातें दूसरे देशोंने पचासों बर्ष पूर्व ही कर डालीं, वह यहाँ आज क्यों नहीं हो सकतीं? और जगहोंपर भी सरकारकी अपेक्षा लोगोंने इसके बारेमें, बहुत काम किया है। साध्य और असाध्य तो हम कार्यके ढँगको देखकर अच्छी तरह बतला सकेंगे। हमारे कामके दो भाग होंगे; एक तो संग्रहका काम, अर्थात् ढूंढ़-ढूंढ़कर शब्दोंको जमा करना और दूसरा व्याकरण कोषका निर्माण करना। यद्यपि दूसरे काममें बड़ी दक्षताकी अवश्यकता है, तोभी यह संगृहीत सामग्री लेकर एक जगह बैठे-बैठे किया जा सकता है; और, इस कामके लिये ऐसे हिन्दी-भाषी योग्य विद्वान् दुर्लभ न होंगे, जो कि बड़े उत्साहपूर्वक जल्दी उसे समाप्त कर देंगे। सबसे परिश्रमसाध्य और यदि उस तरह किया जाय, तो व्यय-साध्य कार्य है संग्रहका। इसके लिये हमें अपने जिलेको स्थानीय भाषा-विभागोंमें बाँट देना होगा। आप कहेंगे, जिलेको बाँटकर क्या स्थानीय भाषाओंमें भी उप-विभाग करेंगे? ऐसे तो एक गाँवसे दूसरे गाँवमें कुछ अन्तर पड़ने लगता है? नहीं, मेरा मतलब यहाँ हर जगहके लिये नहीं है। यदि कहीं समझा जाय कि, वहाँ भाषामें वैसा कोई खास भेद नहीं है, तो उसे छोड़ दिया जाय; किन्तु

कितनीही जगहोंपर ऐसा करना जरूरी होगा। उदाहरणार्थ भोजपुरीको ले लीजिये सम्पूर्ण आरा, छपरा और चम्पारनके जिले तथा गोरखपुर, बलिया और गाजीपुर जिलोंके अधिकांश भाग एवम आजमगढ़के कुछ परगने एक भोजपुरीके क्षेत्रमें आते हैं। बनारस आदिकी भाषा काशिकामें स्वर भोजपुरीका नहीं है यदि छपरा (सारन) जिलावाले अपने जिलेमें इस कामको करना चाहें, तो उन्हें अपने जिलेको तीन भागोंमें बाँटना होगा। पहले भागमें गोरखपुर जिला, सरयूनदी, गण्डक-नदी, दाहा-नदी (पीछे सीवानतक), मीरगंज और गोपालगंज-थानोंसे घिरा खण्ड होगा। इसमें सारा कुआड़ीका परगना तथा कितने ही दूसरे भाग आ जायँगे। (इस तरहके उप-भाषाओंके क्षेत्र-विभागमें परगने बाज वक्त बड़ा महत्त्वपूर्ण फैसला देते हैं। स्मरण रहे,परगने प्रायः इसी रूपमें मुसलमानी शासनके पहलेसे चले आ रहे हैं)। दूसरे हिस्सेमें हम मिर्जापुर, दिघवारा, परसा और सोनपुर-थानोंको रख सकते हैं। बाकी हिस्सेको तीसरे भागमें रखा जा सकता है। यद्यपि पहले और तीसरे हिस्सोंमें "गउवैं" (गये), "अउवैं" (आये) तथा "गइलैं", "अइलैं" जैसे कितने ही भेद मिलेंगे, तो भी इनको छोड़ दिया जा सकता है; किन्तु बाकी चार थानोंके लिये तो विशेष ध्यान देना ही पड़ेगा; क्योंकि वहाँके सिर्फ "नें" को ही ले लीजिये; जो कि, आसपासके किसी स्थानसे न मिलकर गण्डकपारके मुजफ्फरपुर-जिलेके अपने पड़ोसी भागसे मिलता है। ईसासे पाँच शताब्दियाँ पूर्व यह भाग वस्तुतः उस पारसे मिला हुआ था; किन्तु मुसलमानोंके आनेसे पूर्व—सम्भवतः युन्-च्वेङके आनेसे भी पूर्व—मही अपनी पुरानी धारको छोड़कर गण्डक बन चुकी थी। ऐसे उदाहरण, और जिलोंमें भी, मिल सकते हैं।

इस प्रकार पहला काम तो हमें जिलोंका ऐसा विभाग करना है। यह अवश्य ही है कि, यह विभाग करना सबके बसका काम नहीं है। भाषा विज्ञानके अतिरिक्त इसमें जिलेके भाषा-विज्ञानकी भी काफी जानकारी अवश्य होगी। लेकिन इस दिक्कतको हम बहुत कम कर सकें यदि हम पहले एक ही भाषाके एक ऐसे जिलेको ले लें, जहाँके लिये ऐसे विशेषज्ञ मिल सकें। यदि वह जिला अपने सारे काम को खतम कर पावे, तो उसके अनुभवसे दूसरी जगहवाले बहुत फायदा उठा सकते हैं। विभाग कर चुकनेपर हमें संग्रह करने वालोंकी एक काफी

संख्या चाहिये। फिर, जिस किसीको भी तो यह काम सिर्फ लिखा-पढ़ा होनेसे सौंपा नहीं जा सकता। इसके लिये चोट-फेटकी आरम्भिक सहायताकी भाँति, एक तीन-चार सप्ताहका कोर्स रखना होगा; और, सिखलाना होगा कि, सामग्री-संञ्चयके लिये निम्न बातोंका खयाल रखें—

(१) स्थान ऐसा ढूँढ़ें, जहाँकी भाषा बाहरी प्रभावसे कम प्रभावित हो।

(२) बोलनेवाला यथासम्भव अपठित, व्यवहारकुशल तथा रूप खड़ाकर बेधड़क बोलनेवाला हो। यदि वह स्त्री हो, तो और अच्छा।

(३) जब उपर्युक्त दोनों बातें मिल गईं, तो लिखनेवाले संग्रहकको अपनेको निर्जीव ग्रामोफोन मशीन मान लेना चाहिये। वक्ताके किसी उच्चारण आदिको शुद्ध करके लिखनेका खयाल भी कभी मनमें न आने देना चाहिये।

(४) लम्बी कथाओंसे परहेज न करना चाहिये।

(५) वीरता, उदारता, प्रेम, माता-पिताकी भक्ति, साहसपूर्ण कार्य, वाणिज्य, शिक्षा, देवाराधन, तीर्थाटन, वैराग्य, जन्म, मरण आदि सभी विषयोंके गद्य, पद्य और गीतिमय वर्णन इकट्ठे करने चाहिये।

(६) निपात आदिके शब्द तथा शब्दानुकरणोंको न छोड़ना चाहिये।

लेकिन यहाँ एक बात और कहनी होगी। यद्यपि नागरी वर्णमाला वैसे देखनेमें पूर्ण मालूम होती है, किन्तु कुछ आवाजोंको जाहिर करनेके लिये इसमें अक्षर नहीं हैं। उनके लिये अलग स्पष्ट चिह्न निश्चित करने होंगे। उदाहरणार्थ हमारी भाषाओंमें ह्रस्व ए और ओ का उच्चारण भी बहुत देखा जाता है। खड़ी बोलीतकमें "एक" कितनी ही बार ह्रस्व ए के साथ उच्चारित होता है। इस दिक्कतके कारण कितनी ही बार एके स्थानमें इ और ओके स्थानमें उका व्यवहार होने लग पड़ा है। अ का भी एक विशेष उच्चारण है, जिसे पश्चिमी उत्तरप्रदेशके शहरोंके लोग "कहना" के कके अको उच्चारण करते हुए करते हैं; उस वक्त इसका उच्चारण कुछ एकी ओर झुक जाता है, तोभी ह्रस्व ए नहीं हो जाता। इसका उच्चारण जर्मन भाषामें 'ä' द्वारा प्रकट किया जाता है। हिन्दीमें अके ऊपर दो बिन्दी (अ̈) रखकर उसे किया जा सकता है। इसी प्रकार उके इकी ओर झुकते उच्चारणको उपर दो बिन्दी (उ̈)तथा ओके इकी तरफ झुकते उच्चारणको ओपर दो बिन्दी (ओ̈) देकर जाहिर किया

जा सकता है। उत्तरप्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेशमें इतनेसे काम चल जायगा, किन्तु राजपूताना और दिल्ली प्रान्तमें घ, च, ड आदिके विशेष उच्चारणोंके लिये अलग चिह्न करने होंगे। नये चिन्हों और विशेष सावधानियोंको समझानेके लिये ३, ४ सप्ताहका विशेष कोर्स काफी होगा। यदि जिला बोर्डों, म्युनिसिपलिटियोंके शिक्षा-विभाग तथा कुछ दूसरे उत्साही सज्जन इसके लिये तैयार हो जायँ, तो संग्राहकोंका मिलना कठिन न होगा; न व्ययके ही लिये बहुत तरद्दुद करना पड़ेगा।

कथाओं, कहावतों तथा गीतोंकी अपेक्षा, नाना व्यवसायोंमें उपयुक्त होनेवाले शब्दोंके लिये, कहीं-कहीं कुछ विशेष परिश्रम करना पड़ेगा। इसका अन्दाज यहाँ दिये गये कुछ पेशोंसे मालूम हो जायेगा—

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. लोहार | १७. चिड़ीमार | ३३. तम्बोली | ४९. नाम और मान |
| २. बढ़ई | १८. तेली | ३४. पासी | ५०. घोड़े-सम्बन्धीशब्द |
| ३. धोबी | १९. कलाल | ३५. दर्जी | ५१. हाथी " " |
| ४. मल्लाह | २०. हलवाहा | ३६. चोर | ५२. बैल " " |
| ५. हज्जाम | २१. माली | ३७. वेश्या | ५३. गदहा " " |
| ६. सोनार | २२. ओझा | ३८. जुआरी | ५४. भेड़-बकरी |
| ७. चमार | २३. कुम्हार | ३९. नशाखोर | ५५. ऊसरभूमिके भेद |
| ८. जुलाहा | २४. चूड़ीवाला | ४०. साधुओंके शब्द | ५६. वृक्ष-भेद |
| ९. पटवा | २५. संगतराश | ४१. खानेकी चीजें | ५७. जलचर |
| १०. मछुआ | २६. रंगरेज | ४२. सोनेकी चीजें | ५८. थलचर |
| ११. मेहतर | २७. कसाई | ४३. पहननेकी चीजें | ५९. नभचर |
| १२. हलवाई | २८. धुनिया | ४४. घरके बर्तन | ६०. विषधर जन्तु |
| १३. कोइरी(काछी) | २९. पहलवान | ४५. कालवाची शब्द | ६१. हिंसक जन्तु |
| १४. ग्वाला | ३०. राजगीर | ४६. नक्षत्रवाची शब्द | ६२. अनाजोंके नाम |
| १५. गड़ेरिया | ३१. नुनिया | ४७. भूतवाची शब्द | ६३. बही-खाता |
| १६. कसेरा | ३२. भड़भूँजा | ४८. स्थानीय परगना, तप्पा (टप्पा) आदि के नाम | ६४. आभूषण |

**व्याकरण**---हर एक उपस्थानीय भाषाका अलग व्याकरण न बनाकर किसी जगह की भाषा---जो दूसरी भाषाओं द्वारा अधिक अप्रभावित हो, या अधिक प्रचलित हो, या केन्द्रमें हो---को मध्यस्थ बनाकर बाकी भेदोंको उसके द्वारा बतलाना।

**कोष**---इसमें खड़ीबोलीमें प्रचलित पर्यायवाची शब्दोंके अतिरिक्त संस्कृत-के बिगड़े तथा "देशी" शब्दोंके लिये प्राकृत तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओंके पर्याय भी देने चाहियें।

यह काम अच्छा है, यह तो सभी कहेंगे; किन्तु इसकी दिक्कतोंका लोगोंको बहुत खयाल होगा। यह भय तबतक दूर न होगा, जबतक किसी एक भाषाका संग्रह पूरा न हो जाय। एकके तैयार हो जानेपर दूसरोंको उस तजर्बेसे बहुत फायदा होगा और दिक्कतोंका खयाल भी कम हो जायगा। यदि पहले ऐसे स्थानमें काम किया जाय जिसमें निम्न विशेषताएँ हों तो काम आदर्श रूपमें कम व्यय और समयमें समाप्त हो जायगा; और, इससे दूसरे भी जल्दी उत्साहित हो सकेंगे---

(१) भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो। (२) जिस भाषाके (कई शताब्दियोंके अन्तरसे) अनेक रूप उपलब्ध हों जिससे कि, तुलनात्मक अध्ययनमें पूरी मदद मिल सके। (३) जहाँ भाषातत्त्वज्ञ तथा उस भाषाके मर्मज्ञ भी मिल सकें। (४) जहाँकी स्थानीय संस्थाएँ इसके लिये तैयार हों। (५) जहाँ उत्साही लेखक और कार्यकर्ता सुलभ हों। (६) जहाँ काम जल्दी समाप्त किया जा सकता हो।

मेरे खयालमें ऐसी भाषा मगही है। इसका क्षेत्र पटना और गयाके जिले हैं, जिनका क्षेत्रफल ६,७७६ वर्गमील है; और, १९२१ ई० की जनगणनामें जनसंख्या २७,२७,२१७ थी। मगही-भाषाके कितने ही रूप उपलब्ध हैं, जिनका जिक्र मैंने अपने दूसरे लेखमें किया है।

# १४. तिब्बतमें भारतीय साहित्य और कला

तिब्बतकी यात्रा और दृष्टियोंसे भी अत्यन्त मनोरंजक है, लेकिन मैं चार बार तिब्बत साहित्यिक खोजके लिए गया। पहली बार (तिब्बत जानेसे पहले और जानेके बाद भी) मेरी यही धारणा रही कि भारतीय ग्रन्थोंके तिब्बती भाषान्तर ही वहाँ मिल सकते हैं। भारतसे गये मूल-संस्कृत-ग्रन्थोंके मिलनेकी बहुत कम संभावना है। उसका जिन लोगोंसे मैंने संस्कृत-ग्रन्थोंके बारेमें पूछा, उन्हें उनका पता नहीं था, और उसके ऊटपटाँग उत्तरसे ही मेरी वह धारणा हुई थी। लेकिन जब मैं २२ खच्चर पोथियोंको लेकर पहली बार लौटा और अपनी छोटी पुस्तक 'तिब्बतमें बौद्धधर्मके' लिखनेके लिये उसकी ऐतिहासिक सामग्रीको देखभाल करने लगा, तो मालूम हुआ कि भारतसे गये हजारों संस्कृत-ग्रन्थ तिब्बतमें भले ही न प्राप्त हों, किन्तु वहाँ कुछ संस्कृत-ग्रन्थ जरूर मिलेंगे। पहली बार तिब्बतसे लौटनेके बाद महान् बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति—जिन्हें पश्चिमके सर्वश्रेष्ठ जीवित भारत-तत्त्वज्ञ आचार्य श्चेरबात्स्की (लेनिनग्राद) भारतका काण्ट कहते हैं—के प्रधान ग्रन्थ प्रमाणवार्तिकको तिब्बती भाषासे संस्कृत-में अनुवाद भी करने लगा था, लेकिन उसी समय मेरे मित्र श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार नेपाल गये थे, उन्होंने राजगुरु पं० हेमराज शर्माके पास उसकी संस्कृत प्रति देखी। संस्कृत प्रति खंडित थी, तो भी उस समय मुझे जान पड़ा कि संस्कृत प्रतियोंकी पूरी खोज किये बिना तिब्बती भाषासे संस्कृत करनेका काम हाथमें न लेना चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि तिब्बती भाषासे संस्कृत कर देनेके बाद मूल संस्कृत मिल जाय और फिर सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाय।

१९३४ ई० की दूसरी तिब्बत-यात्रा मैंने खास इसी मतलबसे की थी और १९३६ ई० में तीसरी बार (१९३८ में चौथी बार) भी संस्कृत-ग्रन्थोंकी खोजमें ही गया था। दूसरी यात्रामें मैंने ४० के करीब संस्कृत की ताल-पोथियोंके बंडल देखे और तीसरी बार ८०के करीब नयी पोथियाँ देखीं। एक पोथीसे मतलब

एक पुस्तक नहीं। पोथी मैं यहाँ वेष्टनके अर्थमें ले रहा हूँ, एक पोथीमें अपूर्ण पुस्तक भी हो सकती है और अनेक पुस्तकें भी। दूसरी यात्रामें खंडित और अखंडित १८४ ग्रन्थ देखे थे और तीसरी बार खंडित और अखंडित १५१ ग्रन्थ देखे। पिछली यात्रामें कुछ दार्शनिक ग्रन्थ मिले थे। लेकिन उस समय फोटोका सामान पूरा न होने तथा लिखनेके लिये समयका अभाव रहनेसे मैं धर्मकीर्तिके वादन्याय (सटीक) और प्रमाणवार्तिकके आधे अध्यायके भाष्यको ही लिख कर ला सका। अन्य ग्रन्थोंकी सिर्फ सूची बना सका था जो, १९३५ के बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीके जर्नलमें छपी। इस बार विशेषकर दार्शनिक धर्मकीर्ति तथा दूसरे बौद्ध दार्शनिकोंके ग्रन्थोंकी खोजमें ही वहाँ जाना पड़ा और उसमें इतनी सफलता हुई है कि जितनी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। वस्तुतः तिब्बत जाते समय एक दिन मुझे स्वप्न भी आया था। जिसमें मैंने देखा कि कोई आदमी तालकी पोथियोंका एक बंडल बाँधकर मुझे दे गया। बंडलको खोलनेपर उसमें दिङ्नागका प्रमाण-समुच्चय, धर्मकीर्तिका प्रमाणवार्तिक तथा इसी तरहकी कुछ और न्यायकी पुस्तकें थीं। यद्यपि इस यात्रामें भी बौद्ध न्यायका मूल ग्रन्थ दिङ्नागका प्रमाणसमुच्चय नही मिल सका, और जबतक वह नहीं मिल जाता तब तक मैं अपने कामको अधूरा ही समझूँगा, तो भी उस स्वप्नमें मुझे जितनी पुस्तकें मिली थीं उनसे कहीं अधिक मिलीं। न्याय ग्रन्थोंमें मुझे निम्न ग्रन्थ मिले—

१—**नागार्जुनकी** विग्रहव्यावर्तनी-कारिका[1] (स्ववृत्ति-सहित)। इस ग्रन्थका विषय यद्यपि दर्शन है, तो भी उसमें न्याय-सम्बन्धी बातें भी आती हैं और एक प्रकारसे अबतक किसी भाषामें उपलभ्य बौद्ध न्याय ग्रन्थोंमें यह सबसे प्राचीन है। वात्सयायनने न्याय भाष्यमें इसका खंडन किया है, और जान तो पड़ता है कि न्याय-सूत्रकार दूसरे अध्यायमें इस ग्रन्थके कुछ मतोंका खंडन करते हैं।

२—**धर्मकीर्ति**[1]—प्रमाणवार्तिक तीन परिच्छेद मूल।

३—**प्रमाण-वार्तिक-वृत्ति**[1] (आचार्य मनोरथनन्दी कृत) चारों परिच्छेद-पर सम्पूर्ण। प्रमाणवार्तिक बहुत ही कठिन ग्रन्थ है, उसकी यह वृत्ति आशासे अधिक सरल है।

---

१ ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

४—**प्रमाणवार्तिक**[1] (स्ववृत्ति)। धर्मकीर्तिने अपने मुख्य ग्रन्थके स्वार्थानुमान परिच्छेदपर स्वयं वृत्ति लिखी थी। इस वृत्तिका एक चतुर्थांश इस यात्रामें मिला।

५—**स्ववृत्ति-टीका**[1]—(आचार्य कर्णकगोमी कृत)। यह धर्मकीर्तिकी स्ववृत्तिपर एक अच्छी टीका है जो आठ हज़ार श्लोकोंके बराबर है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ मिल गया है।

६—**प्रमाणवार्तिक-भाष्य**[1] (प्रज्ञाकरगुप्त कृत)। प्रज्ञाकरने स्वार्थानुमान परिच्छेद छोड़कर बाकी तीन परिच्छेदोंपर विस्तृत भाष्य लिखा है। प्रज्ञाकर नैयायिक और कवि भी थे। उनका १।२ ग्रन्थ पद्यमें है और कितने ही पद्योंमें काव्यका आनन्द आता है। संस्कृत दार्शनिकोंमें गद्यपद्यमिश्रित ग्रन्थ लिखनेकी प्रणाली चलानेवाले प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं। ये नालंदाके आचार्य थे। इनकी शैलीका अनुकरण पिछली शताब्दियोंमें उदयनाचार्य और पार्थसारथिमिश्रने किया है। प्रज्ञाकर महान् बौद्ध नैयायिकोंमेंसे एक हैं। पिछली यात्रामें मुझे प्रज्ञाकरके इस ग्रन्थके डेढ़ही अध्याय मिल सके थे, और आधा अध्याय मैं लिखकर लाया था जो बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीके त्रैमासिकमें निकल भी चुका है। इस यात्रामें इस सम्पूर्ण ग्रन्थका एक दूसरा तालपत्र मिल गया।

७—**दुर्वेकमिश्र**[1]। धर्मोत्तर-प्रदीप। धर्मकीर्तिके 'न्याय विन्दु' पर आचार्य धर्मोत्तरकी पंजिका संस्कृतमें छप चुकी है, उसी पंजिकाकी यह टीका है और संभवतः मगधके किसी ब्राह्मण बौद्ध पण्डितने यह टीका लिखी है।

८—**धर्मकीर्तिके ग्रन्थ** 'हेतुविन्दु'पर धर्माकिरदत्तकी टीका थी, जो अब अनुपलब्ध है। उसी ग्रन्थपर दुर्वेकमिश्रने यह टीका लिखी है।

९—**रत्नकीर्ति**। इनके न्यायपर छोटे छोटे नौ निबंध (सर्वज्ञसिद्धि, अपोहसिद्धि, क्षणभंगसिद्धि, प्रमाणान्तर्भाव-प्रकरण, व्याप्तिनिर्णय, स्थिरसिद्धिदूषण, चित्राद्वैतप्रकरण, अवयविनिराकरण, सामान्यनिराकरण) इनमेंसे तीनको छोड़-

---

१ ये ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

कर बाकी सब अनुपलभ्य थे। रत्नकीर्ति १०वीं शताब्दीके चतुर्थ पादमें विक्रम-शिलाके प्रधान आचार्य थे।

१०—**ज्ञानश्री**। क्षणभंगाध्याय। बौद्धोंके मुख्य सिद्धान्त, कि दुनिया की सभी वस्तुयें क्षणिक हैं, इसका इसमें प्रतिपादन किया गया है और त्रिलोचन (वाचस्पतिमिश्रके गुरु) शंकर आदि प्राचीन ब्राह्मण नैयायिकोंके मतका खंडन किया गया है। इसी ग्रन्थके आक्षेपोंके उत्तरमें उदयनाचार्यने अपने आत्मतत्त्व-विवेक (या बौद्धाधिकार)को लिखा है।

११—किसी अज्ञात आचार्यने '**तर्क-रहस्य**' नामक न्यायका एक ग्रन्थ लिखा है।

१२—शायद उसी अज्ञात आचार्यने '**वादरहस्य**' नामक दूसरा ग्रन्थ लिखा है; जिसका कि प्रथम अध्याय उदयनके आत्मतत्त्वविवेकके खंडनमें लिखा गया है।

इस यात्रामें उपलब्ध हुए दार्शनिक ग्रन्थोंमें निम्नलिखित ग्रन्थ बड़े महत्त्व-पूर्ण हैं—

१—**असंग** (४ थी शताब्दीका अन्त)। योगाचारभूमि[1]। योगाचारके सिद्धान्त आचार्य शंकरके वेदान्तसे बहुत मिलते हैं, इसी कारण प्रतिद्वन्द्वियोंने शंकरको प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। आचार्य असंग बौद्ध विज्ञानवादियोंके प्रधान आचार्य हैं और उनके इसी ग्रन्थके नामपर पीछे सम्प्रदायका नाम ही योगाचार पड़ गया। इस ग्रन्थके अनुवाद तिब्बत और चीनकी भाषाओंमें हो चुके हैं।

२—**वसुबन्धु**। अभिधर्म-कोष-भाष्य। बौद्ध दर्शनके जाननेके लिए यह सर्वोत्तम ग्रन्थ है। चीनी और तिब्बती दोनों भाषाओंमें इसके अनुवाद मिलते हैं। चीनी भाषासे फ्रेंचमें भी इसका अनुवाद हो चुका है, किन्तु ऐसी आशा नहीं थी कि वसुबन्धुका भाष्य मूल संस्कृतमें मिल जायगा।

३—**भाव्य**। तर्कज्वाला (या मध्यमकहृदय)। योगाचार-माध्यमिक

---

१ म० म० विधुशेखर भट्टाचार्य संपादित कर प्रकाशित कर रहे हैं।

सम्प्रदायका यह एक बड़ा ही प्रौढ़ ग्रन्थ है, जिसमें अनेक बौद्ध-वाह्य भारतीय दर्शनोंकी खूब आलोचना की गई है।

इनके अतिरिक्त अभिधर्म-समुच्चय, महायानोत्तर-तन्त्र मध्यमकवि-भंग-भाष्य (वसुबन्धु) आदि ग्रन्थोंके भी खंडित अंश मिले हैं। कनिष्कके समकालीन कवि मातृचेटके अध्यर्द्ध-शतक[1] की भी एक पूरी प्रति मिली है जिसमें बुद्ध और उनके सिद्धान्तोंका स्तुतिरूपमें वर्णन किया गया है। यह चीनी परिव्राजकोंके भारत आनेके समय नालंदा आदि विद्यापीठोंमें बहुत प्रचलित था।

तीसरी बार मैंने प्राय: ४० हजार श्लोकों(१ श्लोक=३२ अक्षर)के बराबर ग्रन्थोंको लिखा तथा १ लाख ६० हजार श्लोकोंके बराबर फोटो लिये। फोटोकी सामग्रीकी कमीसे सभी आवश्यक ग्रन्थोंका फोटो नहीं लिया जा सका। फिर भी दो लाख श्लोकोंकी सामग्री मैं अपने साथ लाया हूँ वह बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है और जिसके सुचारु रूपसे सम्पादन करनेमें दर्जनों विद्वानोंको अगले बारह बरस लगाने होंगे। ग्रन्थोंकी सूचना पाते ही कितने ही भारतीय और भारतसे बाहरके विद्वानोंने पत्रों-द्वारा हर्ष और इस काममें सहायता देनेकी इच्छा भी प्रकट की है। इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके प्रकाशनके लिये कितनी ही भारतीय और अभारतीय संस्थाएँ सहर्ष तैयार हो सकती हैं, लेकिन मैं समझता हूँ कि इनमें अधिकांश ग्रन्थोंका प्रकाशन बिहारसे ही होना चाहिए, क्योंकि इनके रचयिताओंमें अधिक बिहारके नालंदा और विक्रमशिला विद्यालयोंके विद्वान् थे और तालपत्र-ग्रन्थ भी प्राय: सभी बिहारमें लिखे गये थे।

इन ग्रन्थोंमें हिन्दीके आदि-कवि सिद्ध सरहपाके दोहाकोष तथा कुछ और हिन्दी पद्य हैं। अबतक हिन्दी कविता-कालका आरंभ ग्यारहवीं शताब्दीसे माना जाता था और उसके माननेका भी कोई वैसा प्रमाण नहीं था। ८४ सिद्धोंके कालपर मैं अलग लिख चुका हूँ जो फ्रांसीसी भाषाकी अन्वेषण-पत्रिका जूर्नाल-आसियातिकमें अनूदित होकर छप चुका है, और ग्रियर्सन जैसे भाषा-तत्त्वके विद्वानोंने भी इस कालको स्वीकार कर लिया है। सरहपा ७५० ईस्वीमें मौजूद थे, क्योंकि तिब्बती भाषामें अनूदित ग्रन्थ उन्हें पालवंशी महाराज धर्म-

---

१ प्रकाशित (JBORS)।

पाल (७६९-८०९ ई०)का समसामयिक मानते हैं। मैं चाहता हूँ कि हरसपाके सभी हिन्दी काव्यग्रन्थ मूल हिन्दीमें या तिब्बती अनुवादके रूपमें आधुनिक भाषान्तरके साथ सरह्-ग्रन्थावलीके[1] नामसे प्रकाशित किये जायें, जिसमें इस महान् हिन्दी कविके चरित और व्यक्तित्वपर भी प्रकाश डाला जाय।

पिछली यात्रामें ही तिब्बतमें मैंने बोध-गया-मन्दिरके पत्थरके तीन और लकड़ीका एक नमूना देखा था। इनमें पत्थरवाले नमूने गयाके पत्थरके हैं। शायद बारहवीं शताब्दीसे पहले गयामें ऐसे नमूने बनकर बिका करते थे। तिब्बतके यात्री अपने साथ इन नमूनोंको ले गये थे और आजकल वे नर्थङ तथा स्-क्याके मठोंमें रखे हुए हैं। उनके देखनेसे मालूम होता है कि बोधगयाके प्रधान मन्दिर (जिसके पूरब तरफ तीन दरवाजे थे)के पश्चिमकी ओर बोधिवृक्षके पास भी एक दरवाजा-सा था। उसके आसपास, बहुतसे स्तूप और मंदिर थे और सभी एक चहारदिवारीसे घिरे थे; जिसमें दक्षिण, पूर्व, उत्तरकी ओर तीन विशाल द्वार भिन्न-भिन्न आकारके थे। वर्तमान बोधगया मंदिरका, जब पिछली शताब्दीमें जीर्णोद्धार हुआ तो उसके कितने ही भाग गिर गये थे और जीर्णोद्धारकोंके सामने पुराने मंदिरका कोई नमूना नहीं था, इसीलिये तिब्बतमें प्राप्य नमूनेसे वर्तमान मंदिरमें कहीं-कहीं विभिन्नता पाई जाती है।

तिब्बतके कुछ विहारोंमें कितने ही भारतीय चित्रपट भी मिलते हैं, जिनका अजन्ताकी कलासे सीधा सम्बन्ध है। इन चित्रोंके फोटो लेनेकी मेरी बड़ी इच्छा थी, लेकिन उनके फोटोके लिए खास प्लेटकी जरूरत थी जो मेरे पास मौजूद न थे।

सा-स्क्य मठके ग्य-ल्ह-खङमें छोटी-छोटी कई सौ पीतलकी मूर्तियाँ हैं जिनमें सौ से अधिक भारतसे गई हुई हैं। इनके बननेका समय ५वींसे १२वीं शताब्दी तक हो सकता है। इनमें ढाई दर्जनसे अधिक मूर्तियाँ तो कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त सुन्दर हैं। कुछ मूर्तियोंपर लेख भी हैं। मैंने कितनी ही मूर्तियोंका इस बार फोटो लिया है।

---

१ यह अब बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्से प्रकाशित हो रही हैं।

पहली यात्राओंकी अपेक्षा मेरी इस बारकी यात्रा ग्यांची, टशीलुम्पो, सा-स्क्या इस छोटेसे त्रिकोण—जिसकी प्रत्येक भुजा ६०-६५ मीलसे अधिक नहीं होती—तक ही परिसीमित रही है। यह त्रिकोण वस्तुतः भारतसे सम्बन्ध रखनेवाली साहित्य और कलाकी अनमोल सामग्रियोंका अच्छा संग्रह रखता है। मैं कमसे कम एक बार और[1] मध्य-तिब्बतकी यात्रा करना चाहता हूँ और अच्छी तैयारी-के साथ, जिसमें कि तिब्बतके जिन-जिन भागोंमें भारतीय वस्तुओंके होनेकी संभावना पाई जाती है वहाँ-वहाँ जाकर सभी चीजोंकी प्रतिलिपि या फोटो लिया जा सके।

---

१ यह यात्रा मैंने १९३८ में की।

# १५. सारन (बिहार)

## विस्तार और सीमा

'सारन' बिहारकी तिर्हुत कमिश्नरीका एक जिला है। इसका क्षेत्रफल २६७४ वर्गमील है। यह देवरिया, बलिया, आरा, पटना, मुजफ्फरपुर और चम्पारन जिलेसे घिरा हुआ है। इसकी उत्तरी और पूर्वी सीमा, गंडक, पश्चिमी सीमा घाघरा (सरयू) और दक्षिणी सीमा गंगा है।

## इतिहास

प्राचीन समयमें कुछ दक्षिणपूर्वी भागके अतिरिक्त, सभी सारन जिला प्राचीन मल्ल देशमें था, जिन मल्लोंकी एक शाखाके गणतंत्रकी राजधानी 'कुसीनारा' (वर्तमान कसया, जि० गोरखपुर) थी। बुद्धके समयमें 'गंडक'का नाम "मही" पाली-ग्रन्थोंमें मिलता है; और उसीको मध्यदेशकी यमुना, गंगा, सरयू, अचिरवती (राप्ती) और 'मही' में से एक कहा गया है। आज भी मढौड़ा फैक्टरीसे होकर बहनेवाली नदीका निचला भाग 'मही'के नामसे ही प्रसिद्ध है। यह 'मही' शीतलपुर स्टेशनके पास आकर पूरब तरफ घूम जाती है और सोनपुरमें हरिहरनाथ महादेवके पास जाकर गंडकसे मिल जाती है। बुद्धके समय गंडक इसी धारासे बहा करती थी और शीतलपुर या दिघवाराके पास कहींपर गंगासे मिलती थी। उस समय 'मही'के पूर्वका भाग--जिसमें आजकल दिघरावा, मिर्जापुर, परसा और सोनपुरके थाने हैं--गंडक-पारके भागसे मिला था। यह भाग इस प्रकार वैशालीके शक्तिशाली गणराज्यके अधीन था। आज भी इस भागकी भाषा सारनके और भागोंकी भाषासे कुछ भेद रखती है, और मुजफ्फरपुर जिलेके गंडकके किनारेवाले भागकी भाषासे मेल रखती है। उदाहरणार्थ जहाँ सारनके और भागोंमें "न" (नहीं) कहते हैं, वहाँ, यहाँके लोग "नँ" कहते हैं। वस्तुतः यह बोली आसपासकी भोजपुरी, मगही और मैथिली बोलियोंसे भिन्नता रखती है। यह भाग, जो पहले वैशालीके लिच्छवी क्षत्रियोंके वज्जी-गणराज्य

में था, गंडककी धाराके बदल जानेसे 'सारन' में चला आया। आज भी "मही" के पूर्वकी भूमि अधिकतर "बलुवा" (बालुका-मिश्रित) है, और साथ ही हरदिया आदिके 'चौंर' (झील) भी इसी भागमें पड़ते हैं, हैं जो बतला रहे कि, किसी समय गडककी धार इन्हीं जगहों से बहती थी। लोग भी कहते हैं कि, यह सारी भूमि गंडककी चाली हुई है।

इस प्रकार वर्तमान 'सारन' जिला प्राचीन मल्ल और बज्जी देशोंके भागसे बना है। उक्त दोनों ही देश स्वतन्त्रताप्रिय और गणराज्यवादी थे। कौन कह सकता है कि, आज सारन-वासियोंमें जो निर्भीकता, जो स्वातंत्र्य-प्रियता, जो उद्योगपरायणता, जो साहसिकता पाई जाती है; उसको उन्होंने अपने सहस्रों वर्ष पूर्वके पूर्वजोंसे वरासतमें नहीं पाया? गणतंत्र जब आगे जाकर मगध-साम्राज्यमें मिल गये, उसी समय सारनका भी मगध-साम्राज्यमें मिल जाना संभव है। मौर्योंके समयकी यद्यपि कोई चीज सारनमें नहीं मिली है, तोभी इससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं होगा कि, उस समयकी कोई सामग्री यहाँ है ही नहीं। बात यह है कि, सारनमें चिराँद, माझी, घूरापाली, दोन, सिवान, कल्याणपुर, बढ़या, दिघवा-दुबौली, अमनौर, सारन, पपउर, सोनपुर आदि कितने ही स्थान प्राचीन ध्वंसावशेषोंसे पूर्ण हैं; लेकिन आजतक उनकी खुदाई की ही नहीं गई। सोनपुरमें, गंडकके किनारे कालीजीके मंदिरके पीछेवाली ठाकुरबाड़ीके आँगनमें, तुलसी-चौतरेसे जड़ा हुआ, शुंगकालीन (ईसा-पूर्व दूसरी सदीका) एक स्तम्भ है। यह स्तम्भ उस समयके और स्तम्भोंकी तरह चुनारके पत्थरका बना हुआ है। यह बुद्ध-गयामें प्राप्त कठघरे (Railing) के खम्भे जैसा है। इसके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे पत्थर उसी जगह निकले हैं, यद्यपि उनका समय नहीं कहा जा सकता। उक्त स्थानसे उत्तर तरफ मध्य-कालीन कुछ मूर्तियाँ भी मिलती हैं। दिघवा-दुबौलीमें एक ताम्रपत्र भी है, जिसमें कन्नौजके गुर्जर-प्रतिहार-वंशीय राजा महेन्द्रपालने 'सावर्णगोत्री भट्ट पद्मसर'को एक गाँव दान किया था। उससे यह भी मालूम होता है कि, उस समय ताम्र-पत्रमें दिया गया गाँव श्रावस्ती-मण्डलके 'खालसिका' विषय (जिला)में था। आज भी वह ताम्रपत्र दिघवाँके पाँड़े लोगोंके घरमें है। मालूम होता है कि, सातवीं-आठवीं शताब्दीमें 'सारन' कन्नौजके अधीन था, इसलिये कन्नौज-राज्यके

भीतर बसनेवाले अन्य ब्राह्मणोंकी तरह सारन जिलेके ब्राह्मण भी कनौजिया कहे जाते हैं। सरयू-पारके होनेसे इन्हें 'सरयूपारी' या 'सरवरिया' भी कहते हैं। ब्राह्मणोंके अतिरिक्त हजाम, कोइरी, अहीर आदि जातियोंमें भी कनौजिया काफी मिलते हैं। यही नहीं कि गुर्जर-प्रतिहारोंसे पहले, जिस समय (७ वीं शताब्दीमें) कन्नौजके सिंहासनपर सम्राट् हर्षवर्द्धन विराजमान थे—उस समय, यह जिला कान्यकुब्ज—साम्राज्यके अन्तर्गत था; बल्कि उनके स्वजातीय बैस-क्षत्रियोंने, मालूम होता है, इस जिलेके 'इकमा' थानेके 'घूरापाली' गाँवमें एक गढ़ भी बनवाया था। आज भी बैसोंका वह गढ़ सड़कसे थोड़ा दक्षिण हटकर 'दिजोर'-के नामसे प्रसिद्ध है। समयान्तरमें जब बैसोंकी शक्ति क्षीण हो गई, तब वे लोग अपने गढ़को छोड़कर और स्थानोंमें—अतरसन, कोठियाँ-नराँव आदि—चले गये। उनके वंशधर आज भी इन जगहोंमें मौजूद हैं। अतरसन और कोठियाँ-नराँवके बैस-क्षत्रिय आज भी 'दिजोर'की सती-माईको पूजने जाते हैं। आज भी उन्हें अपनी प्राचीन स्मृतिका एक धुँधला-सा ख्याल है। मालूम होता है, गढ़ छोड़नेका कारण 'लाकठ' (राष्ट्रकूट या राठौर या गहरवार) हुए थे। संभवतः जब कन्नौजमें गहरवारोंका राज्य हुआ, तब उसी समय उनके स्वजातीय 'लाकठ' लोग इधर आये। उन्होंने बैस-क्षत्रियोंकी प्रभुताको हटाकर अपना सिक्का जमाया। आज भी 'दिजोर'के आसपासके गाँव लाकठोंके हैं। अतरसनमें भी, बैस-क्षत्रियोंकी स्थिति बहुत खराब नहीं हुई थी। तुर्कोंके आनेके समय अतर-सनमें एक अच्छा विष्णु-मन्दिर था; जिसकी काले पत्थरोंकी विष्णुमूर्ति आज भी उपलब्ध होकर एक शिवालयमें रखी हुई है। वहींपर गणेशकी मूर्तिके खण्ड भी मिले हैं। साथ ही एक छोटी-सी बोधि-सत्वकी प्रतिमा यह बतला रही है कि, कभी यहाँ बौद्ध भी थे। जान पड़ता है, तुर्कोंने यहाँके मन्दिरोंको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। पीछे कितने ही दिनोंतक कितने ही तुर्क यहाँ रहते भी थे, जिनकी तकिया और कब्रोंकी हड्डियाँ आज भी उपलब्ध होती हैं।

'माँझीमें' भी पालोंके समयकी बुद्ध-मूर्ति मिलती है। 'चिराँद'में किसी एक बौद्ध विहार या स्तूपके ऊपर बंगालके शाहोंकी बनवायी मस्जिद है। 'दोन'में एक पुराने स्तूपका ध्वंसावशेष मिला है। और जगहोंमें यद्यपि उतना अन्वेषण नहीं हुआ है, तो भी बड़ी-बड़ी ईंटें, पुराने कुएँ आदि मिलते हैं। मालूम पड़ता

है, तुर्कोंके हाथमें कन्नौजके चले जानेपर भी जयचन्दके पुत्र हरिश्चन्द्रका इस जिलेपर अधिकार था। हरिश्चन्द्रके बाद ( १३वीं शताब्दी में ) यह जिला दिल्लीके अधीन हो गया। मुसलमानी समयमें जिलेका प्रधान स्थान 'सारन' था, जो आज एक बड़े लम्बे-चौड़े 'डीह' (ऊँचे स्थान)पर एक छोटा-सा गाँव है। मुसलमानी कालमें इस जिलेका नाम 'सरकार सारन' था। १३ वीं शताब्दी-से १८ वीं शताब्दीतक यह जिला यद्यपि मुसलमानोंके हाथमें रहा, तो भी सारनके उत्तरी भागका परगना 'कुआड़ी' और उसके आसपासके कुछ हिस्से प्रतापी बगौछियोंके हाथमें था। इस वंशके लोग पहले कल्याणपुरमें राज्य करते थे, पीछे राजधानी 'हुस्सेपुर' हुई। जब अँगरेजोंके आनेपर (१७६५ ई० में) वीर-श्रेष्ठ महाराज फतेह साहीने अँगरेजोंकी ताबेदारी स्वीकार न की, तब कम्पनीसे बहुत संघर्ष हुआ। इस संघर्षमें महाराजको हुस्सेपुर छोड़कर 'तमकुही'के जंगलोंमें चला जाना पड़ा। सारनके इस 'प्रताप' (फतेहसाही)ने महाराणा प्रतापकी तरह न जाने कितने कष्ट सहे, लेकिन तो भी जीवन-भर उसने दासता स्वीकार नहीं की। अँगरेजोंने १७९१ ई० में उसका राज्य भाईके पोते छत्रधारी साहीको दे दिया। उस समयसे राजधानी 'हथुआ' हो गई।

बगौछिया 'व्याघ्रपद-गोत्र'से बना है। मल्लोंकी ९ शाखाओंमें कोली भी एक शाखा थी, जिसके वंशमें सिद्धार्थ गौतमकी शादी हुई थी। ये कोली लोग व्याघ्रपद-गोत्रके थे, और मल्लोंकी शाखा होनेके कारण अन्य मल्लोंकी तरह इनके नामके साथ भी 'मल्ल' लगना स्वाभाविक था। 'हथुआ' के राजाओंकी, पचासों पुरानी पीढ़ियों तक, कल्याणमल्ल आदिकी तरह, 'मल्ल' उपाधि होती थी। वस्तुतः 'पड़रौना'के राजा साहब (जो आज-कल सैंथवार कहे जाते हैं) और हथुआ तथा तमकुहीके बगौछिया (जो आज-कल भूमिहार-ब्राह्मण कहे जाते हैं) एवं मझौलीके राजा साहब (जो आज-कल बिसेन-राजपूत कहे जाते हैं) एक ही मल्ल-क्षत्रियोंके वंशधर हैं। कालान्तरमें, भिन्न-भिन्न जातियों से विवाह-सम्बन्ध, प्रभुताहानि, राज्य-क्रान्ति आदि कारणोंसे इन्हें तीन जातियों में बँट जाना पड़ा। मझौलीके राजवंशमें भी राजाओंके नाम 'मल्ल' ही पर होते हैं। सैंथवारोंमें तो गरीब-से-गरीब सैंथवार मल्ल ही के नामसे पुकारा जाता है। आज भी यह जाति मल्ल-देशके केन्द्रमें बसती है।

सारनमें 'अमनौर'के बाबू साहब एक प्रतिष्ठित राजपूत-वंशके हैं। यह वंश गहरवारों या राठौरोंकी एक शाखा से है और यहाँ 'कर्मवार'के नामसे प्रसिद्ध है। कर्मवारोंके पहले अमनौर चौहानोंका था। अब भी आसपासके कितने ही गाँवोंमें चौहानोंकी काफी संख्या है। तुर्कोंके आनेसे पहले भी यह स्थान अवश्य कुछ महत्त्व रखता था। आज भी अमनौरमें, "रहता बाबा"के नामसे प्रसिद्ध, विशाल विष्णुमूर्तिके सिंहासन वाला काले पत्थरका भाग मौजूद है, जिससे मालूम होता है कि, किसी समय यहाँ एक विशाल विष्णु-मन्दिर था। पुराने गढ़का निशान अभी मौजूद है। यह मन्दिर संभवतः १३वीं शताब्दीमें तोड़ दिया गया। तो भी बहादुर चौहान अपने अधिकारको छोड़नेके लिये तैयार न थे। दिल्लीको यहाँसे कौड़ी मिलनी मुश्किल थी। इसीलिये बादशाहने 'मकेर' परगना (जिसमें 'अमनौर' है) एक मुसलमानी फकीरको माफी दे दिया। उक्त फकीरके साथ, दखल करनेके लिये, कर्मवार-क्षत्रिय अमनौर पहुँचे। कहते हैं, फकीरने अपने लिये सिर्फ 'मकेर' गाँव रखा और बाकी कर्मवारोंको दे दिया। इसी वंशके दो भाइयोंमेंसे एक भाई किसी कारण मुसलमान हो गया, जिसके वंशधर आज-कल मुजफ्फरपुर जिलेके परसौनीके राजा साहब हैं और दूसरेके वंशधर अमनौरके बाबू साहब हैं। एक बार अमनौरकी सभा सम्पत्ति नष्ट हो चुकी थी, पीछे यहाँके कोई पुरुष पेशवाके दरबारमें गये और वहाँ उन्होंने अपनी बहादुरीसे बड़ा सम्मान पाया। मराठा-साम्राज्यके नष्ट होनेपर उक्त पुरुष बहुत सम्पत्तिके साथ अमनौर आये और उन्होंने फिर बहुत-सी जमीन्दारी खरीदी।

किसी समय इस जिलेके अधिकांशके अधिपति 'एकसरिया भूमिहार' थे। यद्यपि इनकी अवस्था अब पहलेकी-सी नहीं है, तो भी परसा, चैनपुर और बगौरा-के बाबू लोगोंके पास काफी जमीन्दारी रही। मुसलमानोंमें 'खोजवाँ'के नवाब-खान्दानकी बड़ी प्रतिष्ठा है। ये लोग शिया मुसलमान हैं, हिन्दुओंसे इनका सम्बन्ध हमेशा ही अच्छा रहा है।

सन् १७६५ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनीको बिहार और बंगालकी दीवानी मिली। उसी समय सारन जिला भी अँगरेजोंके हाथ आया। पहले 'सारन' और 'चम्पारन' एक ही जिलेमें सम्मिलित थे। १८३७ ई० में 'चम्पारन' एक

स्वतंत्र जिला मान लिया गया, लेकिन दोनोंकी मालगुजारी अलग न की गई। १८६६ में वह भी अलग कर दी गई। जिस समय सारन और चम्पारनका एक जिला था, उस समय 'परसा'(थाना परसा) में दीवानी कचहरी थी और उसकी बड़ी श्रीवृद्धि भी थी। १८४८ ई० में 'सिवान' और १८७५ ई० में 'गोपालगंज' नाम के दो सबडिवीजन कायम हुए, जिसके कारण कचहरियाँ वहाँ चली गईं और इस प्रकार सिवान और गोपालगंजकी तरक्की होने लगी।

## नदियाँ, उपज और व्यापार

सारन जिलेमें यद्यपि धानकी खेती काफी होती है, तो भी कितने ही भाग रबी और खरीफके लिये ही उपयोगी हैं। किसी समय इस जिलेमें नीलकी बहुत-सी कोठियाँ थीं, लेकिन नीलके उठनेके साथ-साथ वे खतम हो गईं। इस जिलेमें ईख भी अच्छी होती है। महरौड़ा, पँचरुखी, महाराजगंज, सिवान, सिधवलिया-के चीनीके कारखानोंके कारण ईखकी खेतीमें और भी तरक्की हुई है। यद्यपि सिंचाईका समुचित प्रबन्ध नहीं है, तोभी कई इलाकोंकी ईख इन कारखानोंके द्वारा खतम नहीं होने पाती। आज भी इस जिलेमें आधे दर्जन बड़े-बड़े चीनीके कारखानोंकी गुञ्जायश है। मसरखथावे-लाइन (पूर्वोत्तर रेलवे)के खुल जानेसे ईख बोने वालोंको आसानी हो गयी।

महाराजगंज और मीरगंजकी मण्डियोंमें कपासकी काफी आमदनी होती है। यद्यपि कपासकी खेतीके लिये उत्साह देनेका प्रबन्ध नहीं है, तो भी कपास बोई जाती है और कपास बोने योग्य भूमि भी बहुत है। किसी समय जब इन दोनों जगहोंमें कपड़ेके कारखाने खुल जायेंगे, तब इसमें शक नहीं कि, कपासकी खेतीमें भी वैसी ही उन्नति होगी, जैसी चीनीके कारखानोंसे ईखकी खेतीमें। भाठ जमीनमें रेंड़ीकी भी खूब खेती होती है। इनके अतिरिक्त जौ, गेहूँ, सरसों, मटर, चना, मकई आदिकी पैदावार भी होती है। 'कुआड़ी' परगनेकी तरफ कोदो और अन्य स्थानोंपर मँड़ुएकी भी खेती होती है। जिलेके गरीब किसान अधिकतर मँड़आ, मकई, कोदो और शकरकंद तथा सुथनीपर गुजर करते हैं।

सारनकी आबादी बहुत ही घनी है। जोतने लायक भूमि सभी जोती जा चुकी हैं। पशुओंके चरनेके लिये बहुत कम जगह बाकी है। खेतके जोतने-बोनेमें जितना परिश्रम यहाँके किसान करते हैं, उतना बिहारके किसी जिलेके

नहीं। एक तरहसे, प्राचीन ढँगके अनुसार खेतीकी जितनी उन्नति की जा सकती है, उतनी यहाँ हो चुकी है। इसमें और अधिक उन्नति करनेके लिये वैज्ञानिक रीतिका अवलम्बन करना होगा, जिसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई यह है कि, खेत बहुत छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बँट गये हैं और कई जगह बिखरे हुए हैं। दूसरी कठिनाई है, सिंचाईका ठीक प्रबंध न होनेके कारण लोगोंको अधिकतर दैवपर भरोसा रखना पड़ता है। तीसरी बात यह है कि, और जगहोंकी तरह यहाँके किसानोंका भी सहयोग-समितियों, सरकारी वैज्ञानिक खेतों और कीमती कलोंपर विश्वास नहीं है; क्योंकि ये चीजें ऐसे लोगों और महकमों द्वारा उनके सामने पेश की जाती हैं कि वे उन्हे अपने बस और नफेकी बात नहीं समझते। इन कठिनाइयोंके हट जानेपर इसमें शक नहीं कि, यह जिला सबसे पहले नवीन ढँगकी खेतीको अपनायेगा क्योंकि घनी आबादी और अधिक जनसंख्याके कारण इस जिलेमें जीवन-संघर्ष अधिक है। यहाँके निवासी बहुत पहलेहीसे आमदनीके हर-एक रास्तेको स्वीकार करनेके लिये तैयार हैं। यहाँके स्वतंत्र-व्यवसाय-प्रेमी निवासी, किसान, दूकानदार, हजाम, मजदूर, दरवान आदि केवल बिहारहीके हर एक जिलेमें नहीं, बल्कि दार्जिलिंग, कलकत्ता, रंगून, पूर्व बंगाल, आसाम, बर्मा और सिंगापुर तक फैले हुए हैं। यहाँ तक कि, समुद्र-पार मोरिशस, दक्षिणी अफ्रीका, फीजी, ट्रिनीडाड, गायना आदिमें भी हजारोंकी संख्यामें जाकर बस गये हैं। अपनी भाषा, भेख और व्यक्तित्वका जितना खयाल सारन-निवासियोंको है, उतना शायद ही किसी और जिलेके निवासियोंको होगा। यहाँके उच्चशिक्षित जन भी घर या विदेशमें—कहीं भी—मिलनेपर, अपनीही बोली (भोजपुरी)का प्रयोग करते हैं। चाहे यहाँके हिन्दू और मुसलमान घरमें लड़ते हों, तो भी विदेशोंमें जानेपर अक्सर देखा जाता है, कि वे मजहबसे भी अधिक अपने जिलेको मानते हैं।

गंगा, सरयू, गंडक—इन तीन बड़ी नदियोंके अतिरिक्त झरही, दाहा आदि कितनीही नदियाँ इस जिलेमें हैं, जो अधिकतर किसी झीलसे निकली हैं अथवा जो गंडक, घाघरा (सरयू) या गंगासे निकलनेवाले सोते (स्रोत) हैं। गंडककी धारा अनिश्चित है, इसी कारण सारे जिलेमें उसके लिये एक मजबूत बाँध बाँधा गया है। यद्यपि इस बाँधके कारण आसपासकी बस्तियाँ बाढ़से सुरक्षित हैं,

तो भी बाढ़की उपजाऊ मिट्टी न मिलनेके कारण आसपासके खेतोंकी उर्वरा-शक्ति बहुत ही क्षीण हो गई है। यह अन्तर फसलके वक्त गंडकके बाँधपर खड़ा होकर दोनों ओर देखनेसे स्पष्ट मालूम होता है। जहाँ बाँधके भीतर बिना खाद, सिंचाई और काफी जुताईके ही फसल उपजकर गिर जाती है; वहाँ बाँधसे बाहर पीले-पीले पौधे एकदम मुर्झाये हुए दीख पड़ते हैं। गंडककी धार वहुत ऊँचेसे बहती है, इसीलिये अल्प परिश्रमसे नहरें निकाली जा सकती हैं। पहले 'सारन नहर' (Saran Canal) काम भी कर रही थीं; लेकिन कितने ही वर्षोंसे उन्हें बन्द कर दिया गया। इसी तरह कुछ झीलों (चौरों)से पानीके निकास न होनेके कारण फसलका नुकसान होता है। उदाहरणार्थ हरदियाका चौंर है। लेकिन अभी तक सरकारको उधर ध्यान देनेकी फुरसत ही नहीं है। छपरा मुफस्सिल थानेके कितने ही स्थानोंको सरयू और गंगाका पानी नहरों द्वारा मिलता था; किन्तु न अब जमीन्दारोंको उसकी परवाह है न सरकारको।

छपरा, सिवान, महाराजगंज और मीरगंज इस जिलेमें व्यापारके केन्द्र हैं। इसके अलावा मसरख, मैरवाँ, थावे, बरौली आदिमें भी अच्छे बाजार हैं। सिवानमें मिट्टी और काँसेके बरतन अच्छे बनते हैं। परसा (थाना इकमा)में भी काँसेके बरतनोंकी अच्छी ढलाई होती है। चिराँद और दिघवारेके आसपास धानकी उपज अच्छी होती है, "परवल"की पैदावार भी खूब होती है।

## जाति और सम्प्रदाय

इस जिलेमें सत्तासी फीसदी से अधिक संख्या हिन्दुओंकी है, बाकी मुसलमान हैं। ईसाई या दूसरे मजहबवाले नाम-मात्रके हैं। 'मुसलमान' सिवान और बड़हरिया थानेमें अधिक हैं, जिनमें जुलाहा, धुनिया आदिकी संख्या ज्यादा है। कितने ही राजपूत और भूमिहार 'मुसलमान' होकर अब पठान कहे जाते हैं। कितने ही बढ़ई, माली और तेली भी मुसलमान पाये जाते हैं। 'कुआड़ी'में कितने ही हिन्दू दर्जी भी हैं। हज्जाम और धोबी दोनों मजहबके पाये जाते हैं। शिया मुसलमानोंकी संख्या बहुत कम है, तो भी वे अधिक शिक्षित, सभ्य और धन-सम्पन्न हैं। अधिक संख्या यहाँ परसा और मिर्जापुरके थानेमें अहीरोंकी है। हिन्दुओंमें गंगा और गंडकके दीयरों और कछारोंमें, गोचर-भूमिकी अधिकताके कारण, इन (अहीरों)की संख्या अधिक मिलती है। यह बड़ी मेहनती और

बहादुर जाति है; लेकिन गाय-भैंसोंके पालनेकी पहले-जैसी सुविधा न होनेके कारण इनकी आर्थिक अवस्था बहुत गिरी हुई है। इस जिलेके लोगोंको पशु-रक्षासे बड़ा प्रेम है और वे अपने बैलोंको खिला-पिलाकर जगह-जगह लगनेवाली हाटोंमें बेचते रहते हैं।

अहीरोंके बाद इस जिलेमें राजपूत, ब्राह्मण और भूमिहार ही संख्यामें अधिक हैं, जिनमें स्वावलम्बी एवं स्वाभिमानी भूमिहार-ब्राह्मण आर्थिक दृष्टिसे सबसे अच्छे हैं। शिक्षामें कायस्थोंके बाद इन्हींका नम्बर है। इनके अतिरिक्त चमार, दुसाध आदि जातियाँ भी हैं। कोइरी ऐसे तो जिले भरमें फैले हुए हैं; लेकिन 'कुआड़ी'में उनकी संख्या बहुत है। जैसवार-कुर्मीके अतिरिक्त अवधिया लोग मिर्जापुर तथा परसा थानेमें अधिक मिलते हैं। राजपूतों और भूमिहारोंमें कितनी हो एक ही गोत्र और एक ही मूलकी उपजातियाँ हैं। जैसे टेटिहा राजपूत और टेटिहा भूमिहार दोनों ही के गोत्र काश्यप हैं। जान पड़ता है ये जातियाँ एक ही वंशकी दो शाखाएँ हैं, जो कालान्तरमें दो—ब्राह्मण और क्षत्रिय—वर्णोंमें विभक्त हो गईं। इसी प्रकार कितने ही भूमिहार 'ब्राह्मण' और कितने ही ब्राह्मण 'भूमिहार'के रूपमें परिणत हो गये। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिन्दुओंमें शैव, वैष्णव, कबीरपन्थी, शिवनारायणी, आर्यसमाजी आदि कितने ही मतके आदमी मिलते हैं।

### मेले

गाय, बैल, हाथी, घोड़ा, सभीके क्रय-विक्रयके लिये 'सोनपुर' (हरिहरक्षेत्र) का मेला सारे हिन्दुस्तानमें प्रसिद्ध है। सोनपुरमें, कार्तिकी पूर्णिमाको, १५ दिनोंके लिये, एक खासा शहर बस जाता है, जिसमें हिन्दुस्तान भरके सौदागर हर तरहकी चीजें बेचनेको लाते हैं। उस वक्त तो कई हजार हाथी ही बिकनेको आते हैं। मेलेमें अब पानीके कलका भी प्रबन्ध हो गया है और बिजलीका भी। १८५७ के विद्रोहके समय भी यह मेला लगता था, तो भी वृद्धोंका कहना है कि, पचास-साठ वर्ष पहले यह मेला इतना बड़ा न था। मुसलमानी शासनके अन्तिम दिनों या कम्पनीके आरम्भिक दिनोंमें इस मेलेका आरम्भ हुआ जान पड़ता है। हाँ, हरिहरनाथकी पूजाका छोटा-मोटा मेला पहलेका भी हो सकता है। सोनपुर-के अतिरिक्त चैत्र-रामनवमीको लगनेवाला 'डुमरसन'का घोड़ा-बैलकामेला

भी प्रसिद्ध है। बरईपट्टी, छितौली आदिमें भी घोड़ा-बैलके मेले लगते हैं। ऐसे तो हाटकी तरह सप्ताहमें बैल-हट्टा पचासों जगहोंमें लगा करता है। और स्नान-सम्बन्धी मेलोंमें सेमरिया, आमी, सिल्हौरी, ढोंढ़नाथ, मेंहदार, थावे और भैरवांके भी मेले उल्लेखनीय हैं।

## साहित्य और शिक्षा प्रचार

यहाँके पुराने समयके साहित्यिकोंका कोई पता नहीं मिलता। मल्ल और वज्जी दोनों ही देशोंमें अब्राह्मण धर्मोंकी ही प्रधानता थी। जरूर उस समय यहाँके लोगोंमें कवि और विचारक पैदा हुए होंगे; लेकिन मालूम होता है कि, पीछे उनके नाम और उनकी कृतियाँ, दोनों ही लुप्त हो गये। मुसलमानी जमानेमें, शाहजहाँके समय, माझीमें धरणीदास नामक एक सन्त और कवि हुए थे, जिनके 'ज्ञानप्रकाश' और 'प्रेमप्रकाश' नामक दो ग्रन्थ अब भी मौजूद हैं। माँझीके मुसलमान-राजपूत बाबू लोग कविताके बड़े ही प्रेमी थे। कबीर-पन्थियोंका अत्यन्त पुराना मठ 'धनौती'में आज भी विद्यमान है। कवि धरणीदास (१७वीं शताब्दी)के बादके साहित्यिकोंके नाम भी आज-कल मिलने मुश्किल हैं। १९ वीं शताब्दीके मध्यमें गयासपुर (थाना 'सिसवन')के 'सखावत'ने वीर कुँवरसिंहका "कुँअर-पचासा" बनाया था, जो अभी तक अप्रकाशित है और जिसका एक पद्य इस तरह है—

**"बारह सौ एकसट्ठमें, ग्रीषम रितु जेठ मास।**
**बाबू कूँअर सिंह ने, किय गोरनको नास॥"**

सखावतने रावण-मन्दोदरी-संवाद भी लिखा था। उनकी कविताएँ अब भी कुछ लोगोंको कण्ठस्थ हैं; लेकिन पाठ बहुत अशुद्ध हो गये हैं। उनके बाद १९ वीं शताब्दीके अन्तमें माँझाके स्वामी बाबू श्रीधर साही तथा पटेढ़ीके बाबू नगनारायण सिंह भी अच्छे साहित्य-प्रेमी तथा स्वयं कवि थे। श्रीधर कविकी एक कविता इस प्रकार है—

**"एरी रसना तू रसवाली चाहबे तो,**
**रसका पियाला में पिलाऊँ तोहि रहु-रहु।**
**यही लोभ लिये में तो मेवाजात काबुलको,**
**मोल ले खिलाऊँ औ खिलाऊँ जौन चहु-चहु।**

**पालि-पालि श्रीधर रिष्ट-पुष्ट कीन्हों तोहि,**
**पावन हुआ चाहु तो ऐसो लाहु लहु-लहु।**
**रैन-दिन जामहूँमें घरी-छन कामहूँमें,**
**राधाकृष्ण राधाकृष्ण राधाकृष्ण कहु-कहु॥"**

पिछली शताब्दी और वर्तमान शताब्दीमें इस जिलेने कई लेखक और वक्ता पैदा किये हैं। संस्कृतके दिग्गज विद्वान्, हिन्दीके सुलेखक महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्माको पैदा करनेका सौभाग्य इसी जिलेको है।[1] पण्डित गयादत्त त्रिपाठी, पण्डित शिवशरण शर्मा, 'सूर्योदय' सम्पादक पण्डित विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री, पण्डित गोपालप्रसाद शास्त्री आदि कितने ही उच्च-कोटिके संस्कृतज्ञ विद्वान्, वक्ता और लेखक इस जिलेके हैं। हिन्दी लेखकोंमें बाबू राजबल्लभ सहाय, बाबू दामोदर सहाय सिंह ,कविकिंकर', बाबू पारसनाथ सिंह बी० ए०, एल० एल० बी०, पण्डित जीवानन्द शर्मा 'काव्यतीर्थ' ('श्रीकमला' और 'प्रजा-बंधु'के भूतपूर्व सम्पादक), गोस्वामी भैरव गिरि, बाबू विश्वनाथ सहाय ('महा-वीर' सम्पादक) आदि भी यहाँके हैं। पटनेके अँगरेजी दैनिक 'सर्चलाइट'के सम्पादक बाबू मुरलीमनोहरप्रसाद वर्मा भी इसी जिलेके हैं।

बिहारमें सबसे ज्यादा शिक्षाका प्रचार इसी जिलेमें है। यहाँ कहीं-कहीं दो-तीन मील पर हाईस्कूल हैं। इस जिलेमें पहिलेसे मिडिल तक हिन्दी-शिक्षा निःशुल्क है। जिला-बोर्डोंमें सुधारके साथ ही, सौभाग्यसे, इस जिलेको स्वर्गीय महात्मा मज़हरुलहक साहब-जैसा चेयरमैन मिला था, उन्होंने अपना सारा समय जिलेमें शिक्षा प्रचार करनेमें लगा दिया था। उसी समय स्वर्गीय बाबू राधिकाप्रसादजी इस जिलेके स्कूलोंके डिपुटी-इन्सपेक्टर थे। इस सुन्दर जोड़ीके मिल जानेसे इस जिलेने शिक्षामें बड़ी उन्नति की। लोगोंमें अंग्रेजी मिडिल स्कूल और हाईस्कूल खोलनेकी तो होड़-सी लग गई। इतनी माध्यमिक शिक्षा-संस्थाओंके खोलनेका उत्साह बिहारके और किसी जिलेमें देखा नहीं जाता।

---

**१ स्वनामधन्य विद्या-प्रेमी स्वर्गीय खुदाबख्श खाँ भी इसी जिलेके निवासी थे, जिनकी जगत्प्रसिद्ध ओरिएण्टल लाइब्रेरी पटनेमें मौजूद हैं।**

**—लेखक**

स्कूल खुलने नहीं पाता कि, विद्यार्थी भर जाते हैं। छपरा में दो और सीवानमें एक डिग्री कालेज हैं।

### जन-नायक

स्वर्गीय महात्मा मज्हरुलहक साहब, बाबू राजेन्द्रप्रसाद और बाबू ब्रज-किशोरप्रसाद-जैसे नेताओंकी जन्मभूमि भी यही जिला है। यहाँ ऐसे जन-नायकों-की काफी संख्या थी, जो दूसरे जिलोंमें जाकर आसानीसे सर्वमान्य नेता बने।

### मल्ल (पहलवान)

ग्रियर्सनने भोजपुरी बोलीको बहादुरोंकी बोली बतलाया है, लेकिन 'सारन' केवल भोजपुरी बोली ही नहीं बोलता, बल्कि यहाँके निवासी बड़े सबल-शरीर भी होते हैं। प्राचीन मल्ल देशके सम्बन्धसे ही शायद पहलवानोंको 'मल्ल' कहते हैं। यहाँके लोग बिहारके और जिलोंकी अपेक्षा अधिक मजबूत और मोटे-ताजे होते हैं। यद्यपि कुश्तीका पहले जैसा शौक अब लोगोंमें नहीं देखा जाता, तो भी यहाँकी भूमि कभी-कभी बड़े-बड़े पहलवानोंको पैदा कर देती है। भारत-प्रसिद्ध पहलवान स्वर्गीय बाबू सुचित सिंह यहींके थे। अन्य कई पहलवानोंके अतिरिक्त, बाबू वंशीसिंहने बड़ी ही प्रसिद्धि प्राप्त की।

### शहर और कस्बे

"**छपरा**"—अँगरेजोंके आने से पहले छपराका उतना महत्त्व न था, लेकिन कम्पनीके आनेके साथ ही यहाँकी श्रीवृद्धि हुई। अँगरेजों और दूसरी युरोपीय जातियोंने यहाँ अपनी कोठियाँ खोलीं। गंगा और घाघराके पास होनेके कारण यहाँ मालसे भरी नावोंके आने-जानेकी आसानी थी। पीछे अनेक व्यव-सायी आकर बसने लगे। सारन-जिलेका मुख्य केन्द्र-नगर हो जानेपर तो इसके लिये और भी तरक्की-का रास्ता खुल गया। इस शहरकी आबादी आधे लाखके करीब है। यहाँ सरकारी कचहरियोंके अतिरिक्त चार हाईस्कूल, दो डिग्री कालेज, आदमी और जानवरोंके अस्पताल हैं। यहाँसे एक रेल-पथ सोनपुर होता हुआ कटिहारकी ओर गया है; दूसरा माँझी होकर बनारसकी ओर; तीसरा सिवान होकर गोरखपुरकी ओर; चौथा मसरख, गोपालगंज होता थावेमें आ मिला है। पटना जानेके लिए सोनपुरसे पहलेजा-घाट जाना पड़ता

है। इसी प्रकार दुरौंधासे एक लाइन महाराजगंजको और थावेसे एक लाइन कप्तानगंज और गोरखपुरको गई है। यद्यपि यह नगर सारन जिलेके बीचमें न होकर एक किनारेपर है, तो भी यहाँ चारों ओरकी रेलोंका मिलान होता है। भोजपुरी-भाषा-भाषी प्रदेशके तो यह केन्द्र में अवस्थित है, इसीलिये यहाँकी भोजपुरीका टकसाली होना स्वाभाविक है।

"**रिविलगंज**"—पहले यहाँ व्यापारकी एक मण्डी थी। गंगा और सरयूका यहीं संगम होता था। किन्तु आज-कल रेलके हो जानेसे इसका वह महत्त्व जाता रहा। यद्यपि यहाँ म्युनिसिपैलिटी है, तो भी कस्बेकी अवस्था दिन-पर-दिन गिरती ही जाती है।

"**सिवान**"—सारन जिलेके एक सबडिवीजनका यह सदर है। यहाँके मिट्टी और काँसेके बरतन बहुत मशहूर हैं। इसका दूसरा नाम 'अलीगंज' भी है। यहाँ ईखके दो और रुई धुननेका एक कारखाना है। उद्योग-धन्धेकी वृद्धि-की और भी गुंजाइश है। यहाँ कई हाईस्कूल और एक डिग्री कालेज है।

"**हथुआ**"—यह इस जिलेके सबसे बड़े जमीन्दार महाराजा-बहादुर हथुआ-की राजधानी रही। यहाँ भी एक हाईस्कूल है।

## १६. सहोर और विक्रमशिला

आधुनिक कालमें शरच्चन्द्रदास सर्वप्रथम भारतीय थे, जिन्होंने भोट और भोटिया साहित्यकी खोजमें सर्वप्रथम प्रयत्न किया। उन्होंने भोटमें प्रथम भारतीय प्रचारक 'तत्त्वसंग्रह' कार महान् दार्शनिक, नालन्दाके आचार्य शान्तरक्षित (अष्टम ईताब्दी)को बंगाली लिखा। उन्हींका अनुकरण करते हुए डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्यने तत्त्वसंग्रहकी[1] भूमिकामें सहोरको ढाका जिलेके विक्रम-पुर परगनेका साभर ग्राम निश्चय कर डाला; भट्टाचार्य महाशयके इस निश्चयके लिए उन्हें कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उन्होंने भोटिया ग्रन्थोंको देखा नहीं। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि अनेक दृढ़ तथा स्पष्ट प्रमाणोंके होते, स्वर्गीय श्री शरच्चन्द्रदास तथा महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण इस निश्चय पर कैसे पहुँचे। इसके दो ही कारण हो सकते हैं, या तो उनके सामने वे सारे प्रमाण वाले ग्रन्थ नहीं थे; अथवा उन्होंने भी कितने ही बंगाली विद्वानोंकी भाँति, भारतके सभी मस्तिष्कोंको बंगाली बनानेकी धुनमें ऐसा किया।

जिस स्थान सहोर तथा 'भगल' (भंगल)के कारण यह गलती हुई है, वह आचार्य शान्तरक्षितके अतिरिक्त विक्रमशिलाके आचार्य दीपंकर श्रीज्ञानकी भी जन्म-भूमि थी। इस स्थानके विषयमें भोटिया ग्रन्थोंसे यहाँ कुछ उद्धरण देता हूँ :

ल्हासाके पास छुन्-जे-लिङ-गुम्वा-विहार है। इसके छापाखाना के (ङ) नामक पोथीके पृष्ठ १५२—९२ में दीपंकर श्रीज्ञानकी जीवनी है। उसमें लिखा है :—

(पृ० १५२) "संस्कृत भाषामें दीपंकर श्रीज्ञान भोटकी भाषामें द्पल्-मर्-मे-म्ज़द्-ये-शेस्। अन्य नाम जो-वो (भट्टारक) तथा अतिशा है। ······· जन्म देश है, (१) भारतकी पूर्व दिशा में सहोर। वहाँ (२) भंगल नामका

---

१ तत्त्वसंग्रह—Vol. II. p. XIII.—Gaikevad's Oriental Series.

बड़ा पुर (नगर) है।...... जिसके अन्दर राजप्रासाद कांचनध्वज (गसेर्-ग्यि-र्ग्यल्-म्छन्)... था।... । पिता थे राजा कल्याण श्री (द्गे-वई-द्पल्)...। माता श्री प्रभावती (द्पल्-मो-ओद्=जेर्-चन्)...। दोनोंको (एक) पुत्र जल-पुरुष-अश्व-वर्ष (छु-फो-र्त लो=मन्मथ संवत्सर १०३९ विक्रमाब्द, ९८२ सन् ई०) में हुआ।......(पृष्ठ १५३)...... उस प्रासाद (कांचन ध्वज) के (३) नातिदूर (मि-रिङ-व-शिग्-व) विक्रमल पुरि (? विक्रमशिला) नामक विहार-(ग्चुग्-लग्-खङ) है।......। पाँच सौ रथोंसे परिवारित राजा...उस विहार में गये।....(पृ० १५५)..... उस प्रासादके नातिदूर एक आवासमें जितारि... रहते हैं, सुना।......।"

ल्हासा और भोटका सबसे बड़ा विहार ड-पुङ (ऽब्रस्-स्पुङ्स्) है। जिसमें सात हजारसे अधिक भिक्षु वास करते हैं। पाँचवें दलाई लामा ब्लो ब्-जङ-र्ग्य-म्छो (सुमति सागर १६१८–८४ ई०) यहीं के एक महन्थ थे, जिनको मंगोलों-ने सारा भोट देश जीतकर गुरु दक्षिणामें दिया। उन्हींके उत्तराधिकारी और अवतार वर्त्तमान १४वें दलाई लामा हैं। इस विहारके छापाखानेके (जौ नामक पोथी में 'गुरुगुण-धर्माकर (ब्ल्-मइ-योन्-तन्-छोस्-क्यि-ऽब्युङ-ग्नस्) नाम वाला दीपंकरका जीवन चरित है। इसमें लिखा है—

(पृ० १) "भारत पूर्व दिशा सहोर देशोत्तममें, भंगल नामक पुर है। इसके स्वामी धर्मराज कल्याण श्री.....। प्रासाद कांचन ध्वज। मनुष्योंके घर एक लाख....। धर्मराजकी रानी श्री प्रभावती...।.....(६) उस प्रासादके उत्तर दिशामें विक्रमल पुरी...(=विक्रमशिला) है। उस विहार में जाकर पूजा करनेको माता-पिता...पाँच सौ रथोंके साथ....।"

पीछे पढ़ने तथा भिक्षु बननेके लिए नालन्दा[1] जानेपर (१००२ ई०?) दीपंकरने नालन्दाके राजा (विग्रहपाल द्वितीय?) को कहा था—(पृ०७) "....मैं पूर्व दिशा सहोर देशसे आया हूँ। कांचनध्वज प्रासाद से।.....नालन्दाके राजाने कहा—तुम पूर्व दिशा सहोर राजाके कुमार हो।... (७) तुमने विक्रम पुरमें ही अनन्त देववदन सदृश रत्नप्रासादमें भिक्षु बननेको मनमें नहीं किया...।

१ नालन्दा (बड़गाँव) से बिहार शरीफ ६ मील पर है, जो कि पाल-वंशियोंकी राजधानी थी।

····(पृ० ९) "मैं भंगलके राजाका पुत्र हूँ। कांचनध्वज महलसे····
नालन्दा विहार आया।······।"

इसी (ज) पोथीके चौथे ग्रन्थ "जों-वों-द्पल-ल्दन्-मर्-मे-म्जद्-ये-शेस्-शेस्-कि य-र्नम्-थर्-ग्यंस्-प" (भट्टारक दीपंकर श्री ज्ञानकी वृहत् जीवनी) में आता है:

(पृ० २१) "(८) श्री वज्रासन (बुद्ध गया)की पूर्व दिशामें भंगल महादेश है। उस भंगल देशमें बड़ा नगर है भिक्रपुरी (विक्रमशिला)···। (९) इस (देश)का नामान्तर सहोर है। जिसके भीतर (१०) भिक्रमपुरी नामक नगर है।······" फिर लिखा है (पृ० २२) "······पूर्व दिशा देशोत्तम सहोर है। वहाँ भिक्रमलपुरी महानगर है····।"

इसी ग्रन्थमें विक्रम शिलाके निर्माणके सम्बन्धमें यह बातें मिलती हैं—
(पृ० ३९) "····संस्कृत भाषामें नाम 'गोपाल' है।······उसके···पुत्र···
राजा धर्मपाल···(पृ० ४०) इस राजाका पुत्र··देवपाल नामक हुआ।····
इस राजाने···विहार बनवाया··नाम विकमलशील हुआ।······।"

तिब्बतसे जो लोग दीपंकरको बुलाने आये थे उनका विक्रम-शिलाका मार्ग इस प्रकार था:—

(पृ० ४९) "····नेपालसे···भारत मध्य देशमें पहुँचे। (१०) जानेपर गंगा नदी। दिन समाप्त होते गंगा नदीके घाटपर पहुँचे।····(पृ० ५०)····
वहाँ गंगा नदीके तटपर (११) एक पहाड़ी (ब्रग्-देउ-शिग् = शिला)के ऊपर विक्रमशिला थी। वहाँ उसके पश्चिमके मुसाफिरखानामें जा····।"

लामा कुन्-म्ख्येन्-पद्-मद्कर्-पो (सर्वज्ञ पुण्डरीक)के छोस्-ब्युङ (धर्मोद्-भव)में इस विषयमें यह बातें मिलती हैं—

(पृ० १४०) "(दीपंकर) पूर्व दिशा भंगलके कांचनध्वज प्रासादमें बोधि-सत्व शांतरक्षितके जाति वाले क्षत्रिय वंशमें (उत्पन्न हुए। उनके) पिता कल्याण श्री और माता श्री प्रभावती···। अवधूतिपाद ( मैत्रिपाद अद्वयवज्र)के पास १२ वर्षसे १८ वर्ष तक। (पृ० १३५)····उस समय विक्रमशिलाके पूर्व दिशामें शांतिपाद (=रत्नाकरशान्ति)। दक्षिण दिशामें वागीश्वर····। पश्चिम दिशामें प्रज्ञाकर मति। उत्तर दिशामें श्री नारोपा (नाडपाद)····

(पृष्ठ १४८) उस समय (भिक्षु) संघके चार वर्ग थ—ओडन्तपुरी[१], श्री नालन्दा, वज्रासन और विक्रमशिला। (दीपंकर) पिछले (१३) अपने जन्म वाले विहार में वास करते थे।.....(पृष्ठ १५६) विक्रमशिलामें छै द्वार-पंडित थे। पूर्व दिशाके द्वारपाल (पंडित) रत्नाकरशान्ति (शांतिपा)...व्याकरण और न्याय-में...। दक्षिण दिशामें वागीश्वर कीर्ति व्याकरण, न्याय, काव्यमें.....। पश्चिम दिशामें प्रज्ञाकर मति....। उत्तर दिशामें भट्टारक 'नरोत्पल' महायान और तंत्रमें... मध्यमें दो (पण्डित) रत्नवज्र तथा ज्ञानमित्र; काश्मीरिक ज्ञानमित्र नहीं।"

ल्हासाके कुन्-ब्दे-ग्लिङ विहारके छापाखानेके 'स्देब्-ग्तेर्-स्ङोन्-पो नामक पोथी के 'च' भागमें दीपंकर श्रीज्ञानकी एक छोटी-सी जीवनी है, जिसमें लिखा है—

(पृष्ठ १) "१—भारतीय सहोर कहते हैं, भोटिया सहोर.....बडा देश..........।"

इन उद्धरणोंसे हमें निम्न बातें मालूम होती हैं—

१. सहोर भारतीयोंका सहोर है (१४) जो भारतमें पूर्व दिशामें था। (१), (४)।

२. इसका दूसरा नाम भंगल या भगल था। (९)।

३. इसकी राजधानी विक्रमपुरी थी (१०)। जो भंगल या भगलपुर के नामसे भी पुकारी जाती थी (२), (५)।

४. राजधानी (भंगलपुर या विक्रमपुरी) या राजप्रासाद से थोड़ी दूर पर (३), उत्तर तरफ (६) विक्रमपुरी (=विक्रमशिला) विहार था।

५. यह विक्रमशिला दीपंकरके जन्म-स्थानका विहार था (१३)।

६. विक्रमशिला गंगा तट पर (११) एक पहाड़ीके ऊपर (१२) थी।

भागलपुर भोटिया भगलपुर है। आज भी जिस पर्गने में भागलपुर शहर अवस्थित है, उसे सबोर कहते हैं। सबोर=सभोर=सहोर एक ही शब्दके भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। विक्रमशिलाके लिये सुल्तानगञ्ज सबसे अनुकूल स्थान

१ ओडन्तपुरी या उडयन्तपुरी वर्त्तमान बिहार शरीफ है, जिसके पास वाली पहाड़ी पर विहार था। वहीं पर आजकल दर्गाह है।

जँचता है। यह भागलपुरसे उत्तर है। यहाँ से पीतल की एक गुप्तकालीन विशाल मूर्ति मिली है। मुरली और अजगैबी-नाथकी दोनों पहाड़ियाँ वस्तुतः शिला ही हैं। इनपर गुप्ताक्षरमें खुदे लेख इनका गुप्त सम्राट् विक्रमसे संबंध जोड़ सकते हैं। वस्तुतः देवपाल (८०९-४९ ई०) के विहार बनवानेसे पूर्व भी स्थान शिला और विक्रमके संबंध से विक्रमशिलाके नामसे प्रसिद्ध रहा होगा। यह सब बातें सुल्तानगंज के विक्रमशिला होनेके पक्ष में हैं। किन्तु सबसे बड़ी दिक्कत यह है, कि यहाँ इमारतोंकी नीवें, मूर्तियाँ तथा ध्वंस उतने विस्तृत नहीं हैं, जितने कि विक्रमशिलाके होने चाहिये, दसवींसे बारहवीं शताब्दी तक विक्रमशिला नालन्दाका समकक्ष विहार था। पालवंशका राजगुरु इस विहारका प्रधान होता था। ऐसे विहारके लिए सुल्तानगंजमें प्राप्त सामग्री अपर्याप्त है। कोलगंजके पास पाथरघट्टा स्थानको विक्रमशिला होनेमें और भी आपत्ति है। वहाँ प्राचीन बौद्ध-चिन्होंका एक तरहसे बिल्कुल अभाव है, और बौद्धोंकी अपेक्षा ब्राह्मणचिन्ह अधिक मिलते हैं। पाथरघट्टासे दो-तीन मीलपर अवस्थित बावन-विगहा (?) के ध्वंसावशेष अधिक विस्तृत हैं। वहाँ कितने ही स्तूपोंके ध्वंस भी दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि वहाँ शिला नहीं हैं, तो भी उसके पास छोटी-छोटी पहाड़ियाँ हैं। गंगा भी किसी समय यहाँ तक बहती थी। यद्यपि ध्वंसोंके ऊपर अब मूर्तियाँ नहीं दीख पड़तीं, किन्तु उनके लिये अब हम उतनी आशा भी नहीं कर सकते, जब कि हम जानते हैं कि एक शताब्दीसे अधिक तक यह स्थान निलहे साहबोंके कार्यक्षेत्रमें रहा है, और यहाँकी मूर्तियाँ बराबर स्थानान्तरित होती रही हैं। विक्रमशिलाकी खुदाई में भी नालन्दाकी भाँति ढेरकी ढेर नामांकित मिट्टीकी मुहरें मिलेंगी; और वह निश्चय ही धरतीके भीतर सुरक्षित होंगी।

विक्रमशिलाकी खोजके लिए मुंगेरसे राजमहल तकको गंगाके दक्षिणी तटपर अवस्थित सभी पहाड़ी भूमि—सबौर पर्गनेकी भूमिको विशेषकर—की छानबीन करनी चाहिये।

# १७. भारतीय जीवनमें बुद्धिवाद

मानसिक प्रवृत्तियोंको यदि हम देखें तो हम मनुष्यको दो वर्गोंमें बाँट सकते हैं। एक वह जो बुद्धिप्रधान है, जो किसी भी बातको तब तक मान लेनेके लिये तैयार नहीं, जब तक कि उसकी बुद्धिको संतुष्ट न कर दिया जाय। दूसरे श्रद्धाप्रधान, जिसे बुद्धिकी उतनी परवाह नहीं होती, किसी चीजको ऐसे रूपमें उसके सामने रखा जाय जो उसके हृदयको अपनी ओर आकर्षित करे, करुणा-द्वारा, प्रेम-द्वारा या ऐसे किन्हीं और भावोंसे, तो वह उसे मान लेता है। हो सकता है कि किसी व्यक्तिमें इन दोनों भावोंका सम्मिश्रण हो, लेकिन यदि व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक रूढ़ियोंमें बद्ध न हो, तो हम उसे इन दोनोंमेंसे किसी एक वर्गमें आसानीसे रख सकते हैं। हमारा समाज ऐसा है—वर्तमानमें ही नहीं, पहिलेसे चला आ रहा है—कि किसी बातको जैसा हम सोचते-समझते हैं, उसे उसी रूपमें प्रकट करनेका अधिकार हमें बिलकुल थोड़ा है। साधारण और असाधारण व्यक्तिमें यही फर्क है कि जहाँ साधारण व्यक्ति रूढ़ियोंको हर हालतमें माननेके लिए तैयार है, वहाँ असाधारण व्यक्ति इसमें कुछ स्वतंत्रता दिखलाता है।

व्यक्तियोंसे ही मिलकर समाज बनता है; लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि हम सारे समाजको व्यक्तियोंके बहुमत पर बुद्धिप्रधान या श्रद्धा-प्रधान कह सकते हैं। समाजके बारेमें ऐसे किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए हमें समाजके विचारोंके नेताओंकी ओर देखना पड़ेगा। नेताओंसे मतलब सिर्फ राजनीतिक नेताओंसे नहीं है। इसमें कला, उद्योग, विज्ञान, दर्शन सभी क्षेत्रोंके नेताओंको लेना पड़ेगा। बल्कि ललित-कलाओं के नेताओंकी ओर दृष्टि डालनेपर हम बहुत सुगमताके साथ समाजके विचारप्राधान्यको देख सकते हैं। चित्रकला, संगीत और कविता, वस्तुतः इस विषयके पक्के नाप हैं। इन भारतीय ललित-कलाओंके पिछले तीन हजार वर्षके इतिहास और उनकी

देनको यदि हम अच्छी तरहसे देखें, तो हमें मालूम होता है कि, पहिली सात शताब्दियोंमें भारत बुद्धिप्रधान रहा। ई० पू० दूसरी शताब्दीसे लेकर ई० दूसरी शताब्दी तक मिश्रित रहा और उसके बादसे आज तक श्रद्धाप्रधान।

आइये, इसे हम पहिले मूर्तिकलाके क्षेत्रमें देखें। ई० पू० पाँचवीं शताब्दीसे पहलेके कमसे कम हजार वर्ष पहिलेके मूर्तियोंके नमूने हमारे पास नहीं हैं। यदि हैं भी तो उनके कालके विषयमें निश्चित रूपसे हम कुछ नहीं कह सकते। ई० पू० तीसरी शताब्दीके कितनी ही पत्थरकी मूर्तियाँ अशोकके स्तम्भों तथा कितने ही स्तूपोंके कठघरोंमें मिलती हैं। इस कालसे दो-तीन सौ वर्ष पहिलेके कितनी ही मिट्टीकी मूर्तियाँ या खिलौने कौशाम्बी (कोसम, जिला इलाहाबाद) भीटा (जि० इलाहाबाद) आदि स्थानों में मिली हैं। उन्हें देखने से मालूम होता है कि, उस समयका कलाकार वस्तुको जिस भौतिक रूपमें देखता है, उसीको मिट्टी या पत्थरमें उतारना चाहता है। इसका यह मतलब नहीं कि मनुष्यके मानसिक भावोंकी जो छाप उसके मुखमण्डलपर या बाह्य आकारपर पड़ती है, उसको वह बिलकुल छोड़ जाता है। वह अपने पैरोंको ठोस भूमिपर रखना चाहता है। उसके लिए भौतिक पदार्थ पहिली वास्तविकता है, जिसके आधारपर वह मानसिक जगत्की आभाको लाना चाहता है। यदि हम प्रथम कालकी मूर्तियों या खिलौनोंको नापकर देखें, तो मालूम होगा, कि उस वक्त मनुष्यकी आकृति बनानेमें 'ताल-मान'[1] उतना ही रक्खा गया था, जितना कि एक वास्तविक मनुष्यमें होता है। पशुओंकी मूर्तियोंके बनानेमें भी यही ख्याल देखा जाता है, जैसा कि सारनाथके अशोकस्तम्भके शिखर पर उत्कीर्ण, सिंह, बैल, घोड़ा, हाथी की मूर्तियोंसे स्पष्ट है। इस कालका अन्तिम समय ई० पू० दूसरी शताब्दी का आरम्भ वह समय है, जब कि भारत राजनीतिक उत्कर्षके मध्यान्हमें पहुँचा था। मौर्य-साम्राज्यकी सीमाओंतक पहुचनेका मौका कभी भी किसी भारतीय साम्राज्यको नहीं मिला। समुद्रगुप्तके समय (३४०—७५ ई०) में गुप्त-साम्राज्यका विस्तार बहुत हुआ था; किन्तु उस समय भी उसकी सीमा हिन्दुकुश तक पहुँचना कहाँ, दक्षिण-भारतमें भी उसका प्रवेश दूर तक नहीं हुआ था। कलाकी वास्तविकता मौर्य-कालमें चरम उत्कर्षपर पहुँची थी। संसारमें

१ ठुड्डीसे लेकर ललाटके अन्त भागका सारे शरीरसे अनुपात।

जो कुछ उत्कर्षगामी परिवर्तन होता है, वह वास्तविकताके आधारपर ही होता है, स्वप्नके आधारपर नहीं।

इस प्रथम कालकी कविताओंको यदि हम देखें, तो यद्यपि उनके नमूने उतनी अधिक संख्यामें नहीं मिलते, तो भी बौद्ध-सूत्रों, धम्मपदकी गाथाओंको देखनेसे मालूम पड़ता है कि, उसमें वास्तविकताकी तरफ़ ही अधिक ध्यान दिया गया है। कौटिल्यके अर्थशास्त्रको देखनेसे तो साफ पता चल जाता है कि, हजारों प्रकारके मिथ्या-विश्वास, जिन्हें इस बीसवीं शताब्दीमें ब्रह्मविद्या, योग और महात्माओंका चमत्कार कहकर सुशिक्षित लोग प्रचारित करना चाहते हैं, उन्हें मौर्य-साम्राज्यका यह महान् राजनीतिज्ञ झूठा समझता है। इसका यह मतलब नहीं कि लोग उस समय इन झूठी धारणाओंसे मुक्त थे। हाँ, विचार देनेवाली श्रेणी इससे बहुत हद तक मुक्त थी, यह जरूर मानना पड़ेगा। आजकी यूरोपकी महाशक्तियोंको ही ले लीजिये। इंगलैण्डमें भी जन्मपत्री, हस्तरेखा, तावीज जैसी चीजोंका वैसाही जोर है, जैसा हमारे यहाँ; लेकिन फर्क यह है कि हमारे यहाँके शासक अपने राष्ट्रीय महत्त्वके काममें भी शुभ मुहूर्त आदिका ख्याल लाये बिना नहीं रहते। लेकिन इंगलैण्डका कोई राजनीतिज्ञ किसी ऐसे भाषण देनेके लिए—जिसके ऊपर देशके भाग्यका वारा-न्यारा होनेवाला है—ऐसी शुभ सायत नहीं पूछेगा। इंगलैण्डने हजारों लड़ाइयाँ लड़ीं, इतना बड़ा साम्राज्य कायम किया, लेकिन उसे कभी किसी 'जोतिसी' की जरूरत नहीं पड़ी।

प्रथम कालके चित्रकलाके नमूने हमारे सामने नहीं हैं। लेकिन उस कालकी मूर्तियोंसे हम उसके बारेमें अनुमान कर सकते हैं। उस समय भी रेखाएँ अवश्य मूर्तियोंकी भाँति ही दृढ़ और वास्तविक रही होंगी। चित्र और मूर्तिमें रंग ही का तो भेद होता है। जब रेखाएँ उस समयकी वास्तविक थीं, तो रंग भी वास्तविक ही रहा होगा। इस प्रकार चित्रकलाके भी वास्तविक होनेका ही अनुमान होता है।

संगीत-विद्याकी सभी परिभाषाओं और विशेषताओंके बारेमें तो नहीं कह सकता, लेकिन उस समयके वर्णनोंसे मालूम होता है कि, उसमें इतनी कृत्रिमता नहीं आई थी। वीणा थी। उसके तारोंके मिलानेका भी वर्णन आता है। लेकिन

छै राग और अुनमें प्रत्येककी पाँच-पाँच छै छै पटरानियोंका कहीं पता नहीं। इसका यह मतलब न समझ लें कि, मैं २२ सौ वर्ष पहिलेकी बातोंकी झूठमूठ तारीफ करके आपको पीछे खींचना चाहता हूँ। अधिक-से-अधिक मेरे कहनेसे आप यही भाव निकाल सकते हैं कि उस समयभी प्रथम कालकी भाँति ही वास्तविकता थी। अनुभवकी मात्राके अनुसार, मानव-जगत्के वैयक्तिक और सामाजिक विकासके अनुसार, हमारी सभी बातोंमें विकास होना जरूरी है। हाँ, उसकी धारा वास्तविकताको लिये होनी चाहिये। एक और बात है। उस समय संगीतके लिए सुमधुर कंठकी अनिवार्यता भी बतलाती है कि उसमें उतनी कृत्रिमता नहीं थी। आजकल कितने ही बड़े-बड़े उस्ताद अपना गुण दिखलानेके लिए बैठ जाते हैं। गाना तो ऐसा होता है कि आस-पास किसी पेड़पर शान्त बैठी चिड़िया भी उड़ जाय; लेकिन लोगोंके वाह-वाह और तारीफके पुलका ठिकाना नहीं। यदि आप उसमें शामिल नहीं होते तो आप अज्ञ और अनधिकारी हैं।

मैं जो यहाँ संगीतके बारेमें कह रहा हूँ, यही बात कविताके ऊपर भी हूबहू लागू हो रही है। उस प्राचीन कालमें और उसके बाद भी बहुत समय तक संगीतसे नृत्य का अटूट सम्बन्ध रहा। किसी कलाकी वास्तविकता इससे भी मालूम होती है कि, वह सार्वजनीन कितनी है। कलाकी कसौटी मनुष्यका हृदय है; कलाविदोंका दिमाग उसके लिए पक्की कसौटी नहीं है। इसीलिए कला जब तक वास्तविक रहेगी, तब तक सार्वजनीन भी रहेगी। इसका यह मतलब नहीं कि कलाको तत्कालीन सार्वजनिक मानसिक विकासके साथ गठजोड़ा कर दिया जाये। कला और कला-प्रेमियोंका मानसिक विकास दोनों ही स्थायी वस्तु नहीं हैं—दोनों ही आगे बढ़ती रहेंगी। मतलब सिर्फ सामंजस्य और उपयोगितासे है। गुप्त-काल और उसके बादकी नृत्यकलाके ज्ञानके लिए हमारे पास साधन हैं; लेकिन उस प्राचीन कालकी नृत्यकलाका हमारे पास न साकार चित्र है, न शब्द-चित्र; तो भी उसके अच्छे-बुरेका फैसला विशेषज्ञोंके हाथमें न था, यह तो मालूम है। इसीसे वह भी दूसरी ललित कलाओंके समान ही वास्तविक थी।

कविता और साहित्यके बारेमें भी वही बात समझनी चाहिए जो अन्य ललित कलाओंके बारेमें अभी कही गई है। उस समयका साहित्य-दर्पण,

साधारण मनुष्यका हृदय था। उसके लिए कसौटीका अधिकार, उन दिमागोंको नहीं दिया गया था जो वास्तविक कविताकी एक पंक्ति भी न लिख सकें किन्तु, अलंकार और अलंकारिनियों तथा रस और ध्वनियोंकी शाखा पर शाखा पैदा करनेमें एक-दूसरेके कान काटें।

संधिकाल (२०० ई० पू० से ५०० ई०) में पैरको ठोस पृथ्वीपर जमाये रखनेकी कोशिश की गई; लेकिन वह धीरे-धीरे जमीन छोड़ने लगा; यदि पंजेकी तरफसे नहीं तो एड़ीकी तरफसे तो जरूर। ऐसा न होनेपर पीछेके विकार कभी सम्भव न थे। गुप्तकालमें भावुकताकी प्रधानता होती है; लेकिन तब भी वास्तविकताको छोड़नेमें कलाकारको मोह लगता है। कन्धा, मोढ़ा, और छातीकी बनावट गुप्तकालकी अपनी विशेषता है। इन तीनों अंगोंमें सौन्दर्यके साथ पूर्ण मात्रामें बल भरने की कोशिश की जाती है। आप उदय-गिरि-गुफा (भिलसा) के वराहको देखिये या छोटी-मोटी किसी भी उस कालकी मूर्ति को; यह बात स्पष्टहो जायगी। लेकिन साथ ही नजाकत भी शुरू होती मालूम होगी; जो पीछे चलकर ललित-कलाके लिए एक मात्र आदर्श बन जाती है। उस कालकी मूर्तियोंकी भाँति ही यह बात अजन्ताके तत्कालीन चित्रोंमें भी देखी जाती है। इन विशेषताओंको कालिदासकी कविताएँ भी उसी मात्रामें प्रकट करती हैं।

यहाँ एक बातपर और भी ध्यान दिलाना है। यदि हम गुप्त-कालके पहिलेके अपने भोजनको लें, तो मालूम होगा कि उसमें षट् रस तो जरूर रहा, किन्तु अभी तक उसे सोलह परकार और बत्तीस व्यंजनोंका रूप नहीं दिया गया था। इतने मसालोंका तो एक तरहसे उस समय अभाव था। पान खाना तो लोग जानते ही न थे। छौंक-बघार भी इतनी मात्रा तक नहीं पहुँचा था। इससे हमें यह भी मालूम हो जाता है कि, मनुष्यकी प्रगति जिस किसी ओर होती है, वह उसके जीवनके सभी अंगोंमें होती है।

छठवीं शताब्दी तक तब भी हमारा अंगूठा धरतीपर रह जाता है। लेकिन उसके बाद तो हम आकाशचारी हो जाते हैं। हमारे पैर जमीनपर पड़ते ही नहीं---वास्तविकतासे हम अपना नाता तोड़ लेते हैं। हाँ, उसी हद तक जिस हद तक उसका तोड़ना सम्भव है। आखिर हवा पीकर तो हम जी भी नहीं सकते।

सातवीं शताब्दीके बाद सभी क्षेत्रोंमें वास्तविकतापर भावुकताकी विजय होती है। बुद्धिको श्रद्धाके सामने परास्त होना पड़ता है और उसके साथ-साथ हमारी राष्ट्र-नौका भी पक्के भँवरमें पड़ जाती है। समयके बीतनेके साथ-साथ हम इस भावुकतामें आगे-आगे बढ़ते जाते हैं। आजका यह वैज्ञानिक युग यद्यपि प्रेरित करता है कि हम स्वप्न जगत्को छोड़ें और वास्तविक जगत् में आवें; लेकिन शताब्दियोंके दुष्प्रभावने हमारे मनपर इतना काबू कर रखा है कि, यदि हम एक कदम आगे बढ़ते हैं तो, तीन कदम पीछे खींच लिये जाते हैं। कोई कहता है—'अरे यही तो भारतीयता है, यही तो भारतीय राष्ट्रकी आत्मा है। हमारा भारत हमेशा सत्यं शिवं सुन्दरं का पुजारी रहा।' कोई कहता है—'यह भारतकी प्रकृतिके ही बिलकुल प्रतिकूल है। हमारे हवा-पानीमें, हमारी मिट्टीमें, हमारे खमीरमें आध्यात्मिकता कूटकूटकर भरी है। देखते नहीं, इस गये-गुजरे जमानेमें भी हम रामकृष्ण और रामतीर्थको पैदा करते हैं। थियोसोफी और सखी-समाजका स्वागत करते हैं। कोई हजार कोशिश क्यों न कर ले, भारत भारत ही रहेगा।' ऐसा होनेपर तो, भारतके पैरोंका जमीनपर जमना असम्भव है।

यदि हमारा यही दृढ़ विश्वास है तो हमारा भविष्य भी ऐसा ही रहेगा। हमारे उद्धारका एक मात्र उपाय है—बुद्धिवाद, वास्तविकताको मजबूती से पकड़ना। इसके रास्तेमें चाहे जो भी बाधक हो, उससे हमें लोहा लेना होगा। अगर हमारे खमीर में भावुकता ही बदी होती तो, भारत बौद्ध और चार्वाक जैसे नास्तिकोंको न पैदा करता। सहस्राब्दियों तक अराजक संघों और गुणोंके द्वारा राजशासन न चलाता। बुद्धिवाद और भावुकताके पिछले तीन हजार वर्षोंमें व्याप्त प्रवाहका अध्ययन करनेसे साफ मालूम होता है कि, हम उत्कर्षोन्मुख तभी तक रहे, जब तक हम बुद्धिका आश्रय लेते रहे। बुद्धिका आश्रय लेनेका यह मतलब नहीं कि, भावुकताकी उसमें मात्रा ही न हो। हर एक प्रगतिके लिए आदर्शवाद और त्यागकी आवश्यकता है; लेकिन लगाम बुद्धिके हाथमें रहनी चाहिए।

# १८. तिब्बतमें चित्रकला

## १—संक्षिप्त इतिहास

६३० ई० में स्रोङ-ब्चन्-स्गम्पो अपने पिताके राज्यका अधिकारी बना। ६४० ई० तक उसके साम्राज्यकी सीमा पश्चिममें गिल्गितसे लेकर पूर्वमें चीनके भीतर तक, उत्तरमें गोबीके मरुभूमिदक्षिणमें हिमालयकी तराई तक फैल गई। ६४० ई० में सम्राट्की नेपाली रानी ख्रि-चुन्के साथ सर्वप्रथम बौद्धधर्म तिब्बतमें पहुँचा। बौद्ध-धर्म और चित्रकलाका घनिष्ठ संबंध है। भारतमें सर्वप्राचीन, तथा सर्वोत्तम अजंताके चित्र बौद्धोंकी ही कृतियाँ हैं। बौद्ध-चित्रकलाके नमूने सिंहल, स्याम, चीन, जापान आदि देशों में ही—जहाँ कि बौद्धधर्म सजीव है—नहीं प्राप्त होते, बल्कि उन्हें गोबीके रेगिस्तान और मध्य-ईरान तकमें सर् औरेल् स्टाइन्ने खोज निकाला है। इस तरह बौद्धधर्मके साथ-साथ चित्रकलाका भी तिब्बतमें प्रवेश स्वाभाविक ही है। नेपाल-राजकुमारी स्वयं अपने साथ अक्षोभ्य, मैत्रेय और ताराकी मूर्तियोंके साथ कितने ही स्थापत्य-शिल्पी तथा चित्रकार लाई थी। ६४१ ई० में सम्राट् स्रोङ-ब्चन्-स्गम्पोकी दूसरी रानी चीन-राजकन्या कोङ-जो एक बुद्ध-प्रतिमाको ल्हासा लाई। यह प्रतिमा किसी समय भारतसे घूमते-फिरते चीन पहुँची थी। उसने पहले ही निश्चय कर लिया था, कि मैं अपनी प्रसिद्ध प्रतिमाके लिए राजधानीमें एक मंदिर बनवाऊँगी; और ल्हासा पहुँचते ही उसने र-मो-छेका प्रसिद्ध मंदिर बनवाना शुरू किया। नेपाली रानीकी असमर्थता देख सम्राट्ने स्वयं उसके लिए ल्हासाके मध्यमें जो-खङका मंदिर बनवाया। र-मो-छे और जो-खङके बनानेमें यद्यपि अधिकतर नेपाली (भारतीय) और चीनी शिल्पियोंकी सहायता ली गई, किंतु उसी समय भोटको भी स्थापत्य तथा चित्रकलाका क-ख आरंभ करना पड़ा।

सातवीं शताब्दीके मध्यमें उत्तरी भारतके सम्राट् हर्षवर्धनके प्रशांत शासनमें गुप्तोंके समयसे चलती आयी, कला तथा विद्याकी प्रगति बढ़ती ही जा रही थी। चित्रकलाके कुछ अंशोंके अवसादका समय डेढ़-दो सौ वर्ष बादसे होता है। इसके

कहनेकी अवश्यकता नहीं, कि नेपाल आजकी तरह उस समय भी कला आदिके संबंधमें भारतका अंग था। चीनमें भी उस समय ह्वेन-चाङके संरक्षक थाङ-वंशका राज्य था। यह काल चीनकी चित्रकलाका सर्वोत्तम समय माना जाता है। इस प्रकार भोट देशवासियोंको भारत और चीनसे ऐसे समय सम्बन्ध जोड़नेका अवसर मिला, जबकि इन दोनों देशोंमें कलाका सूर्य मध्याह्नमें पहुँचा हुआ था।

ल्हासाके र-मो-छे और जो-खङके मंदिरोंकी भीतोंमें यद्यपि उस समय चीनी और भारतीय चित्रकारोंने सुंदर चित्र अंकित किये थे, किंतु अब वह उपलब्ध नहीं है। तिब्बतमें ईंधनके दुर्लभ होनेके कारण चूनेकी पक्की दीवारोंके बनानेका रवाज नहीं है। इसीलिए कुछ वर्षोंके बाद जब प्लस्तर निर्बल होकर टूटने-फूटने लगता है, तब सारे प्लस्तरको उखाड़कर पत्थरकी बनी दीवारों पर दूसरा प्लस्तर कर नई तरहसे चित्र बनाये जाते हैं। अभी उस दिन (२७ मई १९३४ ई०को) हम ल्हासाका से-र विश्वविद्यालय देखने गये। उसके स्मद्-ग्र-सङ (महाविद्यालय)के सम्मेलन-भवनकी दीवारोंका प्लस्तर उखाड़ा जा रहा था। एक ओरसे डेढ़-दो सौ वर्ष पुराने चित्र टुकड़े-टुकड़े हो जमीन पर गिर रहे थे, और दूसरी ओरसे नया प्लस्तर लगाया जा रहा था। यद्यपि जो-खङ और र-मो-छेके आजकलके प्लस्तर इससे कहीं अधिक दृढ़ सामग्रीके बने हैं; तो भी उनकी आयु तेरह शताब्दियोंकी नहीं है। इस सुदीर्घ कालमें उनके प्लस्तर न जाने कितनी बार नए बने होंगे, इसीलिये उन आरंभिक चित्रों-का अब पता नहीं मिलता। उस समयकी काष्ठ-पाषाणकी मूर्तियाँ एवं विशाल काष्ठ-स्तंभोंमें उत्कीर्ण रूप यद्यपि आज भी मौजूद हैं, और उनसे उस समयकी चित्रकलाका कुछ अनुमान हो सकता है, तो भी वे चित्रकला न होनेसे मेरे इस लेखका विषय नहीं हो सकते।

उसके बाद प्रायः दो सौ वर्ष बीत जानेपर ८२३-८३५ ई० में ब्सम्-यस का महाविहार बना। पुराने इतिहास-लेखकोंके अनुसार यह स्वयं महाराज् धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)के बनवाये उडयंतपुरी (वर्तमान विहार-शरीफ, पटना) महाविहारके नमूने पर बनवाया गया। इसकी पुष्टि उस विहारकी आकृति भी करती है। इस समय विस्तार और वैभवमें भोट-साम्राज्यका सूर्य मध्याह्नपर पहुँचा हुआ था। भोटके धर्माशोक सम्राट् ख्रि-स्रोङ-ल्दे-ब्चन्

(८०२-८४५ ई०) बौद्ध-धर्मके लिए सब तरहका त्याग करनेके लिए तैयार थे। विहारका निर्माण नालंदाके महान् दार्शनिक शांतरक्षितके तत्त्वावधानमें हो रहा था। इस विहारको सुमेरु, उसके चारों महाद्वीप, आठ उपद्वीप तथा चक्र-वाल जैसी परिखाके साथ बनवाना ही इसे अच्छी प्रकार निदर्शित करता है, कि विहार निर्माणमें कलाका कितना ख्याल किया गया होगा। उस समय इस विहारके केंद्रवर्ती देवालय तथा १२ द्वीपोंकी दीवारोंमें बहुतसे सुंदर चित्र अंकित किये गये थे। आचार्य शांतरक्षितके भोटदेशीय शिष्य भिक्षु (प-गोर) वैरोचन-रक्षित स्वयं भी चित्रकार थे। उनके हाथका बनाया एक चित्र अब भी ब्सम्-यस्के जोङ (कलक्टरी)में बतलाया जाता है। वैरोचनसे पूर्व अनेक भोटदेशीय चित्रकार रहे होंगे, किंतु अपनी कृतियोंके साथ उनका नाम भी लोगोंको विस्मृत हो गया है। ब्सम्-यस्की दीवारें अब भी चित्रित हैं, किंतु ग्यारहवीं शताब्दीमें आगसे जल जानेसे वह चित्र पहलेके नहीं हैं। वैरोचनके बाद दूसरा प्रसिद्ध चित्रकार तोन्-छोग्-छुङ-मेद है। इसके समयका ठीक-ठीक पता नहीं है।

ख्रि-स्रोङ-ल्दे-ब्चन्के पौत्र सम्राट् रल्-प-चन् (८७७-९०१ ई०) बौद्ध-धर्मके अंध भक्त थे। उन्होंने बहुतसे मंदिर और मठ बनवाये, जिनमेंसे कितने ही अब भी मौजूद हैं। भोट देशोंमें जो विहार जितना ही अधिक वैभवशाली होता है, वहाँ प्राचीन भित्ति-चित्रोंकी रक्षा उतनी ही कठिन है; क्योंकि जरा भी दीवारोंको बिगड़ते या चित्रोंको मलिन होते देख मरम्मत करके उसकी प्राचीनता लुप्त कर दी जाती है। किंतु, ल्हासासे दूरके स्थानोंमें वैभवहीन उपेक्षितप्राय कुछ ऐसे विहार मिल सकते हैं, जिनमें प्राचीन मूर्तियाँ और चित्र अपने प्राचीन रूपमें मिल सकते हैं। ग्चङ प्रदेशमें ग्यांची, ने. स. जैसे कुछ विहारोंका अस्तित्व है भी।

रल्-प-चन्के अनंतर थोड़े समयके बाद दसवीं शताब्दीके अंतमें—ये-शेस्-ऽोद् (=ज्ञानप्रभ) और रिन्-छेन्-ब्सङ-पो (=रत्नभद्र)के समयसे फिर बौद्ध-धर्मका उत्कर्ष होने लगता है; उसके साथ नये मंदिरों और उनके चित्रोंका प्रचार बढ़ने लगता है। रत्नभद्रके बनवाये लदाखके अल्ची और सुम्-राके विहारोंमें अब भी उस समयकी कलाके सुंदर नमूने मिलते हैं। दुर्भाग्यवश कश्मीर-सरकार और जनता दोनोंकी उपेक्षासे चित्रकलाके यह सुंदर भांडार

थोड़े ही समयमें नष्ट हो जानेवाले हैं। स्नर्-थङ (स्थापित ११५३ ई०) ग्यारहवीं शताब्दीके कुछ भूले-भटके नमूने श्-लु, रे-डिङ (ब्रोम्-स्तोन् १००३-१०६४ द्वारा स्थापित), स्पोस्-खङमें पाये जाते हैं। रे-डिङमें मौजूद कुछ चित्रपटोंको तो खास ब्रोम्-स्तोन्का बनाया कहा जाता है। उनमेंके कितनेही चित्र भारत या नेपालसे आये हुए हैं।

बारहवीं शताब्दीकी चित्रकला भी दुष्प्राप्य-सी है। उसके कुछ भित्ति चित्र द्रग्स-पो (११२४ ई०), स्नर्-थङ (११५३ ई०), कर्-म-ल-ल्देङ (११५३ ई०), ग्दन्-स-म्थिल् (११५८ ई०), स्तग्-लुङ (११८० ई०), ऽब्रिगोङ (रिन्-ब्संङ ज० ११४३ द्वारा स्थापित)के मठोंमें मिलेंगे।

तेरहवीं शताब्दीके चित्रोंके लिये विक्रमशिला महाविहारके अंतिम संघ-नायक शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०)के भोटमें दस वर्षके प्रवासके समय (१२००-९ ई०)के चार विहारों—(१) स्पोस्-खङ-छोगस्-प (ग्चङ), (२) ग्र-नङ-ग्यं-ग्लिङ-छोग्स्-प (ल्हो-ख), (३) ग्र-फिय-छोङ-ऽदुस्-छोगंस्-प, (४) सेन्-ग्दोङ-र्चे-छोगर्सुप—की ओर देखना होगा।

तेरहवीं चौदहवीं शताब्दीका एक बड़ा संग्रह स्पोस्-खङ (ग्यांचीके पास) में है। स्पोस्-खङका एक चित्रपट तो बिलकुल भारतीय जान पड़ता है। इन चित्रोंपर भारतीय चित्रकलाकी भारी छाप है। चौदहवीं शताब्दीके दो दर्जन सुंदर चित्रपट स-स्क्य मठके, गु-रिम्-ल्ह-खङमें हैं।

पंद्रहवीं शताब्दीमें द्गे-लुग्स्-प या पीली टोपीवाले संप्रदायके कितने ही मठ स्थापित हुए, जिनमें द्गऽ-ल्दन (१४०५ ई०), ऽब्रस्-स्पुङ (१४१६ ई०), से-र्, छब्-म्दो (१४३७ ई०), ब्क्र-शिस्-ल्हुन्-पो (१४४७ ई०) थोड़ेही समयमें बड़े-बड़े विश्वविद्यालयोंके रूपमें परिणत हो गये। इनमें भित्ति-चित्र और चित्रपट बहुत हैं। संभव है, उस समयके कुछ चित्रपट इनमें प्राप्त हो जायें, किंतु भित्ति-चित्र प्रायः प्रत्येक शताब्दीमें नये होते रहे हैं।

सोलहवीं शताब्दीके चित्रोंके लिए भी हमें उपर्युक्त द्गेलुग्स्-प मठोंकी ओर विशेष रूपसे देखना होगा। उसी शताब्दीमें स्मन्-थङ-यब्-स्रस् और ल्हो-ख प्रदेशके ऽक्योङ-र्ग्यस् स्थानमें उत्पन्न एक प्रसिद्ध चित्रकार भिक्षुणी छुङ-ब्रिस् और चित्रकार र्च्-ग्दुङ हुए थे।

स्मन्-थङ-यव्-स्रस्ने ल्हासाके जो-खङकी दीवारोंको चित्रित किया था। यद्यपि उसके बनाये चित्रोंपर पीछे कई बार रंग चढ़ाया गया है, किंतु कहते हैं, रेखाएँ पुरानी हैं। (ल्हो-ख)-छुङ-ब्रिसके अंकित ९ चित्रपट ल्हासाकी ल्हलुङ-ल्ह-चम्के महलमें हैं। इनपर बहुत अधिक चीनी प्रभाव है। रंग हल्के किंतु बड़े ही संकेतपूर्ण हैं। च्वें-ग्दुङ चित्रकारके लिखे ३५ चित्रपट क-शी-ल्हुन्पो मठसे पूर्व दो दिनके रास्तेपर ब्रह्मपुत्रके दाहिने किनारेपर अवस्थित रोङ-ब्रग्-प गाँवके मालिकके घरमें हैं।

ल्हासाका सुर्-खङ सामंत-गृह बहुत पुराना है। कहते हैं, पहले इसी स्थान पर तिब्बतके सम्राट् रहते थे। सुर्-खङके स्वामी मानसरोवर प्रदेशसे, शायद पाँचवें दलाईलामाके समयमें आये थे। सुर्-खङकी वर्तमान स्वामिनी खुद आदि सम्राट् स्रोङ-ब्चन्-स्गम्-पोके वंशकी हैं। यदि बीच-बीचके राज-विप्लवोंमें घर नष्ट न हुआ होता, तो यहाँ कितनी ही पुरानी वस्तुएँ मिल सकतीं। इनके यहाँ वज्रपाणि-मंजुघोष-अवलोकितेश्वरकी एक सुंदर पीतल-मूर्ति है। मूर्ति भारतीय ढंगसे बनाई गयी है; और उस परका लेख—"ग्यद्-तु-ऽफग्स्-प-स्तोन्...क्यिस्...बृश्ङ स्" बतला रहा है कि उसे सम्राट् रल्-प-चन् (८७७-९०१ ई०)के समकालीन ग्यद्-पर्-ऽफग्स्-ब्स्तोन् लो-च-वने बनवाया था। पहले इस वंशके पास १६ भारतीय अर्हतों (स्थविरों)के चित्रपट थे, जिनमें आठ १९०८ ई० की लड़ाईमें चीनियोंके हाथ लगे, और उन्होंने ल्हासाके एक दूसरे खानदानके हाथ उन्हें बेच दिया। आठ अब भी सुर्-खङमें हैं। यद्यपि यह (ल्हो-ख)-छुङ-ब्रिस्के समकालीन नहीं हैं, तो भी इनका काल सत्रहवीं शताब्दीसे पीछेका नहीं हो सकता। इनमें भी छुङ-ब्रिस्की भाँति ही भूमिको सजानेकी कोशिश नहीं की गई है। नीचे हलके रंगमें नदी, पहाड़, फिर अत्यंत क्षीण रंगमें अंतरिक्ष और सबसे ऊपर हलके नीले रंगमें आसमान दिखलाया गया है। रंगोंका छाया-क्रम इतना बारीक है कि देखते ही बनता है। जहाँ छुङ-ब्रिस्के चित्रोंमें चीनी आँख-मुँह और प्राकृतिक सौंदर्यका अधिक प्रभाव है, वहाँ इन चित्रोंमें भारतीय प्रभाव मिलता है। छुङ-ब्रिस्ने अपने चित्रोंमें सोनेका बहुत कम उपयोग किया है और वस्त्रोंको भी उतने बेलबूटेसे सजानेकी कोशिश नहीं की है; वहाँ इन चित्रोंमें उनका उपयोग कुछ अधिक किया गया है।

इतना होते हुए भी इस बेनामवाले चित्रकारने भाव-चित्रण बड़ी सुंदरतासे किया है। भौं, नाक, केश और अँगुलियोंके अंकनमें उसकी तूलिकामें बहुत कोमलताका परिचय दिया है। छुङ-ग्रिस्के चित्रोंकी भाँति कृत्रिमतासे सर्वथा न शून्य होनपर भी इन चित्रोंमें सजीव कोमल सौंदर्य काफी मात्रामें मिलता है। बुद्धके चित्रोंके लिए तो मालूम होता है, भारतहीमें सातवीं शताब्दीमें कोई महाशाप लग गया, और तबसे कहीं भी बुद्धकी सुंदर मूर्ति या चित्र नहीं बन सके। यह बात छङ-ग्रिस् और अिस सुर्-खङके अज्ञात चित्रकारके ऊपर भी ठीक घटती है।

सत्रहवीं शताब्दीमें भी तिब्बतमें अनेक चित्रकार हुए। इसी शताब्दी (१६४८ ई०) में पाँचवें दलाईलामा सुमतिसागर (१६१७-८२ ई०) सारे तिब्बतके महंत-राज हुए। इन्होंन १६४५ ई० में ल्हासाका प्रसिद्ध पोतला-प्रासाद बनवाया। कुशल शासक, विद्याव्यसनी होनके साथ ये बड़े कला-प्रेमी भी थे। छोस्-द्ब्यिङ-र्ग्य-म्छो (=धर्मधातुसागर) और स्दे-स्रिद्-ग्यऽ-सेल् इनके समयके प्रसिद्ध चित्रकार थे। धर्मधातुसागरने ल्हासाके जो-खङकी परि-क्रमाके कुछ भागको चित्रित किया था। इन चित्रों पर भी पीछे कई बार रंग चढ़ाया गया, किंतु पुरानी रेखाएँ कायम रखी गई हैं।

अठारहवीं शताब्दीमें भी अच्छे चित्रकार मौजूद थे। तिब्बत देशमें प्राचीन भारतकी भाँति प्रायः चित्रों पर चित्रकार अपने नाम अंकित नहीं करते थे और न लेखकोंको ही उनकी स्मृति जीवित रखनेका ख्याल था, इसलिये उस समयके चित्रोंके होने पर भी उनका नाम जानना बहुत कठिन है। इसी शताब्दीके पहले पादके बनाये वह तेरह चित्रपट हैं, जिन्हें लेखकने अपनी पिछली यात्रामें ल्हासामें संग्रह किया था, और जो अब पटना-म्यूजियम्में हैं।

उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें अस्-स्पुङस् विहारके क्लु-ऽबुम्-गे-शे चित्र-कारका नाम बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्यारहवें दलाईलामा म्खस्-ग्रुब्-र्ग्य-म्छोके दर्बारमें था। बारहवें दलाईलामा फ्रिन्-लस्-र्ग्य-म्छो (मृ० १८७५ ई०) के समय ल-मो-द्कुन्-द्गऽ प्रसिद्ध चित्रकार था। इसके बनाये तीन चित्रपट ल्हासाके म्यु-रु मठके पार्श्ववर्ती म्युं-स्मद विहारमें अब भी मौजूद हैं।

उन्नीसवीं शताब्दीके अंतिम पादसे आजकल तक भी कितने ही चित्रकार

होते आये हैं। किंतु उनमें वह दक्षता नहीं रही। उन्होंने विशेषकर पहले लिखे चित्रपटोंकी नकल करनेका ही काम किया है।

## २—शिक्षा-क्रम

तिब्बतमें चित्रकलाके वंशानुगत होनेका नियम नहीं है। भिक्षु या गृहस्थ जिस किसीकी उधर रुचि हुई, अभ्यास करने लगता है। जिन्हें अपने बालकोंको पेशावाला चित्रकार बनाना होता है, वह आठ वर्षकी अवस्थामें लड़केको किसी चित्रकारके पास भेज देते हैं। मेधावी बालकको आवश्यक शिक्षा प्राप्त करनेमें तीन वर्षसे कुछ ऊपर लगते हैं। यह शिक्षा तीन वर्गोंमें विभाजित है—

| | |
|---|---|
| १—रेखा-अंकन | १६ मास |
| २—साधारण रंग-अंकन | १० मास |
| ३—सूक्ष्म मिश्रित-रंग-अंकन | ११ मास |

१—**रेखाअंकन**—पहले खास तरहसे बने कोयला (जोकि पेंसिलका काम देता है)से चौकोर खाना बनानेवाली रेखाएँ खींचना, फिर उनपर मुख आदिकी आकृति बनाना। ठीक होने पर तूलिका-द्वारा उन रेखाओं पर काली स्याही चढ़ाना सीखना।

रेखा-अंकन वर्ग भी छै श्रेणियों या थिग्में बँटा हुआ है—

१—**प्रथम श्रेणी**—( १५५ अंगुल ) (क) पहले बुद्धका मुख अंकित करना सिखाया जाता है। इसमें एक मास लगता है। गुरुके दिये नमूनेके अनुसार कागज पर पहले २६ अंगुल लंबा और १६ अंगुल चौड़ा आयत क्षेत्र खींचना होता है। फिर निम्न प्रकारसे आड़ी-बेड़ी रेखाएँ खींचनी होती हैं—

लम्बाईमें—

| | |
|---|---|
| २ अंगुल | शिरकी मणि |
| ४ ” | उष्णीष |
| ४ ” | चूड़ा-ललाट |
| ४ ” | ललाट-ऊर्णा |
| १ ” | ऊर्णा-नासामूल |
| १ ” | नासामूल-नेत्रकी निम्न सीमा |
| २ ” | नेत्रकी निम्न सीमा-नासाग्र |
| ४ ” | नासाग्र-ठुड्डी |
| ४ ” | ठुड्डी-कंठकी निम्नसीमा |
| २६ ” | |

चौड़ाईमें—

| | |
|---|---|
| ६ अंगुल | दाहिनी कनपटीसे ललाटार्ध तक |
| ६ " | बाईं कनपटीसे ललाटार्ध तक |
| २ " | दाहिने कानकी चौड़ाई |
| २ " | बायें कानकी चौड़ाई |
| १६ " | |

(ख) मुखके अंकनका अभ्यास हो जाने पर ३ मासमें बुद्धके पद्मासनासीन सारे शरीरका अंकन सीखना पड़ता है। पहले ८४×५२ का आयत क्षेत्र बनाना होता है। फिर निम्न प्रकार लंबाई और चौड़ाईमें रेखाएँ खींचनी होती हैं—

लंबाईमें—

| | |
|---|---|
| २६ अंगुल | शिरकी मणिसे कंठकी निम्न सीमा तक (ऊपर जैसे) |
| १२ " | कंठसीमा—स्तन तक |
| १२ " | स्तन—केहुनी |
| २ " | केहुनी—नाभि |
| ४ " | नाभि—कटि |
| ८ " | कटि—मुड़े घुटनेके प्रथम छोर तक |
| ४ " | मुड़े घुटनेके मध्य तक |
| ४ " | मुड़े घुटनेके अंतिम छोर तक |
| १२ " | शेषके लिए |
| ८४ " | |

चौड़ाईमें—

| | |
|---|---|
| १२ " | मध्य ललाटसे बगल तक |
| ४ " | बगलसे पैरके अँगूठेके सिरे तक |
| २ " | पैरके अँगूठेके सिरेसे दाहिने बाजूके अंत तक |
| ८ " | दाहिने बाजू के अंतसे मुड़े घुटनेके अंतके पास तक |
| २६ " | |
| २ अतिरिक्त | |
| ५२ " | |

(ग) फिर एक मासमें वस्त्रोंका अंकन करना सीखा जाता है।

श्रेणी-क्रमसे रेखांकनका विवरण इस प्रकार है

| श्रेणी | विषय | अंगुल-परिमाण | मास |
|---|---|---|---|
| १ | बुद्ध | १५५ | ५ |
| २ | अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्व | १२० | ३ |
| ३ | तारा आदि देवियाँ | १०८ | ३ |
| ४ | वज्रपाणि आदि क्रोधी देव | ९६ | २ |
| ५ | अर्हत् आदि | ................ | २ |
| ६ | मनुष्य | ................ | १ |
| | | | १६ |

इस प्रकार १६ मासमें रेखांकन समाप्त होता है।

२—**साधारण रंग-अंकन**—इसमें सीधे-सादे रंगोंको अलग-अलग अंकित करना सीखा जाता है। क्रम और काल इस प्रकार है—

| | | |
|---|---|---|
| हरा रँगना | ½ | मास |
| आकाश रँगना | १ | " |
| दूसरे रंग (अलग-अलग) | ८½ | " |
| | १० | " |

३—**सूक्ष्म, मिश्रित रंग-अंकन**—पत्ते आदिके सूक्ष्म और अनेक छायावाले रंगों, सोनेके काम तथा केश आदिका अंकन इस अंतिम श्रेणीमें सीखा जाता है। क्रम और काल इस प्रकार है—

| | | |
|---|---|---|
| पत्ता | १ | मास |
| लाल | १ | " |

| | |
|---|---|
| सोनेका काम | ३ मास |
| केश, भौं आदि | ६ " |
| | ११ " |

तीनों वर्गोंको समाप्त कर लेने पर भी छात्र कितने ही समय तक अपने गुरुका सहायक बन काम करता रहता है।

### ३—चित्रण-सामग्री

चित्रण-क्रियाके लिए चार चीजोंकी अवश्यकता होती है—(१) भूमि, (२) तूलिका आदि, (३) रंग, (४) रंग-पात्र।

(१) **भूमि**—तिब्बतमें चित्रणकी भूमिके लिए साधारणतया पट, भित्ति या काष्ठ-पाषाणके टुकड़ोंका उपयोग किया जाता है।

(क) **पटको** दर्पण-समान निर्मल, श्वेत, रेखा-रहित, कोमल, लचकदार तथा तिनकोनी बिनाई से शून्य होना चाहिए। इसके लिए अधिकतर कपासके कपड़ेका इस्तेमाल होता है। वस्त्र को अपेक्षित आकारमें काटकर उसके चारों ओर बाँसकी चार खपाचेंसी देनी होती हैं। फिर लकड़ीके चौखटमें उसे रस्सीसे इस प्रकार कसकर ताना जाता है, कि **पट** सब जगह एक-सा तन जाय। फिर **श्वेत**[1] रंगमें $\frac{1}{2}$ सरेस डाल गुनगुन पानीसे मिलाकर पतली लेई बनाई जाती है। इस पतली लेईको कपड़े से भिगोकर पट पर लेप दिया जाता है। चारों ओर बराबर पुत जाने पर पटको छायामें सूखनेके लिए रख दिया जाता है। सूख जाने पर पटके नीचे लकड़ीका एक चिकना पट्टा रखकर, पानी का हल्का छींटा दे दे उसे दोनों ओर चिकने पत्थरसे रगड़ा जाता है; और फिर सूखनेके लिए छायामें छोड़ दिया जाता है।

ताननेको छोड़ बाकी प्लस्तर आदिका काम भित्ति और काष्ठ-पाषाणकी भूमि पर भी एक-सा ही किया जाता है।

(२) **तूलिका**—चंदन, लाल चंदन या देवदारकी सीधी बिना गाँठकी लकड़ीको तेज चाकूसे (चाकूके ऊपर दूसरी समतल सहारेकी लकड़ी रखकर)

---

१ खड़िया जैसा एक रंग; देखो रंगोंका वर्णन।

छीलकर इस प्रकार गोल बनाया जाता है, कि उसका एक सिरा अधिक मोटा और दूसरा पतला हो जाता है। फिर मोटे सिरेको डेढ़ अंगुलके करीब खोखला कर दिया जाता है। तब बकरी, बिल्ली या दूसरे जानवरके पानी सोखनेवाले बारीक साफ और एकसे बालको बराबर करके उसके आधे भाग पर सरेसकी लेई डाल-डालकर उसमें खूब चिपका दिया जाता है; और सरेसवाले भागको सूत लपेटकर बाँधकर सरेसके सहारे तूलिका-दंडके खोखले भागमें मजबूतीसे बैठा दिया जाता है। सूख जाने पर तूलिका कामके लिए तैयार हो जाती है। तिब्बतके चित्रकार दो प्रकारकी तूलिका इस्तेमाल करते हैं। भौं, केश आदिके चित्रणके लिए अधिक सूक्ष्म किंतु परिमाणमें कम केशोंवाली पतली तूलिका काममें लाई जाती है; और बाकी कामोंके लिए अधिक केशोंवाली मोटी तूलिका।

तूलिकाके अतिरिक्त दूसरा आवश्यक साधन है—परकाल। यह एक दो, तीन अंगुल चौड़ी, प्रायः १ फुट लंबी तथा एक अंगुल मोटी बाँसकी कट्ठीको लंबाईमें आधे-आध चीरकर एक ओरके सिरेको लोहेसे छेदकर बाँध दिया जाता है। दोनों बाँहोंमेंसे एकको नोकीला और दूसरेको कोयलेकी पेंसिल रखने लायक खोखला बना दिया जाता है। फिर दोनों बाँहोंको मोटाईमें चीरकर उनके भीतर एक पतली खपीच डाल सिरोंको सूत लपेटकर बाँध दिया जाता है। यही परकाल है।

तिब्बती चित्रकार दो प्रकारकी पेंसिलें इस्तेमाल करते हैं, एक सेतखरीके पत्थरकी और दूसरी कोयलेकी। कोयलेकी पेंसिलके बनानेका यह ढंग है। एक हलकी लकड़ीको ताँबे या लोहेकी नलीमें डाल हल्की आँचमें डाल दिया जाता है, जल जाने पर नलीसे निकाल लिया जाता है। यही पेंसिल है। बिना नलीके भी हल्की लकड़ीको धीमी आँचमें जलानेसे पेंसिल तैयार हो जाती है। इस कामके लिए भारतमें सेंठेको काममें लाया जाता रहा होगा।

सोनेके कामको चमकानेके लिये एक घर्षण-तूलिका होती है, जिसके सिरे पर बिल्लौर या जैसा कोई चिकना स्वच्छ पत्थर जड़ा रहता है। पटके पीछे एक छोटा चिकना काष्ठ-फलक रख स्वर्ण-रेखाको उस कलमसे रगड़ा जाता है, जिससे सोना चमकने लगता है।

पानीमें धोकर एकही तूलिका कई रंगोंमें डाली जाती है।

(३) **रंग**[1]—अब भी तिब्बतके अच्छे-अच्छे चित्रकार चित्रपटोंके तैयार करनेमें अपने हाथसे बनाये रंगोंको इस्तेमाल करते हैं। इनमें खास तरहके पत्थरोंसे बननेवाले रंग यह हैं—

## क. *अ-मिश्रित रंग*

### (अ) पाषाणीय

१. **सेत-खरी** (द्कर्-रग्, **पाषाणीय**)—ल्हासाके उत्तरवाले रोङ प्रदेशके रिङ-वुम् स्थानसे यह सफेद रंगका डला आता है। डलेको पीसकर अधिक पानीमें घोल दूसरे बर्तनमें पसा देते हैं। नीचे बैठी कँकरीली तलछटको फेंक देते हैं। कुछ देर छोड़ देने पर नीचे गाढ़ी सफेद पंक जम जाती है फिर ऊपरके पानीको फेंक दिया जाता है। इसमें गर्म पानीमें घुली सफेद सरेस (१/८) खूब रगड़-रगड़ कर मिला दी जाती है। इस प्रकार रंग तैयार होजाता है।

२. **नीला** (थङ)—ल्हासासे कुछ दूर पर ञि-मो स्थानसे यह नीले रंगका बालू आता है। ठंडे पानीके साथ थोड़ा सरेस मिला दो घंटे तक अिसे खलमें पीसना होता है। फिर अधिक पानी मिला उसे एक बर्तनमें पसाया जाता है। फिर पंद्रह मिनट तक थिर करके दूसरे बर्तनमें पसाया जाता है। दूसरेमें भी पंद्रह मिनट रखकर तीसरेमें पसाया जाता है। तीसरेमें भी पंद्रह मिनट रखकर चौथेमें पसा दिया जाता है। चौथे बर्तनमें आध घंटा रख पानीको फेंक दिया जाता है। चारों बर्तनोंमें बैठी पंक चार प्रकारका नीला रंग देती है।

(१) **अतिनील** (थिङ-ऽब्रु)—इससे वज्रधर आदिके शरीरका रंग बनाया जाता है।

(२) **अल्प-नील** (थिङ-शुन्)—इससे आकाशका रंग बनाया जाता है।

(३) **अल्पतर-नील या श्याम** (सुङो-बुसुङ)—इससे पानीका रंग बनाया जाता है।

(४) **अल्पतम नील** (सुङो-सि)—इससे छाया, आकाशकी मलिनता आदि दिखलाई जाती है।

---

१ सभी रंगोंके कच्चे-पक्के नमूने मैंने पटना-म्युजियममें ला रक्खे हैं।

३. **हरित** (स्पङ)---यह भी उपर्युक्त भि-मो स्थानसे बालूके रूपमें आता है। बनानेका ढंग नील जैसा ही है; किंतु इसे चारकी जगह तीन बर्तनोंहीमें पसाते हैं, इससे तीन प्रकारके हरे रंग प्राप्त होते हैं---

(१) **अति-हरित** (स्पङ-म)---जिससे हरित तारा, पत्र, तृण आदिको रँगा जाता है।

(२) **अल्प-हरित** (स्पङ-शुन्)--जिससे पृथिवी आदिको दिखलाया जाता है।

(३) **अल्पतर-हरित** (स्पङ-र्ग्य)---जिससे कपड़ेके रंग, ध्वजा, मृणाल, पुष्प-दंड आदि बनाये जाते हैं।

४. **पाषाणी पीत** (ब-ल्ल्-सेर्पो)---यह सोनामक्खी जैसा पीला नर्म पत्थर पूर्वीय तिब्बतके खम् प्रदेशसे आता है। सूखाही कूटकर बालू जैसा बना, थोड़े सरेस और पानीके साथ खरलमें दो दिन तक पीसा जाता है। फिर अधिक पानीमें घोल पसा लेना होता है। पंकके नीचे बैठ जाने पर पानीको फेंक दिया जाता है।

५. **कच्चा ईंगुर** (छल्-ल्चोग्-ल)---यह पत्थर भी खम् प्रदेशसे आता है। पहले सूखा पीस मोटे बालू-सा बना, सरेस और पानीके साथ खरलमें खूब पीस देनेपर रंग तैयार हो जाता है। आज-कल इसकी जगह चीनमें रूईमें डालकर बना लाल रंग---यङ-टिन्---इस्तेमाल किया जाता है।

६. **सिंदूर** (लि-खि्र)---यह भारतसे तिब्बतमें आता है। सरेस और पानीके साथ खरल करके रंग तैयार किया जाता है। इससे बुद्ध और भिक्षुओंके काषाय वस्त्र बनाते हैं।

७. **लाल** (छल्)---यह पाषाणीय रंग भारतसे आता है, और सिंदूरकी भाँति ही तैयार किया जाता है, और उससे वही काम लिया जाता है।

### (आ) धातुज

८. **चाँदीका रंग** (द्ङुल्-ब्दुल्)---नेपाली लोग चाँदीकी इस भस्मको बनाते हैं। पानी और सरेसके साथ इसे घिसकर लिखनेके लिए तैयार किया जाता है। इसका उपयोग बहुतही कम होता है।

९. **सोने का रंग** (ग्सेर्-ब्दुल्)---इस भस्मको नेपाली लोग तैयार करते हैं। रंग, सरेस और पानीमें घोंटकर बनाया जाता है। इससे बुद्धका रंग तथा आभूषण आदि बनाये जाते हैं।

### (इ) मिट्टी

१०. **पीली मिट्टी** (ङ ङ-प-ग्सेर्-ग्दन्)—यह मुल्तानी मिट्टी जैसी पीली चिकनी मिट्टी ल्हासासे पूर्व येर्-वा स्थानसे आती है। इसे थोडे सरेसके साथ पानीमें दो घंटा उबालकर तैयार किया जाता है। सोना लगानेके पहिले भूमि इससे रंजितकी जाती है, जिससे सोनेका रंग बहुत खिलने लगता है।

### (ई) वानस्पत्य

११. **मसी** (स्नग्-छ)—ल्हासासे दक्खिन-पूर्ववाले कोङ-वो प्रदेशमें देवदारकी लकड़ीके धूएँसे कजली तैयार करते हैं। इसीको ठंडे पानी और सरेसमें रगड़कर स्याहीकी गोली तैयारकी जाती है। रेखाएँ और केश आदिके अंकित करनेमें इसका उपयोग होता है।

१२. **नील** (रम)—भारतसे नीलके पौधेसे बना यह रंग आता है। सरेसके साथ पानीका छीटा दे दे। १५, २० घंटा खरलमें रगड़ने पर रंग तैयार होता है। बादल, छाया और रेखाएँ इससे बनाई जाती हैं।

१३. **उत्पल-जल** (अुद-पल्-सेर्-पो)—ल्हासाके उत्तरवाले फेम्-बो प्रदेशके रे-डिङ, तथा दूसरे स्थानोंके सूर्यकी कड़ी धूप न लगनेवाली पहाड़ी भागोंमें एक प्रकारका फूल उत्पन्न होता है, जिसे तिब्बतवाले उत्पल कहते हैं। इसकी पत्तीमें शुन्का पत्ता १/२० हिस्सा मिला पानीमें १५ मिनट पकाया जाता है। इस हल्के पीले रंगके पानीसे पत्तोंका किनारा बनाने, तथा दूसरे रंगोंमें मिलानेका काम लिया जाता है।

१४. **शुन्** एक वृक्षका पत्ता है, जो भूटानकी ओरसे आता है। इसके पकाए पानीको दूसरे रंगोंमें मिलाया जाता है।

### (उ) प्राणिज

१५. **लाख** (ग्र्य-छोस्)—भारत या भूटानसे आती है। लकड़ी आदि हटाकर इसे साफ कर लिया जाता है। फिर उसमें बहुतही गर्म पानी डाला जाता है। फिर १/२० हिस्सा शुन्का पत्ता और थोड़ी फिट्किरी (छ-ल-द्कर-पो) को डाल दिया जाता है। फिर पानीको पसाकर उसे धीमी आँचमें पकाकर गाढ़ा करके गोली बना ली जाती है।

१६. **सरेस** (स्प्यिन्)—भैंस या किसी भी चमड़ेको बाल हटाकरखूब

साफ करके छोटा-छोटा काट दिया जाता है। दो दिन तक उबालने पर चमड़ा गलकर लेई-सा बन जाता है। इसे सुखाकर रख लिया जाता है, और सभी रंगोंमें इसको मिलाया जाता है। यह रंगको चमकीला और टिकाऊ बनाता है।

### (ऊ) अज्ञात

१७. **यङ-टिन्**—चीनमें लाल रंग बनता है, और रूईमें सुखाया बिकता है। पहले तिब्बतमें इसकी जगह छल्-ल् चोग्-ल (ईंगुर) का उपयोग होता था।

## *ख. मिश्रित रंग*

ऊपरके रंगोंके अतिरिक्त कुछ और भी रंग हैं, जिन्हें भोटदेशीय चित्रकार इस्तेमाल करते हैं, किंतु यह सब रंग उपर्युक्त रंगोंके मिश्रण से बनाये जाते हैं।

१. **पांडु-श्वेत** (लि-स्क्य)—सेतखरी ८/१४+पाषाणी पीत ३/१४+सिंदूर ३/१४ मिलाकर सरेसके साथ पानीका छींटा दे-दे घोटनेसे यह रंग बनता है। इससे मणि, किरण तथा चीवरके भीतरी भागको दिखाया जाता है।

२. **पीतिम रक्त** (चो-म)—सिंदूर १/२ + पाषाणी पीत ३/८ + सेतखरी १/८ को मिलाकर **पांडु-श्वेतकी** भाँति बनाया जाता है। इससे मैत्रेय, मंजुघोष आदिका शरीर रंजित किया जाता है।

३. **पांडु-रक्त** (स्गन्-ग्यं-छो-व)—सिंदूर ५/१५ + इंगुर (म्छल्) ४/१५ + सेतखरी ६/१५ मिलाकर पांडु-श्वेतकी भाँति बनाया जाता है। इससे अमिताभ, अमितायु, हयग्रीव आदिके वर्णको बनाया जाता है।

४. **सिंदूर-रक्त** (स्मर्-स्क्य-स्क्य-प)—सिंदूर १/३ + इंगुर (म्छल्) १/३+ सेतखरी १/३ मिलाकर पांडु-श्वेतकी भाँति बनाया जाता है, इससे आसन, कपड़े आदिके रंग बनाये जाते हैं।

५. **लाखी श्वेत** (न-रोस्)—सेतखरी ३/४+लाख १/४ मिलाकर उक्त क्रमसे बनाया जाता है। बुद्धके प्रभा-मंडल तथा घर आदिके रंगनेमें इसका उपयोग होता है।

६. **नीलहरित** (ग्यु-ख)—अति नील १/२ + अति हरित १/२ मिलाकर उक्त क्रमसे बनाया जाता है। पत्तों आदिके रँगनेमें काम आता है।

७. **मेघ-नील** (शुन्-रम्)—नील (१२) ३/४ + उत्पल जल १/४ मिलाकर उपर्युक्त क्रमसे बनाया जाता है। मेघ, मरकत आदिको अंकित किया जाता है।

८. **हरीतिम-श्वेत** (स्पङ-सि)—सेतखरी ३/४ + अतिहरित १/४ मिलाकर उक्त क्रमसे बनाया जाता है।

(४) **रंग-पात्र**—मिट्टीके पात्र रंगोंको रखनेके लिए सर्वोत्तम माने जाते हैं। नील और लाल रंगोंके लिए चीनी मिट्टीके पात्र भी इस्तेमाल किए जाते हैं। लाख और लाखी श्वेत जैसे रंग उनकी अवश्यकतावाले रंगोंके लिए शंखके टुकड़े काममें आते हैं। एक पात्रमें डुबाई तूलिकाको बिना पानीवाले पात्रमें प्रक्षालित किए दूसरे रंग-पात्रमें नहीं डाला जाता, क्योंकि इससे रंगके बिगड़ जानेका डर होता है।

### ४—चित्रण-क्रिया

चित्रण-क्रियामें सबसे कठिन काम रेखाओंका अंकन करना है। प्रधान चित्रकारका काम रेखाएँ अंकित करना है। रंगोंके भरनेका काम वह अपने सहायकके लिए छोड़ सकता है। चित्रण-क्रियामें निम्न क्रमका अनुसरण किया जाता है—

१—चित्रकी भूमि (पट-भित्ति आदि) को श्वेत प्लस्तर लगा तैयार करना।

२—कोयलेकी पेंसिल (=अंगार-तूलिका) से पटके कोनोंको रेखाओं-द्वारा मिलाना। फिर केंद्र पर वृत्त, तथा उसके चारों ओर तुल्य अर्द्धव्यासवाले चार वृत्तोंका खींचना। कटे बिंदुओंको सरल रेखाओंसे मिलाना आदि।

३—कोयलेसे मूर्ति अंकित करना।

४—रेखाओं पर स्याही चलाना।

५—अ-मिश्रित रंग लगाना।

६—मिश्रित रंग लगाना।

७—फूल, मेघ आदिको रंजित करना।

८—सोनेके रंगको पहलेसे पीली मिट्टी लगाए स्थानों पर लगाना।

९—नेत्र, केश, मूँछ आदिको सूक्ष्म तूलिकासे बनाना।

१०—छोटे चिकने काठकी तख्तीको नीचे रखकर सोनेकी रेखाओंको घर्षण-तूलिकासे रगड़कर चमकाना।

## ५—चित्रणकला-सम्बन्धी साहित्य

भोटमें मौजूद चित्रकला-संबंधी ग्रंथोंको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है। (१) एक वे जो भारतीय संस्कृत-ग्रंथोंके अनुवाद हैं, और (२) वे, जिन्हें भोटके विद्वानोंने स्वंय लिखा है । प्रथम श्रेणीके ग्रंथोंमें (क) कुछ तो ऐसे हैं, जिनका विषय दूसरा है, किंतु प्रसंग-वश उनमें चित्रण-कला की बात भी चली आई है, जैसे **मंजुश्रीमूलकल्प**। (ख) उनके अतिरिक्त **प्रतिमामान-लक्षण** सदृश भारतीय आचार्योंके कुछ ग्रंथ सिर्फ चित्रण-कला तथा मूर्ति-कलाके लिए ही बनाये गये हैं। भोटदेशीय विद्वानोंके बनाये ग्रंथोंमें उक्त दो श्रेणीके ग्रंथ पाये जाते हैं। कंजूरमें अनुवादित प्रायः सभी तंत्र-ग्रंथोंमें चित्रण-क्रियाके बारेमें कुछ न कुछ सामग्री मिलती है।

# १६. भारतीय मुद्रा

मुद्रा (सिक्के) हमारे इतिहासके बहुत ठोस साधन हैं। कितने ही राजा और राजवंश भूले जा चुके होते, यदि मुद्राएँ न होतीं। क्षत्रप वंशपर उस सिक्कों ने सबसे अधिक प्रकाश डाला यह सभीको मालूम है। मुद्राओंपर जो लिपि उत्कीर्ण मिलती है, वह स्वयं अपने कालकी साक्षी होती है। पर एक ऐसा भी समय था, कि जब मुद्राओंपर अक्षर नहीं तरह-तरहके लांछन (चिन्ह) अंकित होते थे। उनसे भी कालका पता लगता है। हमारे देशकी पुराने ध्वंसावशेषोंमें बरसातके अन्तमें कितनी ही मुद्राएँ लोगोंको मिल जाती हैं। ताँबेकी मुद्राओंका उतना मूल्य नहीं समझा जाता, वह सोनारों के पास चली जाती है। चाँदी और सोनेकी मुद्राएँ, चाँदी-सोनेके भाव बिक जाती हैं, और सोनार गलाकर जेवर बना डालते हैं। उनको क्या पता, कि जिन मुद्राओंको हम गला रहे हैं, उनमेंसे कितनी ही ऐसी हो सकती हैं, जो अपने साथ एक पुराने इतिहासके सन्देशको लिये हैं। हरेक शिक्षित-संस्कृत व्यक्तिकी पहिचानके लिये सींग नहीं होती। उसका प्रमाण यही है, कि वह अपनी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक निधियों घटनाओं के प्रति कितना स्नेह और सम्मान रखता है। एक राजा साहबके यहाँ गुप्तकालकी हजारों अशर्फियाँ निकलीं। वह आधुनिक ढंगके शिक्षित हैं। जब वह अशर्फियाँ आईं, तो उन्होंने अपने मुसाहिबोंमें बाँटना शुरू किया। किसीने उनको विकृत करके बटन बनाया और किसीने खरा सोना समझकर अंगूठी तैयार कराई। क्या यह फांसीपर चढ़ा देने लायक अपराध नहीं था। गया जिलेमें कुर्किहारमें बहुतसी प्राचीन मूर्तियाँ मिलीं, जिनमें दो काफी बडी चाँदीकी थीं। सरकारको कानूनन लेनेका अधिकार। पर, सरकारकी ओरसे किसीके आनेसे पहले ही जमींदार साहबने वह दोनों मूर्तियोंको गलाकर चाँदीके भाव बेच डालीं। न जाने वह गुप्तकालकी मूर्तियाँ थीं या किस कालकी। उनकी सिंहासन-पीठोंके अभिलेखोंमें न जाने क्या ज्ञातव्य बातें उत्कीर्ण थीं। वह जमींदार भी शिक्षित, लेकिन पुच्छ-विषाणहीन पशु थे, यह मानना पड़ेगा।

हरेक भारतीय शिक्षित-संस्कृत व्यक्तिका कर्तव्य है, कि हमारे इतिहासके अनमोल साधनोंको नष्ट होनेसे बचाये, मुद्राओं (सिक्कों) को प्राप्त कर विशेष तौरसे सुरक्षित रक्खे, किसी म्यूजियममें भेज दे। किसी भी पुराने ध्वंसावशेषवाले स्थानको देखकर वहाँके सोनारोंके पास पुरानी मुद्राओंके बारे में पूछ-ताछ करनी चाहिये। यदि बरसातके अन्तमें जाना हो, तो ध्वंसावशेषके ऊपर या पासमें बसी झोपड़ियोंमें जाँच-पड़ताल करनी चाहिये। बहुत संभव है, कुछ सिक्के हाथ आ जायें।

### १. मुद्राका आरम्भ

पुरापाषाण, मध्यपाषाण या नवपाषाण-युगके मानवके लिए मुद्राकी कोई जरूरत नहीं थी। इसका आरम्भ धातु-युगके आरम्भिक काल—ताम्र-युग—से होता है। मनुष्यको अपने धन—पशु या दूसरी सामग्रीको देकर अपेक्षित चीजें दूसरेसे लेनी पड़ती। इसके लिये अदला-बदलीके रूपमें वस्तु-विनिमय आरम्भ हुआ। सभी चीजें टके सेर कभी नहीं हो सकती थीं। जो चीज जितनी ही दुर्लभ थी, उतनाही उसका मूल्य अधिक था, जो चीज जितनी ही अधिक उपयोगी थी, उतनीही वह महार्घ थी जो चीज जितनी ही अधिक टिकाऊ थी, वह उतनी ही कीमती मानी जाती। अदला-बदलीमें मांस, अन्न, चमड़ा, वस्त्र, हथियार सभी चीजें थीं। नवपाषाण-युगमें खेती शुरू हो गई थी, इन सभी चीजोंका विनिमय होता था। ताम्र-युग आया, ताँबा दुर्लभ था। उसका मूल्य बहुत था। जिसके पास ताँबेकी तलवार थी, वह उससे शत्रुको मार सकता था। जिसके पास ताँबेके भाले, तीरके फल और दूसरे हथियार थे, वह अधिक शिकार कर सकता था। ताँबेके बर्तन मिट्टीसे अधिक टिकाऊ थे, एक बार बनाये जानेपर वह पचीसों वर्ष काम दे सकते थे। पाव भरके ताँबेके टुकड़ेके लिये लोग किसी समय एक अच्छी दूध देनेवाली गायको दे देते थे, चार आदमियोंके ढोने लायक गेहूँको खुशीसे प्रदान करते। ताँबेकी बहुत माँग थी। यह समझते लोगोंको देर नहीं लगी, कि हम पशु, अन्न, माँस या दूसरी चीजोंके खरीदनेके लिये चार-चार आदमीके बोझके बराबर सामग्री ले जानेकी जगह पर पाव-आध सेरका ताँबा ले जायें, तो सुविधा रहेगी। इस प्रकार मुद्राके धातुने विनिमयके माध्यमका काम दिया।

हरेक ताँबेके टुकड़ेको बार-बार तौलनेकी जगह यह बेहतर था, कि उसकी

तौल करके कोई प्रामाणिक व्यक्ति या संस्था उसपर कोई ऐसा चिन्ह अंकित कर दे। इस प्रकार पहलेपहल धातु-खण्डने कुछ-कुछ मुद्राका रूप लिया। ताँबेसे चाँदी अधिक दुर्लभ थी। उसके टुकड़ोंको भी प्रामाणिक किया गया था। सोना और भी दुर्लभ था, उसके भी खण्डोंको उसी तरह प्रामाणिक करके विनिमयका माध्यम बनाया गया। ये तीनों धातुएँ करीब-करीब एक ही समयमें मनुष्योंके उपभोग और उपयोगमें आने लगी थीं। ज्यादा महंगी धातुमें सस्ते धातुका मिश्रण किया जा सकता था। इसलिये तौल ही नहीं, बल्कि शुद्ध धातु-के लिये भी हर बार विशेषज्ञके पास जानेकी जगह प्रामाणिक व्यक्ति या संगठन-के लांछनसे बहुत आसानी हुई।

धातु-खण्डोंपर अपना लांछन लगा प्रामाणिक बनानेका काम पहले व्यक्तियों या व्यापारिक संस्थाओंकी तरफसे ही चाहे आरम्भ हुआ, पर फिर वह राज्यके अधीन हो गया। आखिर तौल या दरबमें खोटे इन मुद्रा-खंडोंके झगड़ोंका फैसला राज्यको ही करना पड़ता था। पर आजकी तरह मुद्रापर राज्यका एकाधिपत्य बहुत पीछे आरम्भ हुआ। भारतमें भी मुद्राके तौरपर इस्तेमाल होनेवाले धातुखण्ड, विशेषकर चाँदीके चौकोर टुकड़ोंका पता मिलता है।

## २. आकार

धातु-खण्डोंके बाद मुद्राओं (सिक्कों) का आरम्भ हुआ, जिनके भिन्न-भिन्न आकार और तौल निश्चित हो गये। हमारे यहाँके सबसे पुराने सिक्के चौकोर हैं, जिन्हें कार्षापण या पंचमार्क सिक्के कहते हैं। ताँबे या चाँदीकी पतली चिपटी सिल्ली बना उसको काट लिया जाता था। तौलनेपर अगर दरब ज्यादा होती, तो उसके किनारेपरसे काट कर कम कर दिया जाता। इस प्रकार चौकोरकी जगह कभी पंचकोर, छकोरकी मुद्राएँ बन जातीं। यही चौकोर (चारआरी, पंचमार्क) सिक्के हमारे देशमें अतिपुरातन कालसे अब तक चलते रहे जब तक कि भारतमें ग्रीक लोगोंका शासन या प्रभाव नहीं स्थापित हो गया। पंचमार्क चौकोर मुद्राके युगमें ऐसे बहुत कम ही अपवाद हैं, जबकि गोल सिक्के भी बनाये गये। वर्तमान शताब्दीके आरम्भ तक हमारे देशके बहुतसे भागोंमें बिना किसी लांछनके ताँबेके टुकड़े पैसेके तौरपर चलते थे, जिन्हें कहीं गोरखपुरी,

कहीं ढेबुआ और कहीं गदहिया पैसा कहते थे। इसी तरहके ताँबेके टुकड़े पुराने जमाने में पैसेके तौर पर इस्तेमाल किये जाते रहे, और धातु-खण्ड होनेके कारण गला दिये गये हों। आखिर वर्तमान शताब्दीके आरम्भमें सैकड़ों मन ढेबुआ चल रहे थे, वह क्या हुए? जरूर गलकर ताँबेकी चीजोंके रूपमें परिणत हो गये।

ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दीके मध्यसे हमारे यहाँ ग्रीक राजाओंके गोल सिक्कोंका रवाज मिनांदर आदि हुआ, जो पश्चिमी भारतपर शासन करते थे। इनके सिक्के गोल होते थे। कुषाणोंने (ईसवी-सन्‌के आरम्भ) भी गोल आकारके सिक्कोंको ही पसन्द किया, और आगे मुस्लिम-कालसे लेकर अंग्रेजोंके शासन तथा आज तक सिक्कोंके लिये हमारे यहाँ गोल आकारको ही स्वीकार किया गया।

### ३. द्रव्य

मुद्राके लिये ताँबाका प्रयोग सबसे पहले हुआ, फिर चाँदीका भी होने लगा और अन्तमें सोनेकी अशर्फियाँ भी ढलीं। कुषाण राजाओंसे पहले हमारे यहाँ सिर्फ ताँबे और चाँदीके सिक्के चलते थे। सोनेका कोई सिक्का नहीं मिला, यद्यपि संस्कृत साहित्यके कुछ उल्लेखोंसे इसका भ्रम जरूर हो जाता है। यदि सोनेका सिक्का (निष्क, हिरण्य) प्रचलित होता, तो उसका कोई नमूना भी हमारे पास तक पहुँचता। ईसवी-सन्‌के आरम्भमें कुषाण राजा वीमा कदफिसने पहले पहल हमारे देशोंमें सोनेका सिक्का चलाया। दुनियामें सबसे पुराना सोनेका सिक्का दिरिक था, जिसे बुद्धके समकालीन ईरानके बादशाह दायरबहु (दारा) ने चलाया था। सोने के सिक्केमें ही उसने पहल नहीं की थी, बल्कि राजाके चेहरेके साथ मुद्राका आरम्भ भी उसीने किया। इसका अनुकरण ग्रीक राजाओंने किया, जहाँसे हिन्दी-ग्रीकों ने उसे प्रयुक्त किया। फिर तो मुस्लिम-कालके शुरू होनेसे पहले तक हमारे प्रायः सारे सिक्के रूप-लांछित हुआ करते थे। इस्लाममें मूर्तिकी पूजा और निर्माण पाप समझा जाता था, इसलिये जहाँगीरको छोड़कर किसी मुसलमानने चेहरेवाली मुद्राएँ नहीं चलाईं। अंग्रेजी शासनके साथ आदमीके चेहरेकी मुद्राएँ शुरू हुईं, और हमारे गणराज्यके सिक्कोंसे वह फिर लुप्त हो गईं।

मुद्राके लिये तांबे, चाँदी और सोनेके अतिरिक्त कभी-कभी सीसे और राँगेको भी इस्तेमाल किया गया था विशेषकर हमारे यहाँ शतावाहनोंके शासनकालमें। महार्घधातुओंमें सस्ती धातुओंको मिलाकर खोटे सिक्कोंके प्रचलनका हमेशा खतरा रहा। आज भी ऐसे लाखों खोटे सिक्के चल रहे हैं। शुद्ध धातु रखनेके लिए राज्यकी ओरसे प्रयत्न किया जाता रहा। बाज-वक्त राज्यने स्वयं इस तरहका मिश्रण करके सिक्के चलाये। सोनेके सिक्कोंके बारेमें माना जाता है, कि जब तक मुद्रामें शुद्ध सोना इस्तेमाल होता हो, तब तक उस राजा या राजवंशकी लक्ष्मी ओजपर थी, और जब उसमें मिलावट होने लगी, तो समझ जाना चाहिये, कि लक्ष्मी रूठ गई है। कुषाणोंसे लेकर मुस्लिम-कालके अन्त तक सोनेके सिक्के हमारे यहाँ ढलते रहे। अंग्रेजोंने उन्हें बन्द कर, उसकी जगह अपने यहाँकी गिन्नी (पौंड) को मान्यता दी। तो भी उसका अधिक इस्तेमाल नहीं हो सका, और देशके हिसाब-किताबको रुपयोंमें ही रक्खा गया। वर्तमान शताब्दीमें चाँदीके सिक्कोंमें सरकार मिलावट करने लगी, नोटोंका प्रचारभी अधिक कर दिया। प्रथम महायुद्धमें चाँदीके रूपयेकी जगह कागजके रुपये चलने लगे और अन्तमें चाँदीके रूपये ढलनेही बन्द हो गये। अठन्नियाँ, चवन्नियाँ-दुअन्नियाँ भी गिलटकी बनने लगीं। आज मुद्रामें दरबका कोई मूल्य नहीं है। बल्कि छोटे सिक्के धातुके होनेपर ज्यादा स्थायी रहते हैं, इसीलिए वह उसके बनाये जा रहे हैं।

जैसे आज रुपयेके अंशवाले अधेली, पावली (सूका) और दुअन्नी, इकन्नी देखी जाती है: उसी तरह पुराने युगमें भी छोटे सिक्के होते थे। ग्रीक चाँदीके सिक्के द्राख्म कहे जाते थे, जिन्हें संस्कृतमें द्रम्य और फारसीमें दिरहम या दाम कहा जाने लगा। ये सिक्के अधेली, एक द्राम्य, दो द्राम्य और चार द्राम्यके भी होते थे। कार्षापण भी इसी तरह अर्ध-कार्षापण, पाद कार्षापण और माषक बनाये जाते थे।

## ४. लांछन

मुद्राको खास चिन्होंसे लांछित करना आदिम काल हीसे शुरू हुआ; बल्कि मुद्रण और लांछनका अर्थ ही है चिन्ह अंकित करना। पहले केवल चिन्ह ही अंकित किये जाते थे, अक्षर नहीं, यह पुरानी परम्पराको ढोना था। जिस समय अक्षरका आविष्कार-प्रचार नहीं हुआ था, उस वक्त चिन्होंको अंकित किया जाता

था। यही परिपाटी आगे भी चल पड़ी। हमारे पंचमार्क, चौकोर सिक्के चिन्ह-अंकित हैं, उनपर अक्षर नहीं होते। उनके चिन्ह प्रायः वही हैं, जिन्हें कि आजसे साढ़े चार हजार वर्ष पहले मोहनजोदड़ोके लोग अपनी वस्तुओंपर अंकित करते थे। इन चिन्होंमें कितने ही चक्र हैं, कितने ही गोल हैं,कितने ही वृक्षकी आकृति बनाते हैं। कुछ मछली या दूसरे आकार-प्रकार के हैं। भिन्न-भिन्न स्थानोंसे मिले पंचमार्ग सिक्कोंके चिन्होंकी कुछ विशेषताएँ उनके विशेष स्थानके माननेकी कोशिश की गई।

ग्रीक सिक्कों द्वारा चेहरे और अक्षरोंसे अंकित सिक्कोंका प्रचार शुरू हुआ। ग्रीक लोग अपने सिक्कोंपर ग्रीक अक्षरमें राजाका नाम उत्कीर्ण करते थे। जब उनमेंसे कुछ भारतके शासक हुए, तो उन्होंने ग्रीक लिपिके साथ भारतीय लिपिको भी स्थान दिया। अशोकके अभिलेखोंसे ही मालूम है, कि ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दीमें हमारे यहाँ दो लिपियाँ प्रचलित थीं। देशके सभी भागोंमें ब्राह्मी चलती थी, पर पश्चिमी बंगाल, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा काबुलमें खरोष्टी लिपि। ग्रीक राजाओंने पहले अपनी लिपिके साथ खरोष्टीको स्थान दिया, फिर ब्राह्मीको भी। शक-कुषाण राजाओंने भी सिक्कोंकी तरह लिपिमें उनका अनुकरण किया। मथुरा-उज्जैन के क्षत्रप भी अपने सिक्कोंमें ब्राह्मीके साथ ग्रीक अक्षरोंको कुछ दिनों तक इस्तेमाल करते रहे। धीरे-धीरे ग्रीक और खरोष्टी लिपियाँ हट गईं, और केवल ब्राह्मी रह गई। खरोष्टी और ब्राह्मीमें सर्वप्रचलित तत्कालीन भाषाका प्रयोग गुप्तकालसे पहले तक चला आया। गुप्तकालमें लिपि तत्कालीन ब्राह्मी रही, पर भाषा संस्कृत हो गई।

संक्षेपमें भारतीय मुद्राओंके लांछनके बारेमें यही कहा जा सकता है, कि निर-क्षर चिन्ह लांछित मुद्राएँ पंचमार्क पहले बनीं उसके बाद चेहरे और अक्षरोंका प्रयोग किया जाने लगा। मुस्लिम कालके पहले तक यही चलता रहा। मुस्लिम कालमें केवल अक्षरोंका प्रयोग हुआ। अकबरसे पहले टेढ़े-मेढ़े अरबी अक्षर प्रयुक्त होते थे, जिनमें मुसलमानी कलमा और बादशाहका नाम रहता था। शेरशाहने राजनीतिमें धार्मिक साम्प्रदायिकता और भेदभावको हटा सभी भारतीयों को एक करना चाहा। इसलिये उसने अपने सिक्केपर नागरी अक्षरोंको भी स्थान दिया। यह काम अकबर भी नहीं कर सका। यह उल्लेखनीय बात है, कि

महमूद गजनवीने अपने राज्य पंजाबमें चलानेके लियेजो सिक्के बनवाये उनपर संस्कृत भाषा और भारतीय लिपिका भी प्रयोग किया।

सिक्कोंपर उत्कीर्ण लिपियों से उनके राजा और कालका पता लगता है॥

## ५. तोल

### क. चाँदीका सिक्का

मुद्राओंकी विशेष तौल होती है। अतिपुरातन कालेके चाँदीके सिक्के १६६ से १७५ ग्रेनके पाये गये हैं। १५ ग्रेनका १ माशा, हमारा रुपया १८० ग्रेन या १२ माशेका, अठन्नी ९० ग्रेन या ६ माशेकी, चवन्नी ४५ ग्रेन या ३ माशेकी है। तोलेका १६वाँ हिस्सा या इकन्नी पौने ४ ग्राम या पौन मासेकी है। तक्षशिलाका चाँदीका पंचमार्ग सिक्का ११ ३/४ मासेका था, यानी हमारे आजके रुपये या तोलेसे थोड़ाही कम। मौर्यकालके चाँदीके कार्षापण (पंचमार्क) सिक्के ५४ से ५६ ग्रेन तक मिले हैं, अर्थात् उनके भीतरकी चाँदी ३ ३/५ से ३ ११/१५ मासेके बराबर होती थी।

हिन्दी-ग्रीक राजाओंके सिक्के ६७ ग्रामके (साढ़े ४ मासेसे जरा ही कम अथवा ६ आना चाँदी भर) होते थे। अर्ध-द्रम्यमें उससे आधा, दो द्रम्यमें १२ आने और ४ द्रम्यमें डेढ़ तोलाके करीब चाँदी होती थी।

कुषाणोंका और क्षत्रपोंके चाँदीके सिक्के (द्रम्य) में, ६४ ग्रामके अर्थात् ६ आना चाँदीसे कुछ कम चाँदी होती थी। उनका अर्ध-द्रम्य ज्यादा चलता था, जिसमें ३२ ग्राम (३ आनेसे कुछ कम) चाँदी होती थी।

गुप्तोंके चाँदीके सिक्के भी कुषाणों और क्षत्रपोंकेही वजनके होते थे, जिन्हें दीनार, अर्ध-दीनार कहते थे।

प्रतिहारोंके समकालीन चाँदीके सिक्के पहलेसे थोड़ा कम अर्थात् ६० ग्रामके होते थे; ४ मासा ५ आना भर चाँदीसे कुछ अधिक।

मुस्लिम-कालके आरम्भमें चाँदीका सिक्का (दिरहम) ५६ ग्रेनका था अर्थात् ३ ११/१५ मासा अथवा ५ आना चाँदीसे कुछ कम। गुलाम वंशके ही अल्तमसने १७५ ग्रामका चाँदीका सिक्का बनाया था, जो प्राचीन कालके तक्षशिलाके सिक्केके बराबर था,—हमारे रुपये या तोलेसे आधी इकन्नी भर कम या ११ ३/४ मासा। हमारे आजके रुपयेका विधाता वस्तुतः शेरशाह था, जिसका रुपया १७८ १/४ ग्रेनका था, यानी करीब-करीब आजके रुपयेहीके बराबर। अकबरने

रुपयेके वजनको बर्करार रक्खा। सारे मुगलकालमें होते अंग्रेजोंके पास भी वही रुपया आया। चाँदीके सिक्कोंके वजनका यह इतिहास है।

### ख. ताँबेका सिक्का

ताँबेका सिक्का चाँदीसे ज्यादा प्रचलित था, इसे कहनेकी अवश्यकता नहीं। इसके वजन भिन्न-भिन्न कालमें एक ही नहीं रहे। मौर्य कालमें ताँबेके कार्षापण १४४ और १४६ ग्रेन (पौने १० मासे अथवा १२ आना वजनसे कुछ अधिक) मिले हैं। उस वक्त ५७ ग्रेनका भी कार्षापण था, जो पाँच आनेके वजनके बराबर था। बुद्धकालमें २० मासेका कार्षापण होनेका उल्लेख मिलता है, जिसके अर्ध-कार्षापण और पाद कार्षापण भी होते थे, जो क्रमशः १ २/३ तोला, ५/६ तोला और ५/१२ तोला थे। हिन्दी-ग्रीक (ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी) के ताँबेके गोल सिक्के १४० या १४४ ग्रेनके होते थे, जो मौर्य डबल कार्षापणके बराबर थे। एक ग्रीक राजाने चौकार कार्षापण भी चलाया था, जिसका वजन १४० ग्रेन था। यह १४० और १४४ वाले सिक्के कुषाण, क्षत्रप, गुप्त, प्रतिहार, मुस्लिम-कालमें चलते आज तक जारी हैं।

### ग. सोनेके सिक्के

यह बतला चुके हैं, कि कुषाण राजा वीम कदफिससे पहले हमारे यहाँ सोनेके सिक्के नहीं चलते थे। कुषाण मुहरें १२० से १२४ ग्रेनकी होती थीं, अर्थात् ८ मासेसे सवा ८ मासे तक। गुप्त राजाओंकी स्वर्ण मुद्राएँ भी जिन्हें (सुवर्ण दीनार) कहा जाता था, १२४ ग्रेन (सवा ८ मासे) की ही अधिकतर होती थी, लेकिन कुछ १४४ (९ ३/५ मासा), १४६ (९ ११/१५) और ११९ ग्रेन या (८ मासेसे कुछ कम) भी मिली हैं। चेदी गांगेयदेवने ६८ ग्रेनके सोनेके सिक्के चलाये, जो प्रायः साढ़े ४ मासेके थे। मुस्लिम कालमें ताँबे और चाँदीके सिक्कोंकी ही बहु-तायत थी। आरम्भिक कालमें चाँदीके सिक्कोंको दिरहम और ताँबेके सिक्कोंको जितल कहते थे। अकबरने सोनेके सिक्कोंका प्रचार किया। अकबरी मुहर १७० ग्रेनकी (११ १/३ मासेकी) होती थी।

## ६. सिक्कोंकी पहचान

पुरानी मुद्राओंको पहचाननेके लिये पहले उनकी आकृतिको देखना चाहिये। यदि चौकोर या कोनेपर छटे चौकोर हैं, तो वह ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दीसे पहलेके हैं। यदि उनपरका लांछन दो धनुहियोंके ऊपर तीसरी धनुही तानकर है, तो वह

**मौर्य-कालके** नहीं तो और पुराने। चौकोर सिक्कोंके बाद गोल सिक्के आये। इनका काल ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दीसे आज तक है, अपवाद या तो **हिन्दी-ग्रीक** राजा **हेलियक्रेय** (ई० पू० १५९-३६), अपलदत (ई० पू० प्रथम शताब्दी) अथवा शक-राजा **मोग** (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के कुछ सिक्के हैं। पिछले कालमें **अकबर** और **जहाँगीरके** भी कुछ चौकोर सिक्के निकले थे। उसके बाद वर्तमान **कालीन** चौकोर सिक्के हैं।

आकृतिके बाद उसपर उत्कीर्ण लांछनोंसे सिक्कोंका पता लगता है। यदि चेहरा है, तो समझ जाना चाहिये, कि वह **मुस्लिम-कालके** पहले के हैं। मुस्लिम-कालमें केवल जहाँगीरने कुछ सिक्के चेहरेवाले चलाये। सारे हिन्दू कालमें चेहरे-वाले सिक्कोंपर अक्षर उत्कीर्ण होते रहे। ये अक्षर भिन्न-भिन्न कालके देखकर पहचाने जा सकते हैं। मुस्लिमकालमें केवल अक्षर उत्कीर्ण सिक्के होते थे जिनमें टेढ़े-मेढ़े अरबी अक्षर अकबरके काल तक चले आये। **अकबरके** भी कुछ सिक्के इन टेढ़े-मेढ़े अक्षरोंमें और कुछमें **नस्तालीक** अक्षरमें हैं। इसके बादसे केवल नस्तालीक अक्षरोंका प्रयोग होने लगा। नस्तालीक अक्षर होनेका मतलबही है, कि वह १६वीं सदीके बादके हैं, और अरबी अक्षरोंका मतलब है अक़बरसे पहलेके।

### ७. मुद्राओंकी तालिका (तोल, ग्रेन १ माशा)

| राजवंश (काल) | लिपि–लांछन | सोना | चाँदी, | ताँबा |
|---|---|---|---|---|
| १. **प्राग्मौर्य** (ई०पू०४सदीसे पहले) | ० चिह्न | ० | १६६,१७५ | |
| २. **मौर्य** (ई०पू०४–३ सदी)९० | ० ,, | ० | ५४,५६ | ५७,१४४,१४६ |
| ३. **हिन्दीग्रीक** (ई०पू० २ सदी) | अक्षर+रूप | ० | ३३½ ६७,१३४, २६८ | १४०,१४४ |
| ४. **कुषाण** (१-२सदीई०) | ब्राह्मी,ग्रीक,रूप | १२०, १२४ | ३२,६४ | |
| ५. **क्षत्रप** (३–४ सदी ,,) | ,, ,, | ,, ,, | ,, ,, | ,, |
| ६. **गुप्त** (४-५ सदी ,,) | ब्राह्मी+रूप | १२४,११९, १४६ | ३२ | |
| ७. **प्रतिहार** (८–१०सदी ,,) | | | ६० | |
| ८. **गाँगेयदेव** | नागरी, रूप | ६२ | ५०,६०,२५ | |
| ९. **मुस्लिम** (१३-१५ सदी ई०) | अरबी | ० | ५६ | ५६ |
| १०. **शेरशाह** (१५४०-४५ ई०) | ,, | ० | १७८¼ | ३३० |
| ११. **अकबर** (१५५६–१६५२ई०) | अरबी, नस्तालीक | १७० | ,, | |

## २०. पुरा-लिपि

काशी—ता० २५ जुलाई १९३७

प्रिय श्री **राहुल** जी,

आज डाक बुक-पोस्ट से १ प्रति प्राचीन अक्षरों का फोटो आपकी सेवा में भेजा है। पहुँच लिखियेगा। भेजनेमें देर हुई क्षमा कीजिएगा। फोटोग्राफर ने आज ही फोटो दिये। फोटो तो बहुत साफ आये हैं, पर हेडिंग (Heading Columns) के अक्षर छोटे होने के कारण बिना मैग्नीफाइंग ग्लास की सहायता के पढ़े नहीं जाते। यह हेडिंग बहुत आवश्यक है, इस लिये मैं, ऊपर १९ खानों के लेख जो हेडिंग में लिखे हैं, अलग लिख कर भेजता हूँ। फोटो सामने रखकर हर एक खाने का हेडिंग पढ़ते हुए यदि अक्षरों को देखा जायगा, तो हर शताब्दी (वैक्रम) की सब बातें व अक्षर-भेद समझ में आजावेंगे। इस चार्ट के तैयार करने में मैंने श्री **गौरीशंकर** जी की **"भारत की प्राचीन लिपि"** पुस्तक, **Buhler's** Indische Palaeographie और Epigraphia Indica से सहायता ली है। विशेषता यह है, कि हर वैक्रम शताब्दी के अक्षर छाँट कर लिखे हैं। नं० ७ में दूसरी शताब्दी के अक्षर अपने संग्रह किये हुए क्षत्रपों के चाँदीके सिक्कों से बड़े परिश्रम के साथ लिखे हैं। उसी तरह नं० ९ चौथी शताब्दी के अक्षर गुप्तवंशी महाराजाओं के सोने के सिक्कों व लेखों से एकत्र करके लिखे हैं।

आप देखेंगे, दीर्घ 'ई' का पता ६ठी शताब्दी तक नहीं है। 'ऋ' और 'ऌ' का पता ९०० वर्ष तक नहीं है। कारण केवल प्राकृत-भाषा थी, जिसमें इन अक्षरों का शताब्दियों तक प्रयोग न था। उसी तरह 'ङ' और 'क्ष' भी बर्ते नहीं जाते थे।

इस चार्ट की सहायता से उत्तरी भारत के शिला-लेख, ताम्र-पत्र, सिक्के केवल पढ़े ही नहीं जा सकते, बल्कि उनके समय का भी लगभग पता लग सकता है। रूपान्तर भी जो क्रमशः हुए हैं, वह भी विदित होते हैं।

इस चार्ट से एक बात यह भी विदित होती है, कि **महर्षि पाणिनि** के समय में

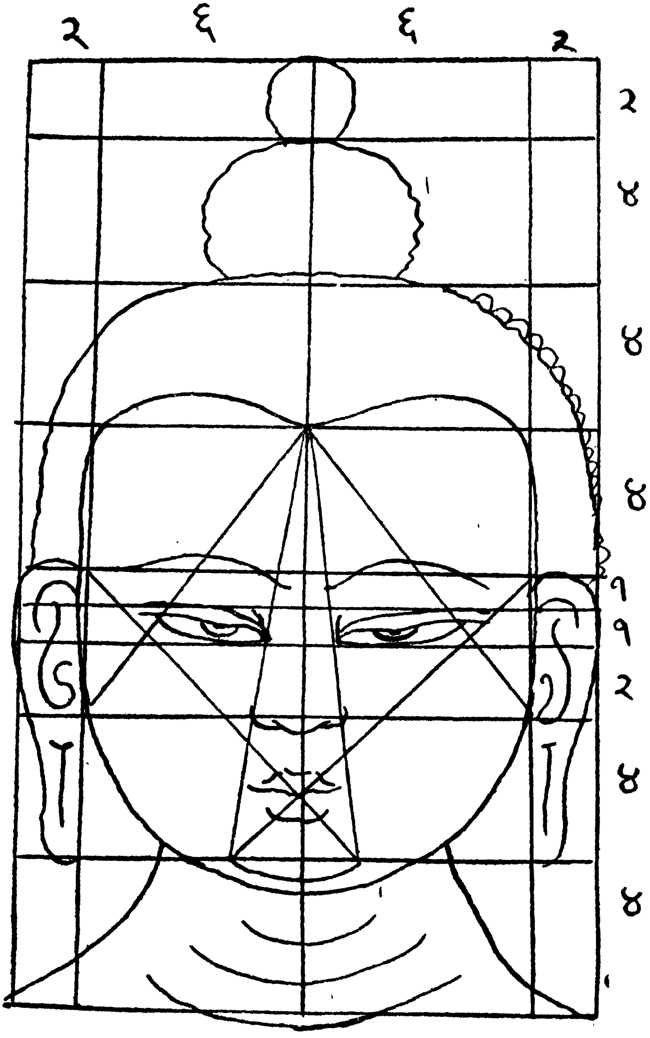
'अनुस्वार' व 'विसर्ग' के चिह्न जो अशुद्ध लिखे जाते थे, जिसका उन्होंने उल्लेख किया है, अर्थात् केवल (शून्य) ꣳ० से काम लिया जाता था। वह अशुद्ध था और यही प्रणाली दस शताब्दी तक चलती रही। सातवीं शताब्दी में फिर शुद्ध रीति अर्थात् ꣳ० छोटे वृत्त से जैसा वह लिखे जाते हैं, लोगों ने संशोधन करके लिखना शुरू किया। देखिये कालम नं० १२ के मात्रा के आखिरी अक्षर। यह बात एक बड़े विद्वान् पंडित जी ने चार्ट बन जाने पर मुझसे कही और यह भी कहा कि आपका चार्ट अवश्य शुद्ध है।....

दुर्गाप्रसाद

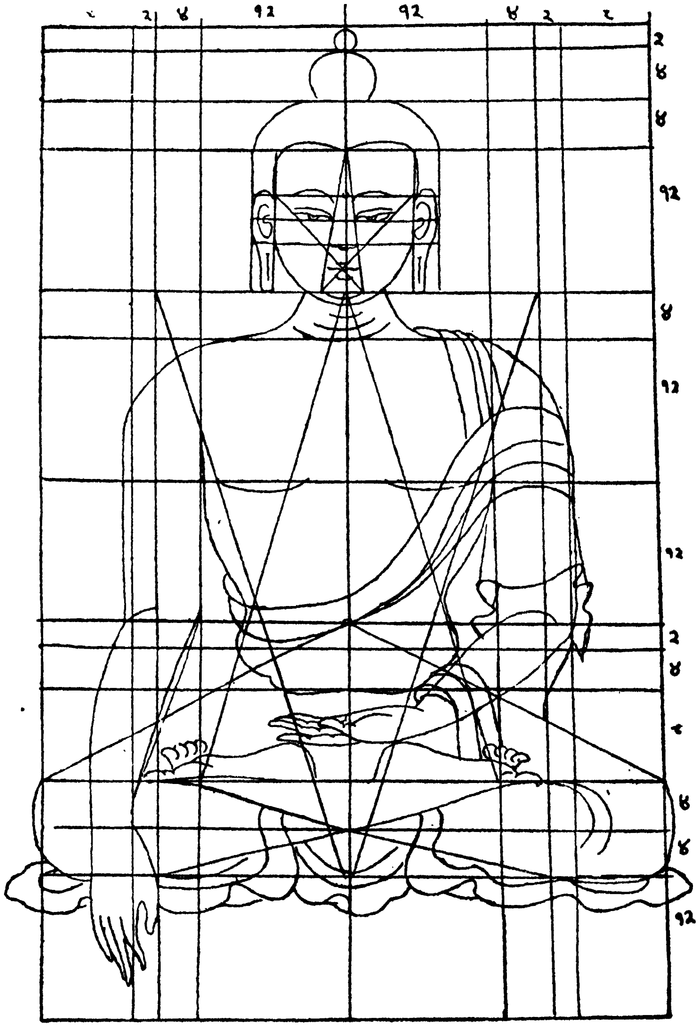
# परिशिष्ट (१)

१. देवनागरी वर्णमाला वर्तमान काल
२. ४०० ई० पूर्व के अक्षर—**सोहगौरा** पट्ट से
३. ३०० ई० पूर्व महाराज **अशोक** के समयके अक्षर—**दिल्ली** व **कालसी** के शिला-लेखों से
४. २०० ई० पूर्व के अक्षर—**हाथीगुम्फा** से
५. ई० पूर्व १०० के अक्षर—**मथुरा** में **सोडास** के लेखों से
६. ई० पहली शताब्दी के अक्षर—**कुषाण** राजाओं के लेखों से
७. ई० दूसरी शताब्दी के अक्षर—पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों से
८. ई० तीसरी शताब्दी के अक्षर—**पल्लववंशी शिवस्कंद** के लेखों से
९. ई० चौथी शताब्दी के अक्षर—**गुप्तवंशी** राजाओं के सिक्कों से
१०. ई० पाँचवीं शताब्दी के अक्षर—**बिलसड़** के लेखों से
११. ई० ६०० के अक्षर—**महानाम** के लेखों से
१२. ई० आठवीं शताब्दी के अक्षर—**अप्सद** के लेखों से
१३. ई० नवीं शताब्दी के अक्षर—**दिघवा-दुबौली** के लेख से
१४. ई० दसवीं शताब्दी के अक्षर—**पिहुवा** प्रशास्ति से
१५. ई० ग्यारहवीं शताब्दी के अक्षर—**घोसवर** के लेख से
१६. ई० बारहवीं शताब्दी के अक्षर—**उदयपुर** प्रशस्ति और हस्तलिखित पुस्तकों से
१७. ई० १३वीं शताब्दी के अक्षर—**भीमदेव** के लेख से
१८. ई० १७वीं शताब्दी के अक्षर—हस्तलिखित पुस्तक से
१९. ई० २०वीं शताब्दी के छापे के तिर्छे अक्षर

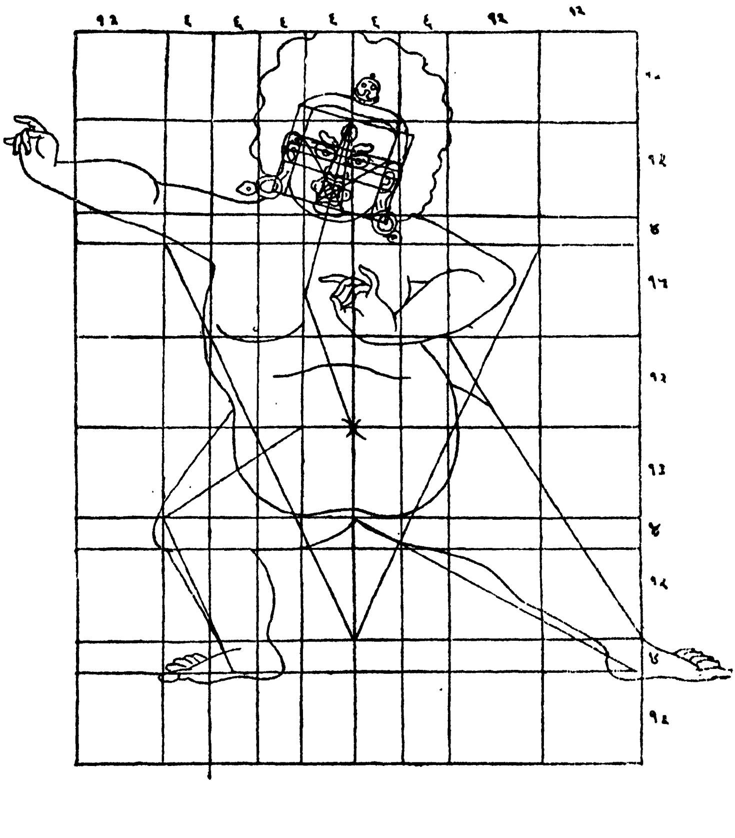
रेखांकन १



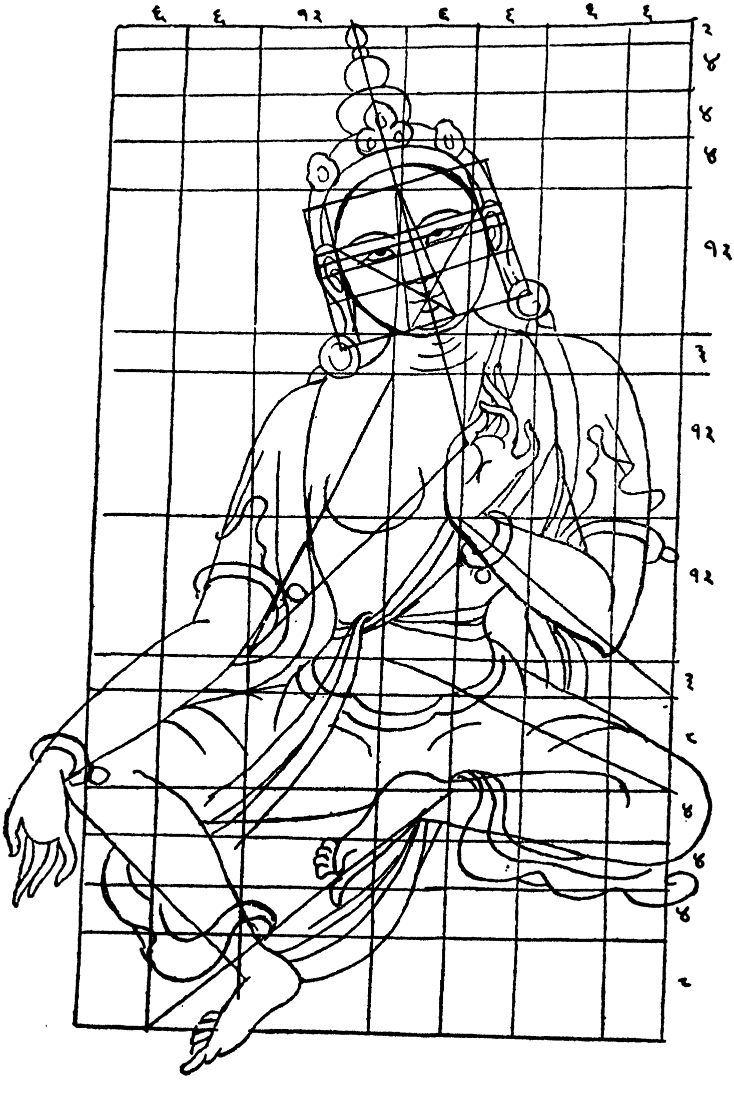
## रेखांकन २



## रेखांकन ३

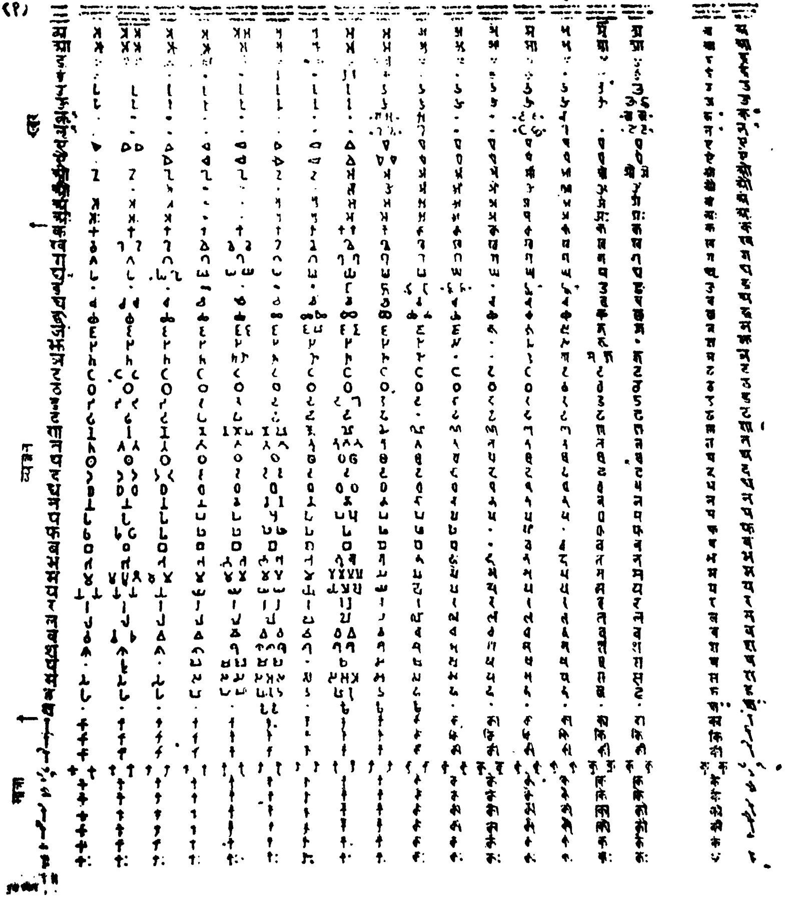


## रेखांकन ४



भारत के प्राचीन अक्षरों अर्थात् वर्णमाला के रूपान्तर- वैक्रम सम्वत् पूर्व की चौथी शताब्दी से लेकर २० वीं शताब्दी के अन्त तक- जिससे भारत की समस्त लिपियों का समय-समय पर विकास हुवा है

(१)



# परिशिष्ट ( २ )

# नाम-अनुक्रमणिका

# शब्द-अनुक्रमणिका (३)